

दो शब्द—

परम-करुणामय कलियुग-पावनावतार श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेव की असीम अनुकम्पा से, उनके परम दयितस्वरूप, मनोभीष्ट-संस्थापक, भक्ति-रस-प्रस्थानाचार्य श्रीरूपगोस्वामि-प्रभुपाद की अनुपम रचना— “श्रीविदग्ध-माधव नाटक” सुधी पाठकवृन्द के हस्तकमलो में समर्पण करते हुए मुझे अति हर्ष है। त्रैमासिक “श्रीहरिनाम” के साथ साथ वैसे तो छोटे-मोटे अनेक प्रकाशन श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल की ओर से बराबर प्रकाशित होते ही चले आ रहे हैं, किन्तु श्रीकृष्णदास कविराजकृत श्रीचैतन्यचरितामृत तथा श्रीजीवगोस्वामिविरचित श्रीश्रीगोपालचम्पू जैसे विशाल ग्रन्थ-रत्नों के बाद मण्डल की ओर से यह एक तीसरी बहुमूल्य भेंट है।

यह वह अनवद्य ग्रन्थ-रत्न है जिसके विषय में स्वयं श्रीमम्महाप्रभु ने समस्त भक्तों के बीच स्पष्ट शब्दों में कहा था—

मधुर प्रसन्न इंहार काव्य सालङ्कार ।

ऐछे कवित्व बिनु नहे रसेर प्रचार ॥

श्रीचैतन्यचरितामृत ३-१-१४३ ॥

—रूपगोस्वामि की यह रचना मधुर कवित्व से पूर्ण है, अलङ्कार-युक्त है एवं चित्त की प्रसन्नता विधान करने वाली है। ऐसे कवित्व के बिना रस का प्रचार नहीं हो सकता है।”

अर्थात् यह रचना अतिरसमय है। इसके अध्ययन मनन, से चिन्मय-रस का आस्वादन प्राप्त हो सकता है। सर्वरस-मुकुटमणि मधुररस दो प्रकार का है। स्वकीया-भावमय मधुररस तथा परिकीया-भावमय मधुररस। परिकीय-भावमय मधुररस में ही सर्वाधिक रस का उल्लास है। उसी रस का अशेष-विशेष आस्वादन करने के लिये ही रसिक-चूडामणि भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण श्रीवृन्दावन प्रकट-लोला को प्रकाशित करते हैं। इस

श्रीवृन्दावन प्रकट-लीला में चौसठकलान्वित, अतुलकेलि सौन्दर्य-माधुर्य-मूर्ति विदग्ध श्रीगोकुल-युवराज महाभावस्वरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दनी के विच्छेदमय-उत्ताल तरङ्गराशि युक्त विलास महासागर में कैसे डुबकियां लेते हैं। इस समस्त का अपूर्व आस्वादन रसज्ञ पाठकवृन्द इस रचना में करेंगे।

नाटकीय-पासो का परिचय एवं सम्पूर्ण ग्रन्थान्तर्गत वर्णित सात अङ्कों की संक्षिप्त विवरणसूची तथा स्वकीया-भाव क्या है ? परकीया-भाव क्या है ? परकीया भाव का क्या वैशिष्ट्य है, ? व्रज-प्रकटलीला का क्या विषय है ? श्रीकृष्ण चैतन्यदेव के मत में क्या क्या समधिक विशेषताएं हैं ? इन सब का अवतरणिका में निस्तृत वर्णन कर परमाभिवन्दनीय श्रीहरिदास जी महाराज (न्याय वैशेषिक शास्त्री, प्राचीन व नव्य न्यायाचार्य काव्य-व्याकरण सांख्य न्यायाचार्य, काव्य-व्याकरण सांख्य मीमांसा वेदान्त तर्क-तर्क तर्क वैष्णवदर्शन तोर्य) ने जहां रसिक पाठकों को ग्रन्थवर्णित गूढ़ विषयों को समझनेमें महान सुयोग प्रदान किया है, वहां मण्डल तथा सम्पादक को भी चिराभारी किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दो प्रकार के संस्करणों में प्रकाशित किया गया है। एक तो संस्कृत मूल के साथ और दूसरा केवल हिन्दी अनुवाद। जो पाठक संस्कृत से अनभिज्ञ हैं, उन्हें केवल हिन्दी-संस्करण ही अनुकूल रहेगा। हिन्दी संस्करण में भी मूल ग्रन्थ की पद्य-गद्य श्लोक क्रमसंख्या के अनुसार संख्या दी गयी है। संस्कृत-संस्करण में क्रम संख्या के साथ-साथ श्लोकों की संख्या पृथक् रूप में दी गयी है एवं श्लोकों की वर्णानुक्रमणिकानुसार श्लोक सूची भी प्रकाशित की गई है।

जीव-स्वभाववश प्रकाशन में त्रुटि-विष्युत्तिसमूह का रहना, विशेषतः मुझ जैसे शास्त्र-अनभिज्ञ, साधन रहित जीव के पक्ष में स्वाभाविक है, अतः बदर पाठकवृन्द उसे सुधार लेने का अनुग्रह करेंगे।

वैष्णवदासानुदास
न्यामलाल हकीम

अवतरणिका



कल्याणमय भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य देव की अनुकम्पा से श्री विदग्ध-माधव नामक नाटक का मनोरम सस्करण प्रकाशित हुआ। इस अनुपम ग्रन्थ के रचयिता भक्तिरस-प्रयानाचार्य सुप्रसिद्ध नामा श्रीरूप गोस्वामी है। आप श्री चैतन्यदेव के केवल परिकर ही नहीं थे किन्तु श्रीचैतन्य देव के अर्माष्ट सस्थापक तो थे ही, साथ ही श्रीचैतन्य देव के प्रिय स्वरूप, दयित-स्वरूप, प्रेमस्वरूप, सहजातिरूप, निजानुरूप, अभिन्नरूप, तथा स्वविलास रूप भी थे। श्रीचैतन्यदेव से उपदेश प्राप्त कर कालवश जुस हुई श्रीवृन्दावन को रसकेलि वाता का पुनः प्रकाशन सबप्रथम आपने ही किया है। आपका चरित्र श्रीचैतन्य चन्द्रोदय नाटक, श्रीचैतन्यवरितामृत आदि ग्रन्थों में सुविस्तृत रूप से वर्णित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना १५८० सम्वत् में गोकुल में हुई एवं नाटक का नामकरण 'विदग्धमाधव' हुआ।

विदग्ध शब्द का अर्थ रसिक, निपुण, पारङ्गत, सर्वमनोहर तो सुप्रसिद्ध है ही किन्तु विदग्ध शब्द का अर्थ ग्रन्थकार के मत में चतुःपक्षि कलान्वित है। सुरम्य मधुर सर्वसल्लक्षणान्वित, बलीयान् नवताण्य, वावदूक, प्रियवद, सुधी, सुप्रतिभ, धीर, विदग्ध, चतुर, सुखी, कृतज्ञ दक्षिण, प्रेमवश्य, गम्भीरताम्बुधि वरीयान्, कीर्तिमान्, नारीमोहन, नित्य-नूतन, अतुल्यकेलिसौंदर्य, प्रेष्ठ, वशीस्वनान्वित गुणयुक्त विशेष प्रेमानन्दरसों के उत्ताल तरङ्गमय महावारिधि श्रीराधाविनास विच्छेद चिह्नित-माधव हैं श्रीमान् गोकुल-युवराज।

श्रव्य दृश्य भेद से काव्य दो प्रकार का है। प्रस्तुत ग्रन्थ रङ्गालय में अभिनय के योग्य दशविध रूपकमें प्रथम व प्रधानतम है ग्रन्थकार ने साहित्य दर्पण की प्रक्रिया के वर्जनपूर्वक श्रीभरतमुनि के मत से 'नाटक चन्द्रिका'

नामक ग्रन्थ की रचना की है । उस लक्षण ग्रन्थ के दृष्टान्त रूप से विदग्ध-माधव, ललितमाधव नाटकद्वय का प्रणयन किया । इन ग्रन्थों में नाटक के लक्षण पूर्णरूप से रक्षित हुए हैं नायक भेद-दिव्य, दिव्यादिव्य, अदिव्य ख्यात-मिश्र, वल्लभ, प्रस्तावना, आशीर्वाद, नमस्क्रिया, वस्तुनिर्देश, नान्दी, प्ररोचना, आमुख, कयोद्धात, प्रवर्तक, प्रयोगातिशय, उद्धात्यक, अवलम्बित, प्रकृति सन्धि, बीज, चिन्दु, पताका, प्रकरो एवं प्रधान कार्य व अङ्ग कार्य अवस्था आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताति, फलानम, सन्ध्यङ्ग-मुख, प्रतिमुख, गर्भ विमर्श, उपसंहृति, द्वादश बीजभेद, त्रयोदश प्रतिमुख सन्धिभेद, चतुर्दश निर्वहण सन्धिभेद ३६ भूषण भेद, ४ पताका स्थान, विष्कम्भक, चुलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार, प्रवेशकादि, अर्थोपक्षेप समूह, स्वगत, प्रकाश जना-न्तिक आदि नाट्योक्ति समूह, अङ्कस्वरूप, गर्भङ्कस्वरूप अङ्कसख्या नाटकीय रस, संस्कृत प्राकृत भाषा विधान, भारती प्रभृति वृत्ति चतुष्टय, नर्मा, और उसके भेद प्रभृति लक्षण ग्रन्थोक्त विषयों का निर्वाह इन नाटकद्वय में सुन्दर रूप से हुआ है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में धीरोदात्त व साहित्य गुण युक्त श्रीकृष्ण ही दिव्य नायक, एव रस, रसराज शृङ्गार है । सात अङ्क युक्त प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रत्येक अङ्क में ही ग्रन्थकार ने विविध कला कुशलता से वर्णकों तथा श्रोतृवर्ग के लिये आनन्दवर्धक सामग्री का पूर्णरूप से सन्निवेश किया है ।

+

+

+

नाटकीय पात्रों का विवरण इस प्रकार है—

- १ सूत्रधार— नाटक प्रस्तावनाकार ।
- २ पारिवर्षिक— सूत्रधार सहचर ।
- ३ श्रीकृष्ण— श्रीयशोदानन्दन, नाटक-नायक विदग्ध-माधव, राजनाम ।
- ४ धीनन्द— श्रीकृष्णपिता श्रीब्रजेश्वर ।
- ५ श्रीमधुमङ्गल— श्रीसान्दीपनिमुनिपुत्र, सान्दीपनिमुनि ने अपनी भैया पौर्णमासीकी परिचर्या के लिये इसे गोकुल में भेजा था । पौर्णमासी ने इसको श्रीकृष्ण का सखा बनाया । श्रीकृष्ण का यह प्रिय वयस्य चिद्रूपक ।

- ६ श्रीराम— श्रीरोहिणोत्तम, श्रीवनराम, श्रीकृष्ण के 'अत्यन्त प्रिय बड़े भाई ।
- ७ श्रीदाम— श्रीकृष्ण के थोड़ा सखा, श्रीराधा के बड़े भाई ।
- ८ श्रीसुवल— श्रीकृष्ण के प्रिय नर्म सखा, परमप्रेम ।
- ९ अभिमन्यु— गोप, जटिलापुत्र, श्रीराधा का मायाविवर्तित पति और चन्द्रावली के मायाविवर्तित पति भारुण्डा पुत्र गोवर्धन मत्स्य का प्रिय सखा ।
- १० श्रीपौर्णमासी— श्रीसान्दीपनि-जननी, श्रीनारद शिष्य, सब ब्रज-वासियों की माननीया, श्रीगुरुदेव के आदेश से स्वमोष्ट श्रीकृष्णप्रेम में व्यग्र-चित्ता होकर श्रीराधाकृष्ण लीलारस संभोग संधतन सहायक सेवा के लिये गोकुल में अवस्थित, सर्वसिद्धि विधायिनी, श्रीकृष्णदूती गणान्तर्भुक्ता ।
- ११ श्रीसान्दीमुखी— सान्दीपनि कन्या, जिसे पौर्णमासी ने श्रीराधा के साहचार्य में नियुक्त किया है । विविध सन्धान कुशल सखी ।
- १२ श्रीयशोदा— श्रीव्रजराज-ग्रहिणी, श्रीकृष्णमाता ।
- १३ श्रीराधा— श्रीवृषभानु कन्या, गोपिका शिरोमणि श्रीकृष्ण बल्लभतमा । वृन्दावनेश्वरी, विन्ध्यपर्वत के सम्बन्ध से चन्द्रावली की रुनिष्ठ, नाटक नायिका
- १४ श्रीललिता— प्रधाना श्रीराधा-सखी, अष्टसखियों में अन्यतमा, सर्वस परमाध्यक्षा ।
- १५ श्रीविशाखा— द्वितीया श्रीराधासखी, अष्टसखियों में अन्यतमा, आलेख्य-संगीत-विचक्षणा ।
- १६ सुखरा— यशोदा-घात्री, वृषभानु की श्वश्रू श्रीराधा की माता मही, वृद्धा गोपी ।
- १७ जटिला— अभिमन्यु [गोप] की जननी, श्रीराधा की सास गोवर्धन-जननी, भारुण्डा की सखी वृद्धा गोपी ।

- १८ श्रीपद्मा— प्रधाना चन्द्रावली-सखी, 'निकु ज-गृहिणी, नग्नजित कन्या ।
- १९ श्रीचन्द्रावली— चन्द्रभानु कन्या, विन्ध्य-पर्वत के सम्बन्ध से श्रीराधा की ज्येष्ठा सोदरा, भारुण्डापुत्र गोवर्द्धन मल्ल की माया प्रत्यायिता पत्नी, कराला की नातिनी, राधा की प्रतिपक्षीया, राधा से किञ्चित न्यूना कृष्ण-वत्सभा, प्रतिनायिका, द्वितीया नायिका ।
- २० श्रीवृन्दा— श्रीवृन्दावन-वनदेवी, दूतीगणवर्या, श्रीराधा की कानन-सखी ।
- २१ सारङ्गी— जटिला की भगिनी पुत्री, विशाल की भगिनी ।
- २२ श्रीशोभा— चन्द्रावली-सखि ।
- २३ कराला— चन्द्रावली की मातामही वृन्दागोपी ।

समाङ्क—सम्बलित इस नाटक के प्रथम अङ्क में वेणुनाद-विलास, द्वितीय में मन्मथ-लेख, तृतीय में श्रीराधा-सगम, चतुर्थ में वेणुहरण पंचम में श्रीराधा प्रमादनम्, षष्ठ में शारद विहार एव सप्तम में गौरीतीर्थ-विलास सुवर्णित हैं ।

एवु और श्रीरूप गोस्वामी का कवित्व-माधुर्य, उसमें भी 'राधाकृष्ण' के अनन्त सोदर्य माधुर्यसय रससिन्धु की अनन्त तरङ्गराशि, सुतरा अनेकानेक अपूर्व चित्त चमत्कारी उपभोग्य वस्तु इस नाटक में सन्निविष्ट है ।

प्रथमाङ्क में -नाटकीय लक्षण समूह के अनुसार यथारीति नान्दी, प्ररोचनादि, नान्दिमुखी व पौर्णमासी के कथोपकथन में श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा की प्रगाढ अनुराग-सूचना, श्रीकृष्णनाम का अपूर्व महिमा-उद्घुन (तुण्डे ताण्डविनी) पद्मपलाश लोचन पीताम्बर धारी वनमाली श्यामसुन्दर का गोष्ठ-प्रवेश, नन्दयशोदा के वात्सल्यादि वर्णन पूर्वक अपरूप वृन्दावन का शोभा-समृद्ध दर्शन श्रीकृष्ण के वशी वादन से वस्तुनिश्चय का स्वभाव व्यंज्य (हर्षिर्हर्षभृत) जलधर का गतिरोध, तम्बुरु की चमत्कारिता, सनकीदि का सर्माधिभङ्ग, ब्रह्मा का विस्मयात्पादन, राजा बलि की अस्थिरता

नागराज का मस्तक घूर्णन एवं ग्रहाण्डकटाह का आवरण भेद करके अपूर्व मुरली ध्वनि-नाद, धृन्दावन में वासन्ती सुपमा (क्वचिद् भृङ्गीगीतं) पूर्णमासी के द्वारा श्रीराधाकृष्ण की पूर्व-राग परीक्षा, राधा नाम के श्रवण से श्रीकृष्ण का भाव विकार, एक ओर सखीखण के साथ श्रीराधा का काननप्रवेश, इसीसमय मुरली-ध्वनि श्रवण से श्रीराधा की अपूर्व आनन्द वेदना, विद्याला के हाथ में चित्रपट देख कर उक्त वेदना की वृद्धि ।

द्वितीयाङ्क में— निदारुण चिन्ता देखकर विद्याला के प्रश्न के उत्तर में भानुनन्दिनी कहती हैं— वह मरकतमणिविनिन्दित शिखि शिखण्ड-धारी नवीन-पुवा ने चित्रपट से बाहर निकल कर मुझे कटाक्ष-बाण से विद्ध किया है । श्रीराधा स्वप्न क्या जागरण, दिन क्या रात समस्त सुध-बुध खो कर कहती हैं— 'कदम्ब तरु मूल में' उस क्रामुक चूड़ामणि ने आकर मना करने पर भी मेरा हस्त धारण किया है । उसके स्पर्श से मुझे महाविवलता आई है । सखि ! अब मूर्छा ही मेरा दुःखमोचन करे । मुझे इस व्याधि से मुक्त करने के लिये तुम सब चेष्टा न करो । अब मृत्यु ही मेरा मङ्गल है । इसके बाद कहती हैं— लज्जा की बात है, मेरी तीन पुरुषों में रति हुई— (एकस्य श्रुतमेव) 'कृष्ण' इस नामधारी में, दूसरे वंशीवादन-कारी में एवं तीसरे चित्रपट में अङ्कित पुरुष में एकदा रति, क्या सर्वनाश !!! यह पुरुष सय एक श्रीकृष्ण ही हैं— यह बात सुनने के बाद श्रीराधा का स्वस्थता-लाभ नान्दीमुखी श्रीगंधा के अन्तर-भाव को देखकर पूर्णमासी को निवेदन करने के लिये जाती है । अनन्तर पूर्णमासी व मुखरा की वात्स-चीत श्रीराधा का पूर्वरागजनित हृदयभाव व देहिक-चेष्टा स्पष्ट रूप से प्रकाशित होती हैं । वे दोनों देखती हैं कि श्रीराधा की चित्तभूमि में कोई एक नवीन ग्रह प्रविष्ट हुआ है । यह या नवानुराग वीर का अति दुर्गम गम्भीर-विक्रम वैचित्र्य । प्रगाढ अनुराग विवर्त सचमुच ही बुद्धि के अगोचर है, क्योंकि (पीड़ाभिनव कालकूट) नन्दनन्दन-निष्ठ प्रेम का ऐसा ही स्वभाव है जो एक साथ वक्र व मधुर है । श्रीराधा का उत्कट भाव देखकर पूर्णमासी अनंग लेख प्रस्तुत करने का निर्देश करती है । इसके बाद— श्रीकृष्ण का पूर्वराग श्रीराधारचित कणिका कुसुम कोरक पत्र का समर्पण, ललिता श्रीकृष्ण से श्रीराधा की अवस्था कहती है । परन्तु श्रीकृष्ण में ब्रह्मचर्य का गर्व देख कर उदासीन होने पर, ललिता जब निराश होकर चली जाती है

श्रीकृष्ण का पञ्चात्ताप वर्णित हुआ है— (श्रुत्वा निष्ठुरता) । इसके बाद श्रीराधा की उत्कण्ठा व्याकुलता व निदारुण खेद, विशाखा से विविध सान्त्वना सुनकर श्रीराधा कहती हैं— (यत्सोत्सग्मुखाशया) जिसकी सगप्राप्ति की कामना में मैंने धर्मनाश करके भी गुरुजन-ज्ञा, आदि सबको त्याग दिया है वे श्रीकृष्ण जब निराश करते हैं तब मरण ही— श्रेय है । यह कह कर श्रीराधा मूर्च्छित हो जाती हैं, विशाखा श्रीकृष्ण-अङ्गुष्ठ विलेपन माल्यादि व श्रीकृष्ण-नाम वे द्वारा चेतनता सम्पादन करती है । अनन्तर श्रीराधा कालियदह में धुमकर प्राण त्याग करने का निश्चय करके विशाखा को लेकर द्वादशादित्य तीर्थ की ओर जाती हैं । इस समय श्रीकृष्ण भी मधुम गल के साथ भानुतीर्थ में उपस्थित होकर देखते हैं कि प्राण-सर्वस्व श्रीराधा अपनी सखी से चिर विदा माग रही है (गृहान्त खेलन्त्यो) । श्रीकृष्ण को उद्देश्य करके श्रीराधा कहती हैं— 'जिसके लिये हम सब गृह-धर्म छोड़कर, कुपय-चारिणी हुई हैं । अहो ! अब उसका उदासीन होना क्या उचित है ? विशाखा बोली— (अकारुण्य कृष्ण यदि) । फिर श्रीराधा कहती हैं सखि ! श्रीकृष्ण अकरुण हो इससे कोई दोष नहीं है, परन्तु मेरे इस अन्तिम अनुरोध की रक्षा करना— वह यह कि, मेरे शरीर को, वृन्दावन के तमाल तह की शाखा में बाँधकर रखना, श्रीराधा का यह अन्तिम भाव सबके लिये मर्मन्तिक होता है मरण निश्चय करके श्रीराधा विशाखा को बहाना बनाकर पुष्प चयन के लिये भोजनर सोचती हैं, मरूँगी निश्चित ही, किन्तु मरने के पहले और एक बार त्रैलोक्यमोहन मुख को देख कर ही मरूँगी । यह भोचकर विशाखा से कहती है— सखि । उस चित्रपट को और एक बार अच्छी तरह दिखा दो । चित्र पट नहीं है— विशाखा से यह सुन कर राधा श्रीकृष्णमूर्ति के ध्यान में मग्न हो जाती हैं । इस समय श्रीकृष्ण सामने उपस्थित हो जाते हैं और विशाखा कहती है— सखि ! एक बार देखो, ध्यान का साक्षात्फल । श्रीराधा नेत्र उन्मीलन कर देखती हैं । उससे अपने को जाग्रत स्वप्न के बीच अवस्थित पाती हैं । श्रीरूप अति निपुणता के साथ आसन्न-मृत्यु श्रीराधा को लौटा लाते हैं । किन्तु प्रेमबीला में दुर्दैव रूपा बुढ़ी जटिला आ कर रोड़ा डालती है । अमा प्रतिपदी चाद की रेखा उगकर ही डूब जाती है ।

तृतीयाङ्क में— खञ्जनाक्षी श्रीराधा की विलास-मञ्जरी के द्वारा

श्रीकृष्ण चित्त भ्रमर को मुग्धना पादन को देखकर पौर्णमासी श्रीराधा विषयक कथा का उद्बुद्धन करती हैं। जिसमें श्रीकृष्ण की अवहित्या, मधुमङ्गल के मुख से श्रीकृष्ण के जागरण आदि अवस्थाओं को सुनकर पौर्णमासी आश्चर्यत होती हैं एवं श्रीराधा के मूर्च्छान्त विविध भाव विकार का विवरण होते हुये श्रीकृष्ण के अनुमति सूचक दक्षिण नयन निमीलन को देख कर "सकेत" स्थान का निर्देश करके प्रस्थान करती हैं। तब श्रीराधा विशाखा के साथ श्रीकृष्णमिलन की तीव्र उत्कण्ठा प्रकाश करती हैं पौर्णमासी श्रीकृष्ण के पास श्रीराधा की अनेकानेक चेष्टाओं के कहने से भी श्रीकृष्ण की उदासीनता दूर नहीं कर सकी— ऐसा श्रीराधा को कहती है और अतएव दूसरा उपाय ढूँढने की बात कहती हैं। इस बात से श्रीराधा को उत्ताननयन देखकर पौर्णमासी पुनर्बार आश्वासन देकर श्रीकृष्ण के प्रीति प्रेम की अभिव्यक्ति करके ललिता से कहती है "तुम सकेतित कणिकार कुञ्ज में श्रीराधा को अभिसार कराओ" अब श्रीकृष्ण-राधा-निर्दिष्ट माकन्द कुञ्ज में आ कर विशाखा को न देख कर व्याकुल हो उठते हैं, कुछ ही क्षणों के बाद विशाखा आकर कहती है — "अभिमन्यु ने श्रीराधा को मथुरा भेज दिया है" यह बात सुनकर श्रीकृष्ण मूर्च्छित हो जाते हैं। विशाखा पुनर्बार श्रीराधा का अपूर्व अनुराग प्रकट करके (द्रोणप्यनुसङ्गत श्रीकृष्ण को) सात्वना देकर सकेत कुञ्ज की ओर ले जाती हैं। इस समय विशाखा के विलम्ब से श्रीराधा की विविध आशङ्का, उद्वेग, श्लेघ आदि सर्वत्र कुञ्ज में दोनों का मिलन, सखियों का रंगारस, नवसगम में श्री राधा की लज्जा भयादि निवारण के लिये सखियों की चेष्टादि का वर्णन है। आगे इस समय मुखरा को देखकर श्रीकृष्ण का वनांतराल में प्रवेश, मुखरा का निद्रा के आवेश में गृहमध्य में प्रवेश पुनर्बार श्रीकृष्ण का कुञ्ज में आगमन पुष्प उतारने के छल से ललिता विशाखा का बाह्य गमन, निकुञ्ज की चन्द्रशालिका में श्रीराधा-कृष्ण का गमन आदि वर्णित है।

चतुषङ्गि में— पूर्वराग व सम्भोगादि के द्वारा स्वपक्षीय रस विवृत किया गया है। फिर रस पुष्टि के लिये विपक्ष भद वर्णन में प्रवृत्त होकर ग्रन्थकार वेशाखी पूणिमा से लेकर चारों रात्रियों का वर्णन करते हैं। मालदीमुखी के साथ विपक्षा पंचा सखि की वानचोत्त से पता चलता है कि अब नागरीगुरु, नयनानन्द-श्रीनन्दनन्दन ने श्रीगोवर्द्धन कन्दरागृह में

गमन किया है। सुवल के विकट कृष्ण की श्रीचन्द्रावली-दर्शन-लालसा का ज्ञापन, एवं मुरली-निनाद, मुरली सुनकर चन्द्रावली का आक्षेप, चन्द्रावली को सामने देखकर स्तुति, आदि वर्णन किये गये हैं। यहां पर श्रीकृष्ण का प्रेम बहुनिष्ठ की भांति प्रकाशित होता है।

श्रीराधा विषयक ऐसी प्रगाढ़ प्रेमात्कण्ठा धारण करते हुये भी, श्रीकृष्ण चन्द्रावली की कुंज में जाकर उसी प्रकार के भाव का प्रकाश किया करते हैं। किन्तु यह शठता के सिवा और कुछ नहीं था क्योंकि— श्रीकृष्ण कहते हैं— हे लोचनेन्दीवरचन्द्रिका चन्द्रावली ! तुम्हारे विरह में मैं अत्यन्त अवसन्न हो रहा था, अकस्मात् कानन में मधुर-रसा, शीतल-स्पर्शी अमृतमयी राधा ने भुज से मिल कर मेरे संताप का निवारण किया है। यह बात कहते न कहते ही कह बैठे 'धारा धारा' गोल स्वलन को देखकर चन्द्रावली की असूया प्रकाशित होती है, कृष्ण के साथ चन्द्रावली पद्मा का विदग्धतापूर्ण प्रणय-फलह, इसके बाद भद्रकाली दर्शन के वहाने श्रीकृष्ण का प्रस्थान, केशर-कुञ्ज में राधा को लाने के लिये सुवल को भेजना, श्रीराधा का केशर-कुञ्ज में आगमन, चतुरता से वन में श्रीकृष्ण का आत्मगोपन, क्रीड़ाकुञ्ज में श्रीराधा का वासक सज्जा निर्माण, किन्तु क्रमशः रात अधिक हो जाने से श्रीराधा के हृदय में उत्कण्ठा का भी बढ़ना, युगपद निर्वेद, खेद, भूर्छा निःश्वास, त्याग आदि विप्रलब्धा नायिका का लक्षण श्रीराधा में प्रकाश होना वर्णन किया गया है। सोचती हैं— शायद पद्मा ने श्रीकृष्ण का कही पर अवरोध कर लिया है। तब ललिता-विशाखा को साथ लेकर विरह-व्याकुल श्रीराधा श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने के लिये निकल कर कुछ ही दूर जाते ही श्रीकृष्ण को मिलती हैं, तब दोनों पक्ष में परिहास वाक्य का आरम्भ होता है, अनन्तर श्रीचन्द्रावली की बात उठाने से श्रीराधा की असूया किन्तु उनके कटाक्ष-बाण से मुग्ध होकर श्रीकृष्ण भूल कर अपनी मुरली को भी पुष्प पुठिका के साथ श्रीराधा के वस्त्रांचल में दे देते हैं श्रीकृष्ण के अङ्ग में रतिचिह्न को देखकर श्रीराधा में स्तब्धता भाव उदित होता है। उनके संतोष के लिये श्रीराधा के रूप-वर्णन के वहाने से दशावतार का सादृश्य दिखाया गया है। ललिता द्वारा प्रत्युत्तर प्रदान करने से श्रीकृष्ण मधुमङ्गल के हाथों से मल्ली माला को भ्रूसंकेत

के साथ विशाखा को दिलाते हैं। जिससे विशाखा का मान तो हट जाता है किन्तु राधा का मान नहीं जाता। तब स्वयं मस्तकस्थित भयूर-पिच्छ चूड़ा को धूलि— घूसरित करते हुये प्रणाम करके श्रीकृष्ण श्रीराधा को कटाक्ष-माधुरी की भिक्षा करते हैं। इसी समय मुखरा आकर रसोल्लास में बाधा डालती है। श्रीकृष्ण वंशो अन्वेपण करते हैं, श्री राधा को चोरी का अपवाद देते हैं। तब मुखरा श्री राधा को लेकर चली जाती है।

पञ्चमाङ्क में— पौर्णमासी के मुख से श्रीराधाभाव का नैसर्गिक प्रेम लक्षण प्रकटित हुआ है (स्तोत्रं यत्र तटस्थतां) यहाँ पर प्रशंसा से उदासीन होकर मनोदेदना, एवं निन्दा को परिहास मानकर, आनन्द उत्पादन होता है। अपरन्तु दोष में भी अल्पता नहीं होती है। गुण में भी वृद्धि नहीं है, वह ही नैसर्गिक प्रेम है।

श्रीकृष्ण की शठता से एवं ललिता की वचनभङ्गी से कुछ क्षण के लिये श्रीराधा के हृदय में मान का भाव आ जाता है, किन्तु प्रगट प्रेम की वन्या से वह ठहर नहीं सकता। श्रीराधाकलहान्तरिता भाव में विभोर हो जाती हैं। उनको कृष्ण-विभ्रम होने लगता है मन में ऐसे लगता है जैसे श्रीकृष्ण बलात्कार से उनको आलिंगन कर रहे हों नान्दीमुखी स्वभावतः मृदुला श्रीराधा से श्रीकृष्ण के प्रति काठिन्य प्रकाश का कारण पूछती है। नान्दीमुखी के मुखमें श्रीकृष्ण की योगिवत् भोगविलास की वार्ता को मुन कर श्रीराधा सखियों से कारुण्य की भिक्षा मांगती हैं। इस समय श्रीराधा मुरली को हाथमें लेकर प्रशंसा व निन्दा करने लगती है। विशाखा कहती है— इसका आश्चर्य गुण यह है कि पवन की ओर धरने से यह अपने आप ही बज उठती है। श्रीराधा परीक्षा करते ही विपद को बुला लेती है वंशीनाद सुनकर जटिला आकर तर्जन, गर्जन करने लगती है। ललिता और सुबल की धाम्-चातुरी से जटिला मुरली को फेंक कर चली जाती है

- पौर्णमासी श्रीराधा को अभिसार कराती है। श्रीकृष्ण ध्यान की तीव्रता से सर्वत्र ही राधामय देखते हैं। जटिला की बहिन की पुत्री सारङ्गी अभिसारिका राधा को देख कर जटिला को कह देती है। जटिला भीषण क्रुद्ध होकर राधा को फटकारती हुई हाथ पकड़ कर खींच कर ले जाती है

है। अभिमन्यु द्वारा श्रीराधा की विविध ताड़ना भत्सना होगी— यह सोच कर श्रीकृष्ण विषण्ण-चित्त से प्रतीक्षा करते हैं। इसी समय मधुमङ्गल आ कर कहता है — “जब जटिला राधा को फटकार रही थी तब राधा धू धट पट की उत्तार वर सबके सामने सुदल बन गई, एव ललिता वृन्दा बन गयी ‘और जटिला लज्जा से भाग गई।” सखियों के चित्त-वमत्कारी नैपुण्य से व्रजलीला वास्तव में समय समय पर इस प्रकार अद्भुत रस की लीला-स्थली बनती रहती है। कुछ ही क्षणों के बाद ललिता व श्रीराधा के आने पर श्रीकृष्ण-मधुमङ्गल उन दोनों को वृन्दा व सुवल मान कर सम्बोधन करते हैं। पुनः कुछ क्षणों के बाद प्रकृत वृन्दा के आने पर भी सबों का भ्रम अपनोदन नहीं होता है यह देख कर वृन्दा कहती है— यह ही प्राकृत राधा है। श्रीकृष्ण का भ्रम मिटता। श्री राधा मानिनी होकर रोने लगती है। कृष्ण कातरता प्रकाश करते हुये अनुनय-विनय करते हैं। ललिता कहती है—(धारा बाष्पमयी न विर्रति)

जो व्यक्ति नन्दनन्दननिष्ठ-प्रेम धारण करने का अभिलाषी है उसको कभी भी अश्रुधारा वन्द नहीं होती। श्रीराधा के प्रसन्न होने पर जंसे भी मिलन की आनन्दोल्लासमय नवविहार की बात चित्त होती है उसी समय फिर जटिला आ पहुँचती है। देखकर श्रीराधा, ललिता, वृन्दा भय से भाग जाती हैं। किन्तु जटिला राधा को सुवल ही मानती है। श्रीकृष्ण व मधुमङ्गल गोकुल को चले जाते हैं।

पण्डाङ्गु में— श्रीराधा के अङ्ग में पीत-वसन देखकर जटिला उत्तेजित हो उठती है। किन्तु विशाखा उसका समाधान कर देती है। ललिता विशाखा पद्मा का स्वीय स्वीय मूषेक्षरोदय के गौरव में कलह, वृन्दावन में प्रवेश करके श्रीकृष्ण की मुरली ध्वनि सखीद्वय के साथ श्रीराधा का प्रवेश, एव अपाङ्ग भङ्गिमाएँ श्रीकृष्ण का रूप माधुर्य पन, तथा यहा पर श्रीराधा-कृष्ण का कथोपकथन एव विलासादि ग्रन्थाकारने अति निपुणता से अङ्कित किया है। इसमें बात बात में प्रणिधिनी का अभिमान, वनान्तर में भागना-श्रीकृष्ण के द्वारा अन्वेषण, ललिता-विशाखा का सुन्दर सरल सजीव व मधुमय वाग्विचार एव स्वार्थ मूल्य व्यवहार इत्यादि—इस अङ्क का वैशिष्ट्य है।

सप्तमाङ्क में—पौर्णमासी की रात से आश्वस्त होकर अभिमन्यु श्रीराधा का मयुग गमन स्थगित कर देता है। सौभाग्य पूर्णमा के अवसर पर

'गोपिया' आनन्द उत्सव में विभोर हो उठती है, चन्द्रावली के साथ कृष्ण, पद्मा, शङ्खा की बात-चीत हो रही है। इसी समय ललिता-वृन्दा की उपस्थिति एवं समय पक्ष में वाक् कलह होने लगता है। हठात् वहा कराला आकर चन्द्रावली को लेकर चली जाती है। श्रीराधा अभिसारिता होती हैं। दोनों का मिलन होता है। श्रीकृष्ण के मुख से 'चन्द्र' सम्बोधन सुनकर श्रीराधा का कोप विशाखा-ललिता की आत्यन्तिक चेष्टा से मान का अनुपशम, श्रीकृष्ण का निकुञ्जविद्या देवी का वेग धारण कर अवस्थान करना, ललिता-विशाखा की सहायता से श्रीराधा के साथ निकुञ्जविद्या देवी का मिलन वर्णित है। हठात् गौरीगृह में जटिला, अभिमन्यु प्रविष्ट होकर देखते हैं कि साक्षात् महेश महिषी को आराधना श्रीराधा कर रही है। अभिमन्यु के जीवन सकट को सूचित करते हुये गौरी व वृन्दा को वाक्-चातुरी से श्रीराधा का मथुरा जाना स्यगित हो जाता है। पीणमासी का आगमन व अखण्ड निकुञ्ज विलास का इङ्गित के साथ प्रेमानन्द रस के उत्ताल तरङ्गमय महासागर में यह "विदग्धमाधव" नाटक सम्पूर्ण होता है। श्रीराधा का विलास, विच्छेद से समलंकृत है। इस चौंसठ कलाधारी विदग्धमाधव नाटक का अनुशीलन सज्जनगण द्वारा ही सम्भव है। यह ग्रन्थ भक्तिरस का उपजीव्य है।

श्रीचैतन्यदेव के मत में, उपास्य, उपासक, एव, उपासना आदि का निर्णायक शास्त्र श्रीमद्भागवत होने के कारण तदीय अनुयायियों को इन सब विषयों का निर्णय करने में विविध जटिल परिस्थितियों का अनुभव करना अपरिहार्य है। साथ ही इन सब विषयों का सुष्टु समाधान होना भी आवश्यक है।

मनोमूल ही सार है। परमार्थिक वस्तु के स्मरण में योग्यता और मनन अभिनिवेश के लिये साध्य, साधन, साधकगत, असम्भावना, विपरीत भावना, दूरीभूत होना भी आवश्यक है। श्रीमद्भागवत स्वरूप प्रमाण में विचित्र प्रतिपाद्य विषयों का वैशिष्ट्य, महावाक्य श्रीनाम, अद्वय तत्त्व, ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्, श्रीकृष्ण, ऐश्वर्य, माधुर्य, धाम, पत्रिकर, आदि की व्यवस्था रस-उपासना भाव वैशिष्ट्य आदि का समाधान अति उपादेय रूप से हुआ है।

अनेक प्रमाणों में श्रुति प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ है; कारण अन्य प्रमाण अतीन्द्रिय वस्तु के स्थापन में दोषमुक्त नहीं है। श्रुति-प्रमाणों में भी श्री-मद्भागवत की सर्वश्रेष्ठता स्वीकृत हुई है। इसमें परतत्त्व विनिश्चायक “वदन्ति तत्तत्त्वविदं” जो यह श्लोक कहा गया है, उसमें एक स्वरूप का ही त्रिधा अविर्भाव सूचित हुआ है। ब्रह्मा, परमात्मा, भगवान इस त्रितत्त्व में स्फुरित स्वयं रूप ही साधक की दर्शनशक्ति के अनुसार अविर्भूत होता है। निर्धमक एवं अस्पष्ट विशेष रूप से अभिव्यक्ति होने से प्रह्लादत्व कहा जाता है। सधर्मक होकर आंशिक शक्तिप्रकाशन विशिष्ट स्वरूप ही परमात्मा एवं पूर्ण दर्शन में सम्पूर्ण स्वरूप शक्ति प्रकाशमय वस्तु ही भगवत्पदवाच्य है। भगवत्ता में निरुपाधिक प्रीति वाञ्छित, गुण, ‘माधुर्य’ जितना अधिक प्रकाशित होता है, उतनी ही श्रेष्ठता जाननी होगी। अंशी भगवान श्रीकृष्ण में निरुपाधि प्रीति-पाप्ता समधिक है। अतएव अंशी श्रीकृष्ण की प्रतिपादक श्रीमद्भागवत ही अंश प्रतिपादक शास्त्र-समूह की शिरोमणि है। अर्थात् परतत्त्व वस्तु प्रतिपादक शास्त्र-समूह श्रीमद्भागवत के ही अन्तर्भूत है। “शास्त्रं भागवतं पुराणममलं”।

उपासना ऐश्वर्य व माधुर्यभाव से ही होती है। ऐश्वर्य भाव की उपासना में सतत परमेश्वर बुद्धि रहती है। इसलिये वहां निरुपाधि प्रीति का अवकाश भी नहीं है। किन्तु माधुर्यभाव की उपासना में कदाचित् परमेश्वरत्व प्रकट होने पर भी उससे संभ्रमव गौरव बुद्धि न होकर प्रियता की गाढ़ता होती है। माधुर्यभाव का चरमविकास है मधुरारति में। अन्यान्य रस मधुरा-रति में अन्तर्भूत हैं। अथवा इसके पोषण के लिये ही नियुक्त होते हैं। अनुकूल गाढ़ प्रेममयी सृष्टि के द्वारा ही श्रीकृष्ण सुख लाभ करते हैं एवं महत्कृपा से अथवा महत्सङ्ग से ही इस जातीय का दृढ भाव साधक के हृदय में संक्रमित होता है। इस सब विवरण का श्रीचैतन्य-मतीय ग्रन्थों में पुनः पुनः विचार विश्लेषण हुआ है। भगवत्प्राप्ति का सहज सुखकर उपाय निघ-रण करने में चैतन्य मत का यह अवदान असमो-घ्य है।

विमुक्ति व प्रीति ही प्रयोजन तत्त्व परतत्त्व का ज्ञान, या अनुभव है। शब्द से परतत्त्व का साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार शब्द से प्रियता ही ध्वनित होती है। प्रियता की वैचित्र्य बहुनिघ है। उसमें मुख्य हैं दास,

सत्ता, पुत्र, शान्तभाव । शान्तभाव में ही प्रीति की सर्वश्रेष्ठता आर्यशास्त्र में उद्धोषित हुई है । उग में श्रीगान्धर्वोदयित (वृष्ण) जिस प्रीति के आधार या आश्रय (भी था) के निकट स्वाधीनरूप से प्रकटित होते हैं, यह प्रीति ही की पराकाष्ठा है ।

स्वरूपानन्द य स्वल्पशक्ति के साहचर्य से प्रकाशित आनन्दभेद से परतरय का आनन्द भी द्वित्रिध है— १. स्वरूपानन्द और २. शक्त्यानन्द अर्थात् आश्रय-तत्त्व से प्रीति का चिन्मय जो आनन्द प्राप्त होता है । स्वरूपानन्द से शक्त्यानन्द की श्रेष्ठता है, उस में भी, ह्लादिनी शक्ति के द्वारा प्रकाशित आनन्द को ही आनन्दशायि सर्वमहज्जन ने स्वीकार किया है । उक्त शक्ति उपास्यउपासक दोनोंकी ही आनन्ददायिनी है । ह्लादिनी शक्ति का सर्वश्रेष्ठ प्रकाश श्रीराधा में है । सुतरा श्रीराधा व तदनुगागण के सेवित परतत्त्व के प्रति आनुकूल्यमयी प्रीतिविधान करना ही—प्रयोजनविचार में सर्वश्रेष्ठ है ।

सर्वत्र स्वीकृत है कि निज अर्पणा श्रेष्ठशक्तों को पूजने एकान्त कर्तव्य है और वह पूजन क्रिया आनुगत्यमूलक ही है । कृतशक्ता ही वैष्णवधर्म में विशिष्ट लक्षण है । चैतन्यमतीय वैष्णवधर्म में श्रीगुरुरूपा सखी के आनुगत्य से कुञ्जासेवाधिकार लाभ करना ही अभीष्ट वस्तु है । यह प्रया अन्यत्र विरल है । महाप्रसाद, गोविन्द नाम, ब्रह्म व वैष्णव-में सुदृढ विद्वत्तास —ये सब इस धर्म में परिस्फुट रूप से अभिव्यक्त हुए हैं । इस मत में श्रीहरि—वैष्णव के अचिन्त्यभेदाभेद, प्रकाश हैं— श्रीगुरुदेव । अभेद विचार में आप उपास्य-पराकाष्ठा हैं । तथापि ओप्रभु—श्रीभगवान के नित्य प्रेष्ठ हैं । श्रीगुरु आश्रय जातीय तत्व हैं और श्रीकृष्ण विषय वस्तु । श्रीगुरुदेव भगवान होकर भी सेवक, मुकुन्द प्रेष्ठ हैं, एव रागमार्गीय स्वरूपसिद्ध ध्येय की दृष्टि से अभिन्न वार्षमानवी प्रकाश हैं ।

श्रोतपन्थिगण ही केवल श्रीगुरुदेव की नित्यता स्वीकार करते हैं । ज्ञानवाद, बौद्धवाद अहंत्वावधारकवाद आदिके दार्शनिकों के मतमें श्रीगुरुकी पारमार्थिक नित्यता स्वीकृत नहीं है । ज्ञानवाद में त्रिपुटोलय में गुरुशिष्य सम्बन्ध नहीं रहता है । योगसिद्धि में सिद्धिलाभ के पश्चात् गुरुसेवा की

आवश्यकता नहीं है। सुतरां इस प्रकार क्षणिक गुरुवाद में पराभक्ति भी सुदुर पराहत होती है।

जीवतत्त्व विचार में भी इस मत का वैशिष्ट्य है। मायाधीश भगवान् व मायावशवर्ती जीव, सुतरां उभय के बीच में भेद अनिवार्य है। शक्ति शक्तिमत विचार में अभेद है। वास्तव वस्तु एक है। वस्तु का अंश जीव, वस्तु को शक्ति माया, वस्तु का कार्य जगत्, यह ही अचिन्त्यभेदाभेद वाद है। उसमें शास्त्रीय निखिलवाद तथा समस्त श्रुति आदि शास्त्रों का मुख्य रूप से सुन्दर सामञ्जस्य विधान हुआ है।

इस मत में उपास्यतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं। श्रीराधा-प्राणबन्धु की उपासना ही सर्वश्रेष्ठ है। यह मत असमोर्ध्व रूप से उद्घोषित हुआ है।

निरुपाधि प्रीति पात्रता ही भगवत्ता का सर्वश्रेष्ठ लक्षण है। उस निरुपाधि प्रीतिपात्र के प्रति जिसकी जितनी अधिक प्रीति है, उसके निकट उतना ही अधिक रूप से प्रीति पात्रता गुण-माधुर्य प्रतिफलित होता है।

सब अवतारों से श्रीगोकुलनाथ में वह प्रीतिपात्रता सर्वपेक्षा अधिक है। इसमें भी जो सर्वश्रेष्ठा श्रीकृष्ण-आराधिका श्रीराधिका के आनुगत्य से मधुर-रस की उपासना करते हैं उनके निकट श्रीगोकुलनाथ का माधुर्य ही सर्वपेक्षा अधिक है। मधुर-रस का वैशिष्ट्य बहुविध होने पर भी सर्वश्रेष्ठ श्रीराधिका के श्रीप्राणबन्धु ही उपास्य विचार में पराकाष्ठा-स्वरूप है।

श्रीनिम्बार्कचार्य पाद द्वारा श्रीराधा की उपासना-कथा कहने पर भी उसमें सुष्ठुता प्रदर्शित नहीं हुई है; कारण कि उसमें स्वकीयावाद ही समुल्लसित हुआ है। श्रीविष्णुस्वामी के आनुगत्य से श्रीकृष्णकर्ममृत मधुर रसाश्रित लीलाकथा कीर्तन करने पर भी उसमें श्रीचैतन्यदेव प्रदत्त श्रीवृषभानुनन्दिनी की आनुगत्य मूलक चमत्कारिता का अभाव है। श्रीगीतगोविन्द में यह कीर्तित ही नहीं हुई है। सुतरां अनपितचरी उन्नतो-ज्ज्वलरस गर्भा आनुगत्यमयी स्वभक्तिश्री का समर्पण ही इस अवतार का प्रधानतम वैशिष्ट्य है।

श्रीरामानुजाचार्य के मत में वैकुण्ठ ही परम धाम है। श्रीमध्व-के मत में श्रीकृष्ण के पञ्चस्थान— भूलोक, सूर्यमण्डल, ब्रह्मलोक या सत्यलोक रुद्रलोक एवं वैकुण्ठ, का उल्लेख है महामारत तात्पर्य निर्णय में एवं श्रीमद्द्वादश स्तोत्र के ६/५ स्तोत्र में गोकुलस्य श्रीकृष्णलीला का भो वर्णन है।

श्रीनिम्बर्काचार्य ने सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्ण स्तव में श्रीकृष्णधाम को सर्वोपरि रूप से वर्णन किया है। श्रीपुरुषोत्तम आचार्य दश श्लोकी भाष्य में उस धाम को 'द्वारका' नाम से उल्लेख करते हैं। वेदास्तरत्न-मञ्जूषा ग्रन्थ में उन्होंने कहा है— "रक्षिमणी सत्यभामा ब्रजस्त्री-विशिष्टः श्रीभगवान्" इस वाक्य से द्वारका या गोलोक का बोध नहीं होता। सविशेष निर्विशेष श्रीकृष्णस्तव' की टीका में किन्तु गोलोक शब्द का उल्लेख हुआ है। गोपालतापनी में श्रीवृन्दावन एवं ब्रह्मगोपाल पुरी—मयुरा का उल्लेख है, किन्तु गोलोक का उल्लेख नहीं है।

"श्रीहरिभक्तिविलास" ग्रन्थ के मत में विधिमार्ग में श्रीकृष्णपूजा केलिये श्रीवृन्दावन में आवरण देवता के मध्य में वसुदेव-देवको एवं रक्षिमणी आदि महिषीगण भी हैं। गीतमीय तन्त्र के ध्यान में— श्रीवृन्दावन में गोपी व महिषीगण का भी सस्यान है।

इस ध्यान के अनुसार यदि कोई श्रीवृन्दावन में श्रीकास्ता होने की इच्छा करके भी महिषीयों का ध्यान करे तो उनको द्वारका में महिषी-स्वरूप ही प्राप्त होगा।

(भक्तिरसामृत १/२/१५७)

श्रीवल्लभाचार्य के मत में गोलोक में मधुरभाव की बात है। (अण्डभाष्य ३।३।१)। ईश्वर बुद्धि भी है। मधुर भाव तो है, किन्तु शुद्ध माधुर्य नहीं। श्रीचैतन्य मत में गोलोक देवलीला स्थान है। गोपियों के आनुगत्य को छोड़ कर ऐश्वर्य भाव से भजन करने पर भी श्रीवृन्देन्द्र-नन्दन की प्राप्ति नहीं होती।

वैकुण्ठ से श्रेष्ठ मधुपुरी हैं, और फिर परम श्रेष्ठ हैं श्रीवृन्दावन।

पूर्णतम श्रीकृष्ण यहाँ पर पूर्णतम स्वतन्त्रता से केलिमाधुरी को प्रकट कर रहे हैं। धाम के विचार से उसी को सर्वश्रेष्ठता है। सुतरां गोलोक नामक स्थान योकूल का ही वैभव स्वरूप है।

श्रीचैतन्य यही शस्त्र, धाम, सन्त, उपास्य, साधन, प्रयोजनादिक सब ही परमात्मनः स्वरूप है। आपका अनुग्रह शस्त्र, 'श्रीमद्भगवत्' स्वयं भगवान् पूर्णतम श्रीकृष्ण का निर्णायक होने के कारण पूर्णतम, तद्विषय शस्त्र अधिक है।

मन्त्रों से जिस ब्रह्म में प्राण के साथ श्रीमूर्तियों का निवास है, वह एक 'धोराघाकृष्ण' नाम है। उपास्य में ब्रह्म परमात्मा का आविर्भाव है। श्री—आराधिका श्रीराधिका में समस्त उपासक है। साधन में यावतीय साधन है, एवं प्रयोजक-पराकाष्ठा में समस्त प्रयोजन ही अन्तर्भूत हुआ है। सुतरां इस सब के सम्पर्क से ही श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धु का स्पर्शन, उसमें अवतरण, निमज्जन, अवगाहन सन्तरण और उससे रत्न आहरण सम्भव है। चौडीय, वैष्णव-साहित्य, सर्व-सकीर्णता-विमुक्त एवं सहारसभाव साधुरावगाही है। विशाल ओदार्य व जगत् के प्रति-प्रीतिमय व्यवहार में यह अद्वितीय ही है। नम्रता, धीरता, गर्भ-स्वापकर्ष प्रदर्शन में, औरो को सम्मान देने में भी अप्रतिम हैं। सस्कृत-साहित्य के उस-ब्रह्म की ओलोचना की सुविशद व परिष्कृततर रूप से जगत् के सामने श्रीमद्भगवाप्रभु ने प्रकट किया है।

श्रीभगवान् के सखन्ध में भगवद् विदवासी जन्म गणों को जो धारणा है— कि श्रीभगवान् पाप पुण्य के विचारक व अनन्त ऐश्वर्यमय हैं। — इस धारणा के तिसर पर आरोहण करके श्रीचैतन्य ने भगवान् श्रीकृष्ण की प्राणाराम हृदयसखा कहा है। 'भगवान् प्रेमास्पद' है— इस उक्ति के उच्चस्तर में आरोहण करके श्री भगवान् को उपपत्ति रूप से ग्रहण करने का आदेश दिया है। यही परकीया भाव की उपासना ही इनके मत का सहान् वैशिष्ट्य है। व्रजवधुओं में यह भाव निस्सीम रूप में है। फिर धोराघाजी में ही इस भाव की अमसीध्र पराकाष्ठा है। परिपूर्ण कृष्ण की प्राप्ति—इस प्रेम से ही होती है। और श्रीकृष्ण इसी प्रेम के वश हैं।

स्वीया व परकीया

ग्रज का औपपत्य एक असाधारण-भाव है। ग्रजदेवीगण साक्षात् स्वरूप शक्ति को चिन्मयी मूर्ति होकर भी नित्य परकीया रूप में प्रतिष्ठित हैं। स्वीया और परकीया यह दो शब्द यहाँ पर पारिभाषिक हैं। स्वीया शब्द का अर्थ बहिरङ्ग विधान-विप्राग्नि साक्षी करके आनुष्ठानिक रूप से सम्बन्ध स्थापित करना ही है। द्वितीय पक्ष का अर्थ है—अन्तरङ्ग प्रेममय विधान के द्वारा परस्पर का स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापन।

इस औपपत्य में तक का अस्पृश्यता युक्ति की अदृश्यता एवं मन का लोकोत्तर सामान्य भाव विद्यमान है।

श्रीभगवान् की किसी लीला का भी कोई नियामक नहीं है। वे कमलरत्न नहीं हैं। मानव समाज की भाँति निर्दिष्ट समय में नियन्त्रित नहीं हैं। किन्तु रसोत्कर्षं ध्वन के लिये वे चिन्मय जगत् के एक महाशक्ति-शाली इस भाव-विशेष को ग्रहण करते हैं।

जागतिक परकीया में रसाभास शेष है। राजगोपिया में उसको आशङ्का भी नहीं हो सकती। क्यों नहीं? इसके उत्तर में उपपत्ति का लक्षण कहते हैं।

परकीया रमणी के प्रति अनुराग से धर्म उल्लंघन कर जो उस परकीया नारी का प्रेम-सर्वस्व होता है, उसको उपपत्ति कहते हैं [उज्ज्वलनीलमणि]

इस औपपत्य में ही शृङ्गार रस को पराकाष्ठा प्रतिष्ठित होने के प्रधानतः तीन हेतु हैं—

बहुवार्यमानता, प्रच्छन्न कामुकता व परस्पर दुर्लभता।

औपपत्य सम्बन्ध में लघुत्व की जो वणना है वह प्राकृत नायक सम्बन्ध में ही प्रयोज्य है, किन्तु मधुर रस आस्वादन के लिये हो जिनका अवतार हुआ—और अवतरित प्रिया वर्ग भी जिनकी स्वरूप शक्ति नित्य प्रेयसी हैं—उन श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में औपपत्य का लघुत्व या हेतुत्व नहीं हो सकता।

२२० पृष्ठ १

इस विषय में प्राचीनकाल से श्रीचैतन्यमत में दो प्रकार की विचार-धारा विद्यमान है उसका विवरण इस प्रकार है—

१. श्रीजीवगोस्वामी की विचारधारा में साधारण उपपत्ति का जो लक्षण निर्दिष्ट है, श्रीकृष्ण में वह बिल्कुल ही प्रयोज्य नहीं हो सकता। नित्यलीला में परकीया भाव नहीं होता। माया के द्वारा रसविशेष परिपोषण के लिये औपपत्य की प्रतीति हो ी है। ब्रह्ममोहन में भी मायिक लीला देखी जाती है।

शृङ्गार रस में उपपत्य रसाभास जनक हैं शृङ्गार रस अति पवित्र है, यथा—शृङ्ग हि मन्मयोद्भेदस्तदागमन हेतुक, उत्तम प्रकृति प्रायो-रस शृङ्गार इष्यते।

यहाँ पर उत्तम प्रकृति प्राय की व्याख्या में आप कहते हैं—शृङ्गार शुचिःशुक्ल है। अमरकोष के इस पर्याय निरूपण में शृङ्गार शुचि पर्याय में सन्निविष्ट है। सुतरा यह शुचि उज्ज्वल-रस में अधर्ममय औपपत्य अङ्गरूप से गण्य नहीं हो सकता। लिकाण्ड के अन्त में “आर” शब्द पापपति शब्द में हो उक्त हुआ है।

नाट्यालंकार शास्त्र में औपपत्य का निम्नार्थ वाक्य देखने में आता है। साहित्य दर्पण में—उपनायक संस्थाया मुनिगुरूपत्नी गतायाञ्च।

बहुनायक विषयाया रती च तथानुभवनिष्ठाया प्रतिनायक निष्ठत्वे तदू-दधम प्राप्त तियगिदिगत शृङ्गारे अनौचित्यमिति।

श्रीकृष्ण ने स्वयं ही औपपत्य का दोषोत्प्लेख किया है—

अस्वर्ग्यमयशस्य च फल्गुकृच्छ्र भयावहम्।

जुगुप्सित च सर्वत्र औपपत्य कुलस्त्रियो ॥

औपरोक्षित ने भी कहा—

आप्तकामो यदुपति कृतवान् वै जुगुप्सितम्।

इन सब वचनों से औपपत्य का जो दोष दिखाया गया है वह श्रीकृष्ण भिन्न अपर नायकों में मानना आवश्यक है। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में उक्त दोष समूह की आशङ्का नहीं है क्योंकि मधुर-रस विशेष के आस्वादन के लिये ही आपका अवतार है।

विरोपत.—गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का नित्य दाम्पत्य सम्बन्ध है। ब्रह्मसंहिता में “आनन्दचिन्मय रस प्रतिभाविताभि”—श्लोक में निजरूपता का अर्थ है—स्वदारत्वेनैव न तु प्रकटलीलावत् परदारत्वव्यवहारे-नेत्ययं । अर्थात् प्रकटलीला में जैसे आनन्दचिन्मय रस प्रतिभावितागण परदारत्व रूप में लीला का पोषण करते हैं, नित्यलीला में वैसे नहीं है। परमलक्ष्मियों का नित्य-दाम्पत्य छोड़ और भाव नहीं है। अतएव प्रापञ्चिक प्रकटलीला में गोपियों का पर-दारत्व-माया विजृम्भित ही है। श्रीकृष्ण गोपियों के पनि रूप से ही वर्णित हुए हैं। गीतमीय तन्त्र में—

अनेक जन्मसिद्धाना गोपीना पतिरेव वा ।

नन्दनन्दन इत्युक्तम्रेलोवयानन्दवर्धनम् ॥

भागवत में—

गोपीना तत्पतीना च सर्वेषाञ्चैव देहिनाम् ।

योऽन्तश्चरति सोऽप्यक्ष एव क्रीडनदेहभाक् ॥

श्रीगोपाल तापनी में भी कृष्ण को ब्रजगोपियों का स्वामी कहा गया है।

लक्ष्मीगणों का परकीयात्व सम्भव नहीं है। श्रीकृष्ण-धल्लभागण लक्ष्मी हैं—ब्रह्मसंहिता में लक्ष्मी सहस्रशत शब्द से गोपिया ही अभिप्रेत हैं एव गोपीशब्द से लक्ष्मी का बोध होता है। सुतरा गोपियों का परकीयात्व असम्भव है। श्रीकृष्ण ने श्रीराधा को अखिल लोक लक्ष्मी शब्द से प्रकाश किया है। प्रकट लीला में उपपत्ति की भांति प्रतीयमान होने के कारण ग्रन्थ में श्रीकृष्ण को उपपत्तिवत् वर्णन किया गया है। बहुवारणता, प्रच्छन्नकामुकता, परस्पर सङ्गम दुर्लभता-रतिसम्बन्ध में श्रेष्ठ रूप से उक्त होने पर भी लौकिक रसशास्त्र सम्बन्ध में ही यह बात जाननी चाहिए।

समर्था रति में निवारणादि न रहने पर भी शृंगार रस की पुष्टि होती है। उसमें भी मादनाख्य की परकाष्ठा देखी जाती है। सुतरा औपपत्य का सर्वथा ही अप्रयोजन है। प्रकटलीला में औपपत्य की भांति प्रतीत होने पर भी वह भाविक है।

स्वेच्छया लिखित किञ्चिदन्न परेच्छयाः ।

यत् पूर्वापर सम्बन्ध तत् तत् पूर्वमपरं परं ॥

अर्थात् इस विचार में स्वेच्छा क्रम से कुछ और परेच्छा से कुछ लिखा गया है । पूर्वापर सम्बन्ध युक्त अंश ही स्वेच्छा क्रम का है । और वैसे सम्बन्ध हीन अंश परेच्छा प्रणोदित है । यह जानना होगा ।

२. श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती की विचारधारा—श्रीमद्भागवतीय ब्रज-लीला की व्याख्या का स्वकीया पक्ष में श्रीजीवगोस्वामी का अभिप्रेत बिल्कुल ही नहीं हो सकता । वह परेच्छा से लिखित है और स्वयं ही उन्होंने व्याख्या के अवशेष में यह बात प्रकट भी की हैं । भिन्न रुचि के लोगों के पास जिससे यह बुजैय अचिन्त्य लीला निर्दोष रूप से प्रतिपन्न हो और वे सब ही इस लीला के अनुध्यान के लिये अपने को रुचिशील करें—यह सोचकर ही उन्होंने स्वकीया पक्ष में व्याख्या की है, कारण श्रीचैतन्यदेव के चरणानुयायी अन्तरङ्ग भक्तों के लिये स्वकीया पक्ष की व्याख्या युक्तियुक्त रूप से ग्राह्य नहीं हो सकती ।

औपत्य अधर्मस्पर्श व नरक जनक है—यह बात प्राकृत नायक के लिए है । किन्तु धर्म धर्म के नियामक चूडामणोन्द्र श्रीकृष्ण के लिए वैसी आशंका का अवसर कहाँ ? प्राकृत नायक नायिका को अधर्म स्पर्श होता है, किन्तु जो भ्रूजृम्भण माल से ही इस विश्व-ब्रह्माण्ड के सृष्टि, स्थिति, सहार में समर्थ हैं, ऐसे लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में उनकी महाशक्ति समूह के बीच मुख्यतया अह्लादिनी शक्तिरूपा गोपियों में बिल्कुल ही यह दोष नहीं है । इसलिए नाटक चन्द्रिका में श्रीरूप गोस्वामी ने लिखा है—परोढा औपत्य गौण है—यह जो—पण्डितगण कहते हैं, वह श्रीकृष्ण व श्रीगोपीगणों की छोड़कर ही समझना होगा । अलंकार कोस्तुमकार का भी यही मत है । अनौक्तिक सिद्ध श्रीकृष्ण के लिए यह औपत्य एवं गोपियों का परकीत्व दूसरा न होकर भूषण स्वरूप है ।

श्रीकृष्ण की प्रकटलीला भायिक नहीं है । वस्तुतः प्रकटलीला व अप्रकट में स्वरूपतः कुछ भी भेद अथवा वैलक्षण्य नहीं है [ब्रह्म संहिता

की श्रीजीव गोस्वामीजी की टीका ५ । ४३]

मन्तव्य द्रष्टव्य का अनुध्येय—अपनी लीला-माधुर्य को जब कृपा करके प्रपंच जगत् के गोचरीभूत कराते हैं। तब वह लीला प्रकट लीला नाम से कही जाती है। दूसरे पक्ष में वह लीला लोक चक्षु के अन्तर्हित होने से ही अप्रकट आख्या में अभिहित होती है। लघु भागवतामृत १ । २४४ में वर्णित है—

अनादिमेव जन्मादि लीलामेव तयात्भूता ।

हेतुना केनचित् कृष्ण प्रादुर्कुर्यात् कदाचन ॥

अप्रकट लीला नित्य दाम्पत्यमयी है एवं प्रकट लीला मायिक व उपपत्य भावमयी है, ऐसी धारणा करना असङ्गत है, क्योंकि सर्वलीला मुकुट मणि रासलीला के आदि, अन्त व मध्य में परोढा उपपत्ति भाव ही विराजमान है। रासलीला को मायिक मानना भी निषिद्ध है, रास पञ्चाध्याय के प्रत्येक अध्याय में ही परकीयात्व-उपपत्तित्व प्रतिपादक वचन हैं।

“ता वायमाणाः पतिभिः २६ । ८, भ्रातरः पत्यस्य वः २६ । २०७, यत् पत्यपत्य सुहृदामनुवृत्तिरङ्ग २६ । ३२, तद् गुणानेव गायन्त्यो नात्मा-गाराणि ससारः ३० । ४०, पति सुतान्वय भ्रातृ बान्धवान् ३१ । १६, एवं भययोजित लोक वेद स्वानां ३२ । २१, कृत्वा तावन्त मात्मानं यावन्ती-गोपयोपितः ३३ । १६, भग्यमानाः स्व पार्श्वस्थान स्वान् स्वान् दारान् प्रजोक्तः ३३ । ३७, श्रीशुकदेवजी ने स्वयं एव श्रीकृष्ण-गोपियों के मुख से ही निःसृत इन सब वाक्यों से परोढा व उपपत्तित्व भाव स्पष्टतः प्रतिपादन किया है।

रासलीलाम-मायिकत्व विजृम्भित होने से लक्ष्मीगणों की तुलना से गोपियों का उत्कर्ष सशमाजित कैसे होगा ? श्रीभागवत—नायं धियोऽङ्गुष्ठ नितान्तरतेः प्रसादः (१० । ४७ । ६०) इस वाक्य में लक्ष्मीगण से भी गोपियों का उत्कर्ष सूचित हो रहा है। रासलीला मायिक होने से यह उत्कर्ष स्थापन—अमूलक व अवास्तव ही जावेगा।

किसी भी व्यक्ति ने कही पर भी दाम्पत्यमयी रासलीला का वर्णन नहीं किया है।

औपपत्य प्रतिपादक अश समूह को भ्रम विनाश कटकर परित्याग करने से रासलीला का बिल्कुल ही कोई उपादेयत्व नहीं रहेगा । रासलीला में श्रीकृष्ण के मुख-वचन है—“न पारयेऽहं निरवद्य सयुजा स्वसाधुकृत्य १० । ३२ । २२ ॥ रासलीला मायिक होने में इस वाक्य का परम प्रेमोत्कर्ष प्रमायकत्व अपूलक व अवास्तव हो जावेगा ।

उक्त वाक्य में “या मामजन् दुर्जर गेहशृङ्खला.” पद भी परोढात्व उपपत्तित्व प्रतिपादक है । गोपीगण ने दुर्जर गृह—शृङ्खला सन्छेदन करके श्रीकृष्ण का एक निष्ठ भाव से भजन किया है—इसके प्रतिदान में श्रीकृष्ण असमर्थ हैं । अतएव गोपी प्रेम के वे बशीभूत हैं । यह नित्य मत्य है । रासलीला मायिक होने से यह भी अवास्तव हो जावेगा ।

श्रीकृष्ण को परम मायावी मानकर गोपियों के प्रति—उनके इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करना, गोपियों का मनोरञ्जन यदि कहा जाय, तो परम साधुवर्ग—मुकुटमणि महाविश्व श्रीउद्धव ऐसे अवास्तव व अनित्य मायिक विषय में भजन के परम काष्ठात्व का स्थापन क्यों करते ? उनके—“आसामहो चरणरेणु जुवामह स्याम, वृन्दावने किमपि गुल्मलनीपधोना” वाक्य में—पट्ट महिषीयो ‘से भी गोपियों का प्रेमोत्कर्ष ही स्वीकृत हुआ है । उस अतुलनीय प्रेमोत्कर्ष का कारण यह है कि गोपियाँ स्वजन व आर्यपथ परित्याग करके श्रीकृष्ण में एकान्त अनुरागिणी हैं । स्वजन आर्यपथ त्याग, यदि मायिक व्यापार ही हैं । तब प्रेमोत्कर्ष का हेतु भी अवास्तव होगा । तब एकान्तभक्त उद्धव के वाक्य भी भ्रमपूर्ण हैं । अतएव कहना होगा कि आप्तवाक्य में भी अनास्था दोष है ।

दशाक्षर व अष्टादशाक्षर मन्त्र का अर्थ भी परोढात्व-उपपत्तित्व भाव मय है । शब्द शक्ति की अद्भुत शक्ति के विषय में जिनका ज्ञान है, वे इस रहस्य को अच्छी प्रकार जानते हैं ।

श्रीकृष्ण के विविध ध्यान एव मन्त्रों में भी उक्त भाव ही प्रकटित है । साधकगण ध्यान की परिपाक दशा में प्रकटलीला-भावसमूह की ही प्रत्यक्ष करते हैं । सुतरा प्रकट लीला-मायिक अथवा अनित्य नहीं कही जा सकती ।

“जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः”, श्लोक व्याख्या में श्रीरामानुजाचार्यपाद—ने भगवद्-जन्म-कर्म एवं परिकरो का नित्यत्व स्थापन किया है। श्रीमद्युग्मदन सरस्वती ने भी ‘दिव्य’ शब्द का अप्राकृत अर्थ किया है। ‘एवो देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृदयन्तरात्मा’ इति पिप्पलादशास्त्रीया पुरुष बोधिनी श्रुतिः) ।

श्रीविठ्ठलनाथ जो ने स्वरचित विद्वण्मन्थन ग्रन्थ में श्रीभगवान् के जन्म कर्म का नित्यत्व ही प्रतिपादन किया है।

बृहद्वामन पुराण में भी प्रकट-लीला का नित्यत्व प्रकाश करते हुये भगवदुक्ति है— “आर धर्म मे मेरे सम्बन्ध के सर्वतोभाव से अधिक सुदृढ सुस्नेह को प्राप्त होकर तुम सब ही पूर्ण मनोरथा हो जाओगी।

श्रीभगवान् का नाम नित्य है। एक एक लीला में उनका एक एक नाम निर्विष्ट है। लीला अनित्य होने में श्रीनाम भी अनित्य होंगे। सुत्रों भजन का जो सार है, वह भी मायिक हो जायेगा। नाम अनित्य है, यह सोचने से भी नामापराध होता है।

श्रीजीवगोस्वामी ने श्रीभार्गवत सन्दर्भ में नाम जन्म, कर्म आदिकों का नित्यत्व ही प्रतिपन्न किया है। श्रीभगवान् के आकार, प्रकाश, जन्म, कर्म लक्षण-लीला, एवं उनके परिकर सब ही उनकी स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति है। जीवशक्ति व मायाशक्ति के साथ उनकी कोई लीला नहीं होती। सुत्रों ये सब ही नित्य हैं यही श्रीजीव गोस्वामी की उक्ति है, फिर परोढ़ा-उपपत्तिभावमय रासलीला मायिक कैसे हो सकती है ?

व्रजसुन्दरीगण श्रीकृष्ण के साथ विप्र-अग्नि को साक्षी रखकर आनुष्ठानिक रूप से परिणय सूत्र में बाबद्ध हुई, किसी भी ऋषि, शास्त्र में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है। यदि कोई ऐसा मानता है तो क्या शुकदेव सम्मत होगा ?

परीक्षित के धर्म सस्थापकत्व आप्तकाम श्रीकृष्ण के औपपत्य में सन्धिगर्भ हो कर पूछने पर, इसके उत्तर में श्रीशुकदेव जी सुस्पष्ट कह सकते थे, कि सब गोपाङ्गनाएं श्री कृष्ण को विवाहित पत्नी हैं, परदार नहीं।

ऐसा सरल उत्तर न देकर श्रीशुकदेव को बहुत ही कष्टमद सिद्धान्त से परीक्षित को समझाना पड़ा, यह क्यों ?

कही कही पति शब्द का प्रयोग भी देखने में आता है। उसका अर्थ-गति समझना होगा। क्योंकि श्रीजोगोस्वामी ने भगवत् सम्दर्भ में शक्ति शक्तिमान में पति शब्द का गौणार्थ ही स्वीकार किया है। केवल विवाहित व्यक्ति ही नायिका का पति होता है यह बात नहीं है। नायिका प्रकरण में परकीया में स्वाधीन पतिका शब्द का प्रयोग भी देखने में आता है।

फिर ऐसा भी हो सकता है कि श्रीकृष्ण किसी किसी गोपी के विवाहित पति हैं। अपरापर गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का दाम्पत्य सम्बन्ध नहीं है। श्रीकृष्ण सब गोपियों के विवाहित पति होने से 'परदारा अभिमर्षण' प्रश्न प्रसङ्ग ही नहीं उठता। गोपियों के अपने अपने पतियों की बात भी उल्लिखित है, यह भी लिखा हुआ है कि— "नजातु व्रजदेवीना पतिभि सह सङ्गमः।

गोपाल तापनी के— 'स वो हि स्वामी भवति—' इस वाक्य में 'स्वामी' शब्द परिशेत् वाचक नहीं है। स्वामी ऐश्वर्य बोधक शब्द है पाणिनी कहते हैं— स्वामिन् — ऐश्वर्ये। प्रयोग भी ऐसे ही देखने में आता है। "लोके यस्य हि य स्वामी भवति, स तस्य भोक्ता भवतीति"। सुतरां स्वामी कहने से ही विवाहकर्ता का बोध नहीं होता।

ग्यारहवर्ष पर्यन्त ही श्रीकृष्ण की-व्रजलीला का सवाद लिखित है। गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध बचपन से ही दृढ़ हुआ। ६ वर्ष में तो आनुष्ठानिक रासलीला हुई, उपनयन संस्कार मथुरा में हुआ और इसके बाद ही विवाह ही विवाह होने लगे। व्रज में प्रवृत्तमार्ग प्रवर्त्तन का अवसर ही नहीं आया।

व्रज के समस्त सम्बन्ध ही विन्मय हैं जहाँ जहाँ पर माया शब्द का प्रयोग है वहाँ योगमाया ही अर्थ समझना चाहिये। सुतरां अभिमन्यु के साथ धीराया का जो पतिभाव वर्णित है, वह विन्मय समझना होगा। श्रीभगवान् के लीलातन्त्र मध्यवर्तित्व होने के कारण उक्त सम्बन्ध भी नायिक नहीं हैं। योगमाया ही उक्त सम्बन्ध का हेतु है।

स्वयं सिद्ध श्रुति सिद्ध पराशया स्वरूप शक्ति विशिष्ट ही परतत्त्व है। यह परतत्त्व स्व प्राधान्य में स्फुरित होने से आप धर्मादि नाम ग्रहण करता है। जैसे स्वयं पराशक्ति ही ज्ञान, सुख, कारुण्य, माधुर्याद आकार में स्फुरित होकर धर्म रूप में प्रकाशित होती है।

शब्दकार में प्रकाशित होने पर श्रीभगवान् नाम व वाक्यादि रूपमें प्रकाशित होते हैं धरित्री के आकार में स्फुरित होने पर धाम-परिकर रूप में एवं ह्लादिनीसार समवेत सम्बिदात्मक युवती रत्न रूप में स्फुरित होने पर श्रीराधादि रूप में विभाषित होते हैं।

श्रीराधा श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्तिभूता ह्लादिनी शक्ति है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु बात यह है कि— सीला विशिष्ट श्रीकृष्ण श्रीराधा सम्बलित ही हमारे उपासनीय हैं। सीला विरहित श्रीराधा-कृष्ण हमारी धारणा व भजन के अतीत हैं। आपत्ति यह हो सकती है कि— गोपियों में जो दुर्यशः, मनोदुःख, व स्वसु मनदादि का निवारण यातनात्रि हैं, वे हकिमणी आदि में नहीं हैं। सुतरां आपात दृष्टि से यह बोध हो सकता है कि हकिमणी आदि की अपेक्षा सम्भवतः गोपियों का अपकर्ष है। किन्तु रागात्मिका महाभाव-वती गोपियों में ये सब दुःख दीखते हुये भी उन का जो सुख आतिशय्य है, वह दूसरों की अपेक्षा अनेक अधिक है।

अनुरागिणी महाभाववती श्रीव्रज-सुन्दरीयों का श्रीकृष्ण के साथ जो सम्बन्ध है, वह अविन्य अनुराग का ही फल है। इस सम्बन्ध स्थापन में उन सबों को स्वजन आदि का त्याग करना पड़ा, आर्यपथ से व्युत् होता पड़ा। किन्तु इतने क्लेश, इतने दुःख भी उन सबों के लिये सुखकर रूपसे घोष हुये। इसको छोड़कर अनुराग के चरमोत्कर्ष का और दृष्टान्त कहाँ है ?

महा भाववती गोपियों का अनन्य साधारण अलौकिक अनुराग ही श्रीजीव गोस्वामी का अमित्रेय है। इस विषय में कोई सन्देह नहीं है।

यदि श्रीकृष्ण के साथ ब्रजवालाओं का सम्बन्ध, गुरु- विप्र- भक्ति साक्षी के माध्यम से विवाह रूप से होता, तो श्रीचैतन्यदेव का

उपदेश, श्रीवेदव्यास जी की श्रीभागवत्, तथा श्रीरूपगोस्वामी के उज्ज्वल नीलमणि आदि ग्रन्थों की आवश्यकता ही नहीं रहती।

सुतरा उभय मत का समाधान इस प्रकार है— प्रथम मत की उत्पत्ति इसलिए हुई है कि—“स्वयं भगवान् शक्तिमान् हैं और सब उन की शक्ति हैं, इस तत्व को मूलकर अचिन्त्य अप्राकृत औपपत्त्य के सरस अनन्तनिगूढ भाव को जो समझने में असमर्थ हैं उन लोगों के लिये और कोई उपचार न देखकर एव धर्म के नाम पर उन लोगों को जघन्य नरक प्राप्त न हो श्री जीव गोस्वामिपाद ने सात्त्विकाक्ष को ही सम्मुख रखा।

द्वितीय प्रश्न में — लीलाक्ष का ही विस्तार है।

श्रीवत्सदेव विद्याभूषण के मत में — उक्तविषय इस प्रकार है। श्रीराधाकृष्ण की उपपत्ति भावमयी लीला— परमेश्वरतत्त्व निबन्धन है। क्योंकि कि ज्ञान का कोई नियामक नहीं है, जिसके भय से वे दाम्पत्य में अवस्थान करेंगे? मनुष्य की भाँति उनकी लीला कर्म-परतन्त्र नहीं है। सब शास्त्र—उनको कर्म परतन्त्र से मुक्त वर्णन करते हैं। जन-मनोरञ्जन के लिये मी, यह लीला नहीं है। क्योंकि उन का दिव्य सौंदर्य ही जन मनोनिवेश का कारण है। उत्कण्ठा पोषण के लिये मी यह लीला नहीं है। क्योंकि उन की उत्कण्ठा नित्य नव नवामयमान भावों से पुष्ट है।

इन सब कारणों से एव परमेश्वरत्व निबन्धन शक्ति व शक्तिमान् श्री राधाकृष्ण के निर्गोपित दाम्पत्य उपपत्तिभाव का सुधीगण को अति सावधानता से विचार करना है। आत्माराम, सर्वेश्वर शृङ्गारोत्कर्ष रसिक, एव सत्य सकल श्रीहरि की अनादि बाल से ही परोढा उपपत्तिभाव में आविर्भूत उनकी ही आर्यघूताश्ररूप शक्ति, तदन्यास्पृष्ट, स्वकान्तिसमा गोपीगणों को साथ लेकर लीला विनोद करती है। उससे श्रीकृष्ण के आत्मारामत्व की हानि नहीं होती।

सम्प्रदाय

सम्प्रदाय शब्द का अर्थ गुरुपरम्परागत सदुपदेश है। भरत के मत में ‘शिष्य’ परम्परावर्ती उपदेश, सम्प्रदाय। अमर के मत में ‘आम्नाय’ सम्प्रदाय है। आदि गुरु ब्रह्मा से गुरु परम्परा प्राप्त है। ब्रह्मविद्या नाम्नी श्रुति ही आम्नाय है। यह आम्नाय वाक्य व शिष्य परम्परावर्ती उपदेश एकमात्र सत् सम्प्रदाय से सुलभ है। माण्डूक्य उपनिषद् (१।१।१०, २।१०) आदि में गुरुपरम्परा-गत उपदेश व सत् सम्प्रदाय स्वीकार की प्रयोजनीयता वर्णित है। उद्धव गीता

में (११-१४+३-८) श्रीभागवत सम्प्रदाय प्रवर्तक रूप में श्रीग्रन्थाजी को ही सूचित किया गया है अतएव ग्रन्थ सम्प्रदाय प्राचीन व वैदिक है।

वैदिक सम्प्रदाय वह है जो वेद व वेदमूलक पुराणादि शास्त्रों का अग्रोपेयत्व स्वीकार करती है। एवं उन २ शास्त्र वाक्यों में अचल विश्वास करती है। अलौकिक तत्त्व के स्वरूप निर्णय व उपासना विषय में एकमात्र उक्त शास्त्र ही मुख्य प्रमाण हैं, यह मानती है। जो प्रत्यक्षादि प्रमाण निचय का अत्यन्त अधिषय है, वह परतत्त्व ही जिसका आराध्य है। कर्म, ज्ञान, भक्ति, वैदिक तत्त्वत्रय में अथवा उनके अन्यतमों में जो एकान्त परिनिष्ठित है, वैदिक आचार्य के चरणाश्रय को ही जो तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का उपाय जानते हैं—वे ही वैदिक सम्प्रदाय हैं। वैदिक सम्प्रदाय विशेष ही—श्री-चैतन्य सम्प्रदाय है। इसमें श्रीमध्व स्वीकृत प्रमेय समुदाय ही परिष्कृत हुए हैं। स्वयं भगवान् श्रीराधा सम्प्रलित श्रीगोविन्ददेव ही इसके आराध्य हैं। उनके ही अविर्भाव विशेष गौराङ्गदेव ही इसके स्व-सम्प्रदाय सहस्राधिदेव हैं, अनादि वेदकल्पतरु से जिनका आविर्भाव हैं। श्रीशुक नारदादि परमहंस-गण इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। ग्रन्था, शिव, ब्रह्म, ब्रह्मादादि इसके पथप्र-दशक हैं एवं श्रीरूप-सनातन गोस्वामीगण ही इस सम्प्रदाय के आचार्य हैं।

इसलिये सागर में नदी की गति की भाँति इस सम्प्रदाय में ही पाश्चरात्र व श्रीमद्भागवत् की गति है। इस सम्प्रदाय ने श्रीमद् भागवत व पाश्चरात्र मत को ही अवलम्बन करके अपने भक्ति सिद्धान्तों का स्थापन किया है। इसमें पाश्चरात्र व भागवत—इन दोनों मतों की सामञ्जस्य रक्षा करते हुए अपूर्व सिद्धान्त स्थापना ईदृ है।

इस मत में श्रीमद्भागवत एवं तदनुगत शास्त्र ही एकल साहित्य, दर्शन, इतिहास एवं पारमहंस संहिता हैं। इसमें ज्ञान, विराग-भक्ति सहित नैष्कर्म्य आविष्कृत हुआ है। यह एकमात्र रसिक व भावुक जन के ही सुवेदन व समावेदनीय है।

निर्दिशेष ग्रन्थ में साहित्य का स्थान नहीं है। कारण वहाँ ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूप त्रिपुटी का लय हो जाता है एकक वासुदेव तत्त्व में विषय तत्त्व रहने पर भी आध्य तत्त्व नायिक के अभाव से साहित्य की सकीणता

है। लक्ष्मीनारायण में किञ्चित् साहित्य प्राप्त होने पर भी ऐश्वर्य प्रधान होने के कारण साहित्य की सम्यक् स्फूर्ति नहीं होती। श्रीसीताराम में तद-पेक्षा साहित्य विकसित होने पर भी मर्यादा पुरुषोत्तम के लीलाविलास में साहित्य किञ्चित् संकुचित ही होता है। द्वारकाधीश एवं मथुराधीश में ऐश्वर्य की प्रबलता के कारण साहित्य पूर्णतम रूप से विकसित हो नहीं पाया, सौन्दर्य माधुर्य निधान श्रीवृन्दावन में ही लीला पुरुषोत्तम के सहचर्य में साहित्य की चरम पराकाष्ठ विकसित होती है। क्योंकि यहां पर ही श्री-ब्रजेन्द्रनन्दन की क्रीड़ा-माधुरी, वेंगुमाधुरी, विग्रह माधुरी व प्रेम माधुरी आदि सम्यक् प्रकाशित है। यहां के समस्त वस्तु समूह की सत्साहित्य का आकार है। सुतरा साहित्य की प्रगति भी निर्बाध व असमोर्ध्व है। अतएव इस वृन्दावनीय काव्य रचना में ही चैतन्यमतोय साहित्य आत्मविनियोग करके महामहनीय हुआ है निविशेष ब्रह्म प्रतिपादक शास्त्रों से लेकर मथुरा-धीश के लीला प्रचारक ग्रन्थों पर्यन्त सब शास्त्र ही प्रकृति भूमा वस्तु के एक देशमात्र प्रतिपादक हैं। अभिल, रसामृत मूर्ति श्रीब्रजेन्द्रकन्दन ही इस सब साहित्य के नायक एवं महाभाग स्वरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी ही नायिका हैं। अद्व ज्ञानतत्त्व रसरज सच्चिदानन्दधन स्वयं भगवान्—ही—भूति के—‘एकमेवाद्वितीयं’ ‘रसो वै स’ ‘मधुब्रह्म’ एवं ‘आनन्दं ब्रह्म’ आदि वाक्यावलि के चरम पराकाष्ठा प्राप्त तत्पर्य है।

श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम, परिकर आदि कर्म जड़ निर्विषय ज्ञान वाद में गौण व अनित्य हैं, किन्तु वेद में सुस्पष्ट रूप से उन सब तत्त्वों का नित्यत्व प्रतिपादित हुआ है। फलतः अचिन्त्य भेदाभेद वाद भी वेद की परम मुख्या वृत्ति से ही समर्पित हुआ है।

इस मत में नाम ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। एव प्रणवात्मक वर्णसमूह की नित्यता भी स्थापित है। प्रणव ही महावाक्य है, नाम व मन्त्र है। अभेद बुद्धि से शब्द ब्रह्म की नित्य आराधना ही इस मत की विशेषता है। नामात्मक शब्द में ही रूप, गुण, क्रिया व स्वरूपादि अन्तर्भुक्त हैं।

जिसके द्वारा ब्रह्मोत्तर विषय में आसक्तिनाश होता है। जिससे पापबीज, अविद्या, उन्मूलित होते हैं एवं जिससे निःसंशय रूप से ब्रह्म सामीप्य लाभ होता है। वह ही उपनिषद शब्द का अर्थ है। रुढ़ि, योग,

योग रुद्धि, महायोग, व विद्वद् रुद्धि' इस पञ्चविंश मुख्य शब्द वृत्ति के बल से, उस उपनिषद् शब्द के द्वारा ही—उपगम्य, उपगन्ता, व उपगमन—यह तीन प्रकार की वस्तु व क्रिया निर्दिष्ट होकर जीव ब्रह्म की नित्य अवस्थान व नित्य सम्बन्ध सूचित होता है। उपगन्ता जीव की उपगम्य भगवान् के सङ्ग में उपगमन क्रिया भी, एक मात्र मन्त्र साहित्य अनुशीलन द्वारा ही साधित होती है। इस मत में सर्वस आम्नाय वाक्य ही प्रमाण रूप से गृहीत हुए हैं।

चिन्मय ब्रह्म के स्वाभाविक आनन्द की अभिव्यक्ति होने से चमत्कार रस होता है। इसका अपरनाम आनन्दातिरेक आस्वादन है। इस रस को आदप-विकार अहंकार है। उससे अभिमान होता है। रस के बाद रति का उद्रेक होता है। यह रति व्यभिचारी व अनुभाव आदि के द्वारा परिपुष्टता प्राप्त होने से शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति होती है। राग व रति से शृङ्गार, संक्षय से रौद्र, अवष्टम्भ से वीर, एवं संकोच से वीमत्स रस का उद्भव होता है, और शृङ्गार से कर्ण, वीर से अद्भुत व वीमत्स से भयानक रस की सृष्टि होती है।

रसास्वस्थ भाव का नाम ही स्थायीभाव है। यह मुख्य रूप से पाँच, और भीषण से सात प्रकार का है। संचारी तेतीस, व सात्विक आठ प्रकार के हैं। यह भाव-विभाव, अनुभाव सात्विक, व्यभिचारी से मिलकर रस में परिणित होता है। इस रस का साक्षात्कार निम्नलिखित क्रम से होता है—

पहले श्रवण कीर्तनादि भजन के पुनः पुनः अभ्यास से आनन्दरूपा रति का आविर्भाव होता है। इस के बाद विभाव आदि के साथ चित्त का संयोग होने से कृष्ण रति रस रूप में परिणित होती है। पञ्चाति विभावादि के साहित्य से रस साक्षात्कार का आस्वादन होता है।

भक्ति रसास्वादन का सौभाग्य सब का नहीं होता, 'रस ब्रह्मवत् वाणी व मन के अगोचर होने पर भी जिसकी प्राक्तनी आधुनिकी सद्भक्ति वासना है, उस भाग्यवान् द्रष्टा, श्रोता अभिनेता के हृदय में इस भक्ति-रस का आस्वादन होता है।

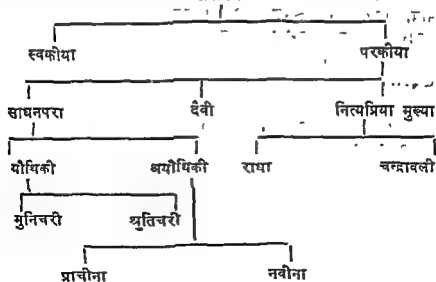
प्रस्तुत ग्रन्थ में नारिक चूड़ामणि श्रीकृष्ण ही विषयालिखन हैं। श्री

कृष्ण को छोड़कर और किसी में इस ज्ज्वोत्तम उज्ज्वल रस के पूर्ण नायक होने की सम्भावना नहीं है।

यह नायक प्रथमतः चार प्रकार है— धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत, व धीरशान्त, यह सब पूर्णतम, पूर्णतर, पूर्ण, भेद से द्वादश प्रकार के हैं। पुनः यह सब नायक पति व उपपति भेद से २४ प्रकार होते हैं। अनुकूल, दक्षिण, शठ, घृष्ट भेद से यह सब ६६ प्रकार हैं। इन ६६ प्रकार के नायक गुण-श्रीकृष्ण की लीला में ही विराजमान हैं।

रस के आलम्बन विभाव में नायिका भेद भी इसी प्रकार हैं। पहले तो नायिका के दो भेद हैं— स्वकीया, व परकीया,। कात्यायनी-व्रतपरा-गोपकन्याओं के साथ श्रीकृष्ण विवाह, गान्धर्व रीति से होने के कारण वे सब स्वीक्या है। इसके अतिरिक्त घन्यादि गोप-कन्यागण पितृ पालिता होने पर भी श्रीहरिवत्सला ही हैं। परोढ़ा गोपीगण तीन प्रकार की हैं। साधनपरा, दैवी, व नित्यप्रिया साधनपरा के दो प्रकार है— यौधिकी व अयौधिकी, यौधिकीगण-मुनिचरी व श्रुतिचरी रूप से द्विविध हैं, नित्य प्रियागण श्रीराधा, चन्द्रावली प्रभृति हैं— इस रेखा-चित्र से गोपीगण के विषय में सहज में समझा जा सकता है—

गोपीगण



चन्द्रावली से भी श्रीराधा की सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित हुई है। कारण श्री-राधा सर्वशक्ति वरीयसी व ह्लादिनी सार भावरूपा है एवं सुष्ठु कान्त स्वरूपा घृतपोडश शृङ्गारा व द्वादशभरणाश्रिता व. मधुरा, नववया आदि प्रधान पचीस गुणयुक्ता है।

प्राकृत परोढा भाव का हेयत्व है, किन्तु अप्राकृत कृष्ण सेवामयी गोपीगण का परोढा भाव श्रेष्ठ है। द्विभुज मुरलीधारी ब्रजेन्द्रनन्दन को छोड़कर अन्यत्र गोपियों का प्रेम सकुचित होता है। स्वीया, परकीया साधारणी भेद से तीन प्रकार की नायिकाएँ रसशास्त्र में वर्णित होने पर भी साधारणी नायिका का बहुनायक निष्ठत्व होने के कारण रसभास प्रसङ्ग होता है। कुब्जा साधारणी होने पर भी अन्यनायक से प्रीतिसंचारित नहीं हुई थी। इसलिये वह भी परकीया मानी गई है।

स्वीया व परकीया नायिकागण मुग्धा मध्या, प्रगल्भा भेद से त्रिविध हैं। मध्या व प्रगल्भा प्रत्येक ही घीरा अधीरा, घीरा २ इन तीन प्रभेदों से युक्त हैं। मुग्धा का कोई भेद नहीं है।

स्वीया परकीया भेद से नायिका कुल चौदह प्रकार की हैं एवं कन्या १ प्रकार की है यह जोड़कर नायिका भेद १५ प्रकार का है। यह १५ प्रकार की नायिका अवस्था भेद से प्रत्येक ही ८ प्रकार की होती हैं—अभिसारिका वासकपञ्जा, उरकण्ठिता, रवण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रेषितमर्तुका, व स्वाधीनमर्तुका।

सुतरा नायिकागण की संख्या १२० प्रकार की है। यह सब ब्रजेन्द्रनन्दन में प्रेम के तारतम्य से उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठा भेद से ३६० प्रकार की होती हैं। एकमात्र श्रीराधा में ही इन ३६० प्रकार की नायिकाओं के गुणों का सन्निवेश संभव है।

प्रायिकी व कदाचित्की लीला के समावेश से एक नाटक ग्रन्थ रचना करने की इच्छा ग्रन्थकार श्रीरूप गोस्वामीपाद की थी। किन्तु श्रीसत्यभामा व श्रीमन् महाप्रभु के आदेश से उन्होंने विदग्धमाधव व ललित माधव नामक दो नाटकों की पृथक् पृथक् रचना की है।

प्रायिकी लीला में ब्रज परिकर व पुरपरिकर अलग अलग हैं। परिकरगण भिन्न होने से जब श्रीकृष्ण ब्रज से पुर को जाते हैं तब ब्रजवासियों को जो विरह सत्पन्न होता है, उस विरह का व्यवसान होने से रस की

पुष्टी भी नहीं होती। इसलिये ही भागवतगण, मिथ्यान्त करते है कि—
अप्रकट प्रकाश में श्रीकृष्ण वृन्दावन को न छोड़कर सदा ही ब्रज में कीड़ा
करते हैं, एवं प्रकट प्रकाश में श्रीवृन्दावन को छोड़कर पुर-गमन एवं पुर से
ब्रज में प्रत्यागमन करते हैं।

श्रीकृष्ण के ब्रज से पुरगमन करने से ब्रज में तीन मास व्यापी विरह
रहा था। उस विरह-जनित वचान्ति के उद्रेक में जब ब्रजवासियों का चित्त
अत्यन्त अधीर हो उठा तब श्रीकृष्ण उद्धव आदि से अपना समाचार भेजने
के साथ स्वयं ब्रज में चले आये। उनका इस प्रकार आविर्भाव होने से ब्रज-
वासीगण ने पुरगमन वृत्तांत को स्वप्नवत् अनुभव किया। इसके बाद श्री-
कृष्ण ने ब्रज में आकर दो मास प्रकट विहार करने लिये लीला में अवस्थान
किया। उस समय अर्थात् जिस समय श्रीवृन्दावन लीला अप्रकट होती है,
पुरलीला प्रकट रहती है। किन्तु श्रीमद्भागवत में इस विषय का वर्णन
सुस्पष्ट रूप से न होने के कारण ब्रजोपासकों को निरतिशय कष्ट होता है।
उक्त कष्ट के निवारण के लिये ही रूपगोस्वामी जी कादचित् की लीला
का अवलम्बन कर एक नाटक की रचना कर रहे थे।

कादचित्की-लीला में ब्रजपरिचर व पुरपरिकर अभिन्न ही हैं।
अतएव उक्त लीला में श्रीकृष्ण के ब्रज से पुर में आने पर भी ब्रजवासीगण
श्रीकृष्ण को पुर में प्राप्त कर विरह सन्ताप से मुक्त हो जाते। इस रीति
से रस की पुष्टि भी पूर्ण रूप से होती किन्तु सत्यभामा देवी ने ब्रज-
लीला को ब्रज में एवं पुरलीला को पुर में ही परिसमाप्ति करने का आदेश
किया।

प्रायिकी लीला के अनुसरण को छोड़कर ब्रजलीला की ब्रज में समाप्ति
नहीं होती। इसलिए प्रायिकी लीला के अनुसार ही ब्रज लीला-मय 'विदग्ध-
मापय' नाटक व कादचित्की लीला के अनुसार पुर लीला-मय 'ललित-
मापय' नाटक की रचना उन्हें करनी पड़ी।

और भी एक कारण यह है कि प्रेमातिशय-नियन्धन ब्रजधाम में
श्रीकृष्ण पूर्णतम और मधुरा में वासुदेव पूर्णतर एवं द्वारका में पूर्ण हैं।
यदि विरहापनोदन के लिए नित्य वृन्दावन में श्रीकृष्ण का अवस्थान ही स्वी-
कार्य हो, उतमें भी लीला-शक्ति की अचिन्त्य शक्ति से विरह की सम्भावना

होती है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि श्रीब्रजेन्द्रनन्दन ही कार्य विशेष के लिये व लीला विशेष साधन के लिये मथुरादि स्थानों में गये थे तो इससे भी हानि क्या है ?

इस सम्बन्ध में नैष्ठिक भक्तगणों का विचित्र सिद्धान्त यह है कि श्रीवृन्दावन में ही प्रेम-माधुर्यमय श्रीभगवान का स्वयं रूप नित्य विद्यमान हैं। अन्यत्र यह आकार, यह वेश, यह भाव अनीव आस्वाभाविक है। एक स्थान की वस्तु, दूसरे स्थान में रखकर चिन्तनरत होने से भाव-विरोध भी अनिवार्य होता है। इस उक्ति से ही नाटक वर्णन की घटना परिवर्तित हुई।

ग्रन्थस्थ श्लोक समूह अपूर्व भाव-माधुर्य विमर्षित हैं, जिसका “तुण्डे ताण्डविनी” आदि श्लोकों के आस्वादन से सपरिकर श्रीमन्महाप्रभु का जो आनन्दोच्छ्वास हुआ, व परिकर वर्ण की इस ग्रन्थ को आस्वादन कराने की जो तीव्र वासना हुई एवं यह कैसे फलवती हुई यह सब विषय विवरण “श्रीचैतन्यचरितामृत” अन्त्य खण्ड के प्रथम परिच्छेद में वर्णित हैं।

अन्त में, मैं हकीमजी को आशीर्वाद देते हुए उनसे यह आशा करता हूँ कि वे श्रीरूपगोस्वामीपाद की द्वितीय रचना “सलिल-माधव” नाटक का भी हिन्दी अनुवाद कर शीघ्र प्रकाशित करेंगे। जिससे हिन्दी रसिक समाज श्रीकृष्ण की लीलाद्वय का परिपूर्ण आस्वादन कर सकें।

श्रीरूपगोस्वामी तिरोभान तिथि

११ - ८ - ७३

श्रीगौरगदाधर, मन्दिर

कालियदह, वृन्दावन

श्रीहरिदास शास्त्री





श्रीविदग्धमाधवीयश्लोकानुक्रमणिका



पृष्ठ श्लोक

अकरुण मुक्किकञ्च	६१ ५४
अकलितपातस्तरणे	२४१ ५
अकारुण्यः कृष्णो यः	८४ ४७
अक्ष्णोर्द्वन्द्वं प्रसरति	६५ ४
अग्ने त्रीक्ष्य शिखण्ड	५७ १५
अङ्गात्परित्यज पुरः	२५६ १४
अङ्गरागेण गौराङ्गी	३४७ ५६
अङ्गोष्ठीर्णविलेपनं	७८ ४२
अजङ्घः कम्पसंपादो	४२ ३५
अजनितशासन	१८१ २
अजनि विमुखः शङ्खे	१६१ १२
अज्ञायान्तं धनमपि	२१८ १८
अनपित्तचरी चिरात्	२ २
अनुपममति यामे	३२६ ५०
अन्तः कन्दलितादर	३४६ ६२
अन्तःक्लेशकलङ्किता	७३ ३७
अपा,पत्युः पुष्टीकर	१३६ ५३
अप्रेक्ष्य क्लममात्मनो	७ ५
अभ्रमलिहम्म डहरो	१०६ १४
अमिव्यक्ता मतः प्रकृति	८ ६
अभिर्भं पिबसि सुमहुरं	२१२ २६
अमितविभवा यस्य	१०५ १७
अयं नयनदण्डित	१६ १७
अयमत्र निसर्गशीतलः	१२३ ४१
अयमुच्चशिराः कदम्ब-	३०३ १६
अयं पुरः स्मेरमुखार-	२६८ ६

-पृष्ठ श्लोक

अयि सुधाकरमण्डलि	२५३ - ६
अरति मम निशि पश्य	१६१-३०
अवि गरुडस्स सिङ्गम-	११६ ३२
अविरलवनमाला	१६६ ३६
अष्टाभिः श्रुतिपुटकै-	२६ २८
असूया चण्डाली हृदि	३३३ ५२
असौ दृग्भङ्गीभिः कु	८६ ४६
अस्मिन्नेकसरोजसभ्र	२७३ २६
अस्मिन्मदोषकर	३२५ ४३
अहह कमलगन्धे	२३-२७
अहीनो भ्रूगुच्छः	१२६ ४२
अहो धन्या गोप्य	११३-२८
आकृष्टानि कटाक्ष	८७ ५०
आडम्बरोज्ज्वलगति	६६७ २१
आलोना प्रतिहारो	१०१ १०
आसङ्ग कुमुदाकरेषु	१५६ २६
आहर गौरीतीर्थे म-	२८८ ४
इय सखि सुदुःसाध्या	५२ ८
इयमतिवृषितं वरा-	२५७ १५
उत्तीपरर्णा ममया	३४८ ६०
उत्फुल्लमूर्तेः सम-	२८६ -६
उदासतां नाम रता	१० ६
उदिते हरिर्वक्रेन्दो	२६ २६
उदोणरागेण कर-	७४ ३८
उद्गुरमरन्दमता	२३० ५२
उन्मदेन पुरतः शि-	१४१ ६

पृष्ठ श्लोक

पृष्ठ श्लोक

उल्लसति फुल्लमाक्षी ३११ २७
 एकां प्रयाति परिचर्यं १५४ २०
 एकरूपं श्रुतमेव ५३ ६
 एकं धीमदि रोम्बे ३०८ २३
 एष रथैर्यंभुजगसाङ्ग ४३ ३७
 एषा तान्ति कयतिनी ८१ ४४
 कणा गुक्ता मृक्तायलि २८० १४
 कठोराय भूयो यण २८१ १५
 कनक्यानी जुम्भाभर २८३ १
 गानकादिनिकेतकेत ६४ १६
 गापटी न लताकुटी १६० २७
 कारवाणि हन्ता दिव्यं ३०७ २०
 कारेणास्तस्तुष्टया श २०१ १६
 कर्णप्रग्रमिदं स्त्रीरिह १२३ ४०
 कर्णाग्ने न कृता प्रियो १८७ ६
 कर्णान्दोनितमुगा ३१८ ३३
 कर्णार्द्राव्रतकमला ३२८ ३२
 कर्णोर्ध्वमितररक्तपङ्क २२५ ४४
 कारतादग्रजमण्डलेऽथ ७२ ३५
 करद्वारिबेध पुरयस्य २२१ ३६
 कामं गदगुणमण्डमाध ६७ ७
 किं रागेव पुरतमिच्छति १३६ ३
 किं स्वप्नं विस्तथाना ४६ ४
 किं चन्दनेन कुचयो १२६ ४४
 किं ताफरीं मुयतिमान २०६ २२
 किमियं सुपमा ययु ३१८ ३१
 कुहं कृषतमं कर्षोत्तङ्गे ३२४ ४२
 कृतं गोरीकुन्दैरिह ३ ३
 कृतो भक्तिस्तेदं २० ५
 कृत्वा यंशोमसित १२६ २

क्षमिरपि नमितात्मा १८८ ८
 कृष्णाङ्गसंगममित ३३३ ४३
 केनापि धूर्तपतिना ६८ ८
 केसरनिकुञ्जकुहरे १६१ २६
 कमात्कक्षामक्ष्णोः २७२ २४
 क्षूराणामलिनां कुल ४६ १
 क्रोशन्त्यां करपल्ल ६१ २१
 यलान्तेन ते वदत १६८ ३८
 क्वचिद्भृङ्गीत गीतं ३० ३३
 क्व सपस्तगा ममा ३३ ४८
 क्षणमपि न सुहृद्भिः १६२ १४
 क्षोणीं पङ्क्तिरयन्ति ४२ ३६
 गतानां राधामाः स्तन ११८ ३४
 गद्यं रम्यं जहि ओ २७६ ३३
 गर्वोदयाः कलमवि १६३ १६
 गृहान्तः खेलन्त्यो नि- ८३ ४६
 गोकुलरामाप्रेयसि ३४० ५६
 गोपेश्वरस्य तनयो ६६ ५
 गोभ्यः शपे किमपि २१ २०
 ग्लपयति वपदुर्लभो १०६ २२
 चक्रं वशीकृतवतः ३१६ ३५
 चञ्चामीनविलोच- १७१ ४१
 चञ्चलसंज्ञाघण वि २२२ ३७
 चन्द्रमव मुखविम्बं १४३ ८
 चन्द्रावतीं मामनुरुध्य ३११ २८
 चन्द्रावतीवदन १४६ १२
 चन्द्रिकां चन्द्रेणा ८८ ५२
 चम्पकतदं मिमिक्ष १६३ १२
 चम्पकतवङ्गवकुता ३३१ २१
 चिन्तीया रजति रजित ३२३ ४४

पृष्ठ श्लोक

चिन्तासंततिरयं ... ४७ २
 चेतस्तोम्यति मे भयो ... ११६ ३५
 छिन्नः प्रियो मणिसरः ... ६४ ३
 जगति किल विचित्रे ... १८३ ३
 जरत्यास्त्वे नाप्यत्रो सं तु ... १०४ १५
 जलई सही मह राहा ... २१६ २८
 जेतस्तम्भतयो पर्यासि ... २५ २५
 जितचन्द्रपरांगचन्द्र ... २३ २२
 णमैकणिकारकुसुमे ... २२६ ५१
 णमैपडमिणीसहस्र ... ३४१ १३
 नवं स्तवकल्लरी ... २४६ ३
 तवानुकारासुवेल ... २१५ २७
 तस्य पौडशकलस्य ... १४६ ११
 तस्याः कान्तिर्द्युतिनि ... ६७ ३१
 तस्याः सखे मुखसुसार ... ६७ ३०
 तस्योरस्तेटमण्डल ... ८२ ४५
 ताम्बूलं धनसारं ... १६० २८
 तिभिरमसिभिः संवी ... १५७ २२
 तुङ्गस्ताम्रोद्युङ्गः ... २४८ ८
 तुङ्ग राहिमाए ज्जैव ... ६६ ६
 तुण्डे तण्डविनि ... १७ १५
 तुह संगमेण पूणे ... २४६ ५
 त्रपया नितरां परा ... ६४ २
 त्रपाभिचरणक्रमे ... २५४ ११
 त्वदातोन्निरगीत ... १०८ १८
 त्वन्मुखसदभोग्लपिता ... २२६ ४६
 त्वमुग्रदं राधास्त ... ११४ ३०
 त्वयानीतो वीर्य ... ६२ २२
 त्वयाहृतः पाश ... १२० ३६
 दधाना मध्याह्नज्वल ... २१० २४

पृष्ठ श्लोक

दरविचलितबाल्या ... ५६ १३
 दरोन्मीलत्रोलोत्प ... ५० ६
 दिव्यी रथाङ्गि समयः ... २४७ ६
 दूरादप्यनुपेक्षतः ... ११० २३
 दृग्मङ्गिनां किमुप ... ११२ २७
 दृष्टं विम्बितघातु ... १३८ १
 देहं ते मुवनान्तराल ... ३६ ३३
 दैवतसेवा केवलमिह ... १८ १६
 दोषोदोर त्वमपि कुरु ... ६१ २७
 धन्यास्ता हरिणीदेशः ... १८७ ७
 धम्मिल्लोपरि नील ... १५६ २१
 धरिर्ग पडिच्छन्द ... ७० ३१
 धारा वाष्पमयी न याति ... २१७ ३२
 धावन्त्याः श्रुतिशेकुली ... १२२ ३६
 धूलिधूसरितचन्द्रका ... १७३ ४६
 धृतपद्मोत्सवसतीति ... ३०० १२
 ध्यात्वा धर्मं धृति ... १०७ २१
 ध्येयेन मुक्तवृन्दस्थ ... ३२५ ४६
 न काचिगोपीना भवति ... १७५ ४६
 न जानीये मूर्धश्च्युते ... ६६ २७
 नन्दसिन्धुरवाणन्दु ... ३५० ३
 न मुग्धे वैदग्ध्यगिरि ... ५५ ११
 नम्रीकृत्य शिरो मुहु ... १११ २५
 नवमनसिजलोत्ता ... २५७ १६
 नवरसधारिणी सधुरे ... १६२ ३१
 नवीनाग्रे नप्यत्रो चटुल ... १७८ ५०
 न सतापे स्वान्ता ... १४७ ४
 नादः कदम्बविटपा ... ४१ ३४
 नलीकिनी निशि ... १०७ १३
 निकुञ्जं वसारेवत ... १६८ ३७

गृह श्लोक	गृह श्लोक
द्राम्येऽपि सखि ... १६५ ६४	यत्नादवगोलंभोः कवत ३७ ३२
नर्षोक्तानां निखिल ... ६० ५३	यत्नानुज कसापिना ... २६८ २३
निन्दुषु भव मृदो ... २१७ ३१	यत्नवीनवत्तासु ... १४ १४
नोत्र ते पुनरुक्ततां ... ३१२ ४८	नादं तत्त्वमविशाय ... ३३८ ५४
नैरक्षन्ममुपेयतुः ... ३२२ ४१	काले श्रीमन्मवोषस ... १६६ ३१
नैसर्गिकमपि नि ... १०६ ३०	भक्तानामुदवादनबल ... ६ ८
न्यविशति न्यमानो ... १४८ १३	भजन्याः सद्योऽ कव ... ५६ १६
पुष्टरदरगतन्वच्छो ... २५ २६	भमरस ताव ... ३०६ २५
प्रदिग्धास्ते सुमुखि ... १७५ ५१	भवद्भक्तसङ्गविषये ... ३०३ १४
परतनुपवेसविन्वा ... १६० १०	भविता सविशेष ... २५६ १३
परामृष्टांगुष्ठमय ... ६३ १	भूयो भूमः कमिवि ... १६२ १४
परिपततवरजोष ... २२६ २०	भ्रमद्भक्तवल्लीकौ प्रति ... ६६ २६
परोक्षं श्रुयेय स्फुट ... २६० १६	भ्रमरेऽपि मुञ्जवि ... १५२ १७
पिबन्तीनां वंशीरव ... २४८ ७	भ्रूभेदः स्मितसंदूतो ... ३२१ ६६
पीडाभिनंवाकावृष्ट ... ६० १८	भृषुपः कमलेन सार्य ... २२५ ७२
पीतं न वागमुज्जम ... ६२ ५६	भृशुरासि मुषाव ... २३६ ४५
पीतासिपुष्पविस्तरा ... २३० ५३	मनोहारी कोऽपि प्रति ... २११ २५
पुरः कलामामासा ... १५५ १८	मनोहारी हारस्सलित ... ३०४ ४२
प्रणयिषु मिमितेषु ... १०१ ११	मम राधा निसर्गस्य ... ६६ १८
प्रान्ताहुरप मुनिः क्षण ... ५६ १७	मम बाहूरेहि वृन्दे ... ३०६ २३
प्रभुहेन पराहता नु ... १११ २४	मम संभयामुतरसं ... २३१ २५
प्रथम्युपमृदमाधुरी ... ३४८ ६३	ममोस्मिन्मन्दमं यदपि ... ७ ४
प्रपन्नमधुरोदकः ... ६ ७	मं परिहरद मुदन्तो ... ७६ ४३
प्रमदरसतरङ्गवैर ... ८८ ११	मया ते निर्वन्धान्मुर ... १०४ १६
प्रसरति यद्भक्तप्रे ... १५० १५	मित्रे विन्निवमनुषा ... ३०१ १४
प्रमनैरनुजोः कान्ता ... २०६ १	मुक्तानामुपलम्ब ... १३५ २१
प्रतिपूजयामि यद्विदुः ... ३१२ ४०	मुक्तानामिषिषं मदी ... १७० ४०
प्रारब्धे पुरतः परीक्ष ... ११७ ३३	मुदा सिर्ताः पथोत्तरव ... २३६ १
प्रियसखि परिरम्भा ... २०६ ३२	मुद्रां धर्ममयी क्षण ... १८० २१
फुल्लप्रसूतपटवै ... ६४ २५	मुषा मानोन्नाहा ... २१७ ३०

पृष्ठ श्लोक

पृष्ठ श्लोक

मुधा शङ्कामन्धे १३० ४६
 मृदुरपि निसर्गत १६२ १३
 मेघ्योऽपि माधविक १६० ११
 मतिः प्रेमोदात्तः सुच- ६० १६
 यत्न प्रकृत्या रतिरुत्त ६८ ३२
 ययार्थेयं बाणो तव १४५ १०
 यदगलितमरन्दं वर्त २७५ २८
 यदर्थं संकीर्णं पतसि ८५ ४८
 यदवधि तदकस्मादे ६३ २४
 यमुनातीरकदम्बाः १८६ ६
 यद्वि वद्वि न पाणिना १८४ ५
 यस्मिन्नेव सरोरुहाङ्ग- १७३ ४५
 यस्योत्सङ्गमुक्ताश्रया ७८ ४१
 यस्योपलभ्य गन्धं ३०४ १६
 या निर्माति निकेतकर्म १६६ ३५
 ये दण्डपाशभाजः २२१ ३५
 रचय बहुलपुष्पै १५८ २४
 रागिणमपि सुकठोरं ७५ ३६
 राधा पुरः स्फुरति , २०० १८
 राधामाधवयोर्मध्यां ३२२ ४१
 राधाविलास वीणाङ्कः ३४६ १
 रुधिरसहचरीणां , २६७ २२
 रुद्रः क्वापि सखीहिता १५८ २५
 रुग्धन्मृदुभृतश्चम २६ २७
 रे ध्वान्तमण्डल सखे- २७७ ३१
 रोमाञ्चः परिचेप्यते , ५५ १२
 रोलम्बीनिकुरम्भ ३०७ २१
 रोहिण्याधरशोभया २१६ २६
 लब्धं मामवलोक्य त २६८ १०
 ललिताजनि दुर्ललिता १७२ ४३

लोकोत्तरा गुणश्रीः १३ १३
 वदनदीप्तीविधूत ११२ २६
 वनासक्तं चेतः प्रणः १७४ ४७
 वन्यान्तर्गुह्यपलं १७१ ४२
 वशीकृतात्मास्मि वंशी ३८५ ५७
 वशीचक्रे कृष्णस्तव २५८ १७
 वहन्ती कापायाम्बर- ११ ११
 वहन्ती मञ्जिष्ठारुणित- ३२५ ४६
 काम्यादभवेन विर- १६३ ३३
 वारिसहाणइ लच्छी- २०३ २१
 वासन्तीमिरयं न मे- २२७ ४७
 विक्रीडन्तु पटीरपर्व ५१ ७
 विघूर्णन्तः पौष्पं न- २७५ २६
 विजोदन्ती राहा- ३१० २५
 वितन्वानस्तन्वा भरकर्त- ४६ ३
 विदूरादालोक्य- ११३ २६
 विदूराद्गघ्राणं मद- १५७ २३
 विघ्नं कंसारिः सखि- १२५ ४३
 विधिः पद्मे पादो नवकद ३३८ ५५
 विधुरेति शिवा विरूप २०३ २०
 विध्वंसयति हि पुंसां ३४६ ५८
 विपिनान्तरे मिलन्ती- १८४ ६
 विरतोमिरयं सुनीरजा २२५ ४०
 विशद्भिः कर्णान्ते तव २५४ १०
 विशालगोशालैर्वह- २० १६
 विसृमरापरितो हरि- ३२० ३६
 वृन्दावन दिव्यलतापरी २४ २४
 व्यक्ति गतामिरमितो ३२० ३७
 व्यक्ति गते मम रहस्य- २०८ २३
 शङ्के चिरात्किमपि १३१ ४७

पृष्ठ श्लोक

पृष्ठ श्लोक

निद्रागमेऽपि रात्रि ॥ १६५ ३४
 निर्घोतानां निखिल ॥ १६५ ३५
 निष्पुत्रा भव मृद्वी ॥ १६५ ३६
 नीतं ते पुनरुक्ततां ॥ १६५ ३७
 नैरक्षन्ममुपेयतुः ॥ १६५ ३८
 नैसर्गिकाप्यपि नि ॥ १६५ ३९
 न्यविशति नयनान्ते ॥ १६५ ४०
 पञ्चदशगलन्दच्छी ॥ १६५ ४१
 पप्रिन्मास्ते सुमुखि ॥ १६५ ४२
 परतणुपदेसविज्जा ॥ १६५ ४३
 परामृष्टांगुष्ठतय ॥ १६५ ४४
 परिणतवरवीज ॥ १६५ ४५
 परीतं शृणोण स्फुट ॥ १६५ ४६
 पिबन्तीनां वंशीरव ॥ १६५ ४७
 पीडाभिर्नवकालकूट ॥ १६५ ४८
 पीत न वागमृतमस ॥ १६५ ४९
 पीतासिसूक्ष्मशिखरा ॥ १६५ ५०
 पुरः कलायामाशा ॥ १६५ ५१
 प्रणमिषु मिलितेषु ॥ १६५ ५२
 प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं ॥ १६५ ५३
 प्रत्यहं पराहता नु ॥ १६५ ५४
 प्रययन्गुणवृन्दमाधुरी ॥ १६५ ५५
 प्रपन्नमधुरोदय ॥ १६५ ५६
 प्रमदरसतरङ्गस्मेर ॥ १६५ ५७
 प्रसरति यद्भूचये ॥ १६५ ५८
 प्रसूनैरद्भुतैः कान्ता ॥ १६५ ५९
 प्रातिपल्यमिष यद्विवृ ॥ १६५ ६०
 प्रारब्धे पुरतः परीक्ष ॥ १६५ ६१
 प्रियसखि परिरम्भा ॥ १६५ ६२
 फुल्लप्रसूनपटले ॥ १६५ ६३

बलादक्ष्णोर्लक्ष्मीः कवल ॥ १६५ ३४
 बलानुज कलापिना ॥ १६५ ३५
 बल्लवीनवलतासु ॥ १६५ ३६
 बाढं तत्त्वमविज्ञाय ॥ १६५ ३७
 बाले गोकुलयोवत ॥ १६५ ३८
 भक्तानामुदगादनगल ॥ १६५ ३९
 भजन्त्याः सत्रीडं कथ ॥ १६५ ४०
 भमरस्त ताव ॥ १६५ ४१
 भवदङ्गसङ्गविषये ॥ १६५ ४२
 भविता सविधेऽत्र ॥ १६५ ४३
 भूयो भूयः कलिवि ॥ १६५ ४४
 भ्रमद्भ्रूवल्लीकैः प्रति ॥ १६५ ४५
 भ्रमरेऽपि गुह्यति ॥ १६५ ४६
 भ्रूभेदः स्मितसंवृतो ॥ १६५ ४७
 मधुपः कमलेन सार्धं ॥ १६५ ४८
 मधुराक्षि मुष्माय ॥ १६५ ४९
 मनोहारी कोऽपि प्रति ॥ १६५ ५०
 मनोहारी हारस्त्रलित ॥ १६५ ५१
 मम राषा नितर्गस्थं ॥ १६५ ५२
 मम बाहुरेहि वृन्दे ॥ १६५ ५३
 मम संगमामृतसं ॥ १६५ ५४
 ममास्मिन्संदर्भे यदपि ॥ १६५ ५५
 म परिहरद् मुञ्चन्दो ॥ १६५ ५६
 मया ते निबन्धन्मुर ॥ १६५ ५७
 मित्रे विचित्रमनुरा ॥ १६५ ५८
 मुक्तानामुपलभ्य ॥ १६५ ५९
 मुक्ताभूतनिमिषं यदी ॥ १६५ ६०
 मुदा क्षिप्तः पर्वोत्तरल ॥ १६५ ६१
 मुद्रां धैर्यमयी क्षणं ॥ १६५ ६२
 मुष्मा मानोन्नाहा ॥ १६५ ६३

पृष्ठ श्लोक	पृष्ठ श्लोक
मुधा शङ्कामन्धे १३० ४६	लोकोत्तरा गुणश्रीः १३ १३
मृदुरपि निसर्गत १६२ १३	वदनदीप्तीविधूत ११२ २६
मेध्योऽपि माघविक १६० ११	वनासक्तं चेतः प्रणः १७४ ४७
यतिः प्रेमोदात्तः सुच- ६० १६	वन्यान्तर्गुरुचापलं १७१ ४२
यस्य प्रकृत्या रतिरुत्त ६८ ३२	वशीकृतात्मास्मि वंशी ३८५ ५७
यथार्थं वाणी तव १४५ १०	वशीचक्रे कृष्णस्तव २५८ १७
यदगलितमरन्दं वर्तं २७५ २८	वहन्ती कापायाम्बर- ११ ११
यदर्थं सकीर्णं पतसि ८५ ४८	वहन्ती मल्लिष्ठावणित- ३२५ ४६
यदवधि तदकस्मादे ६३ २४	काम्यादमवेन्न विर- १६३ ३३
यमुनातीरकदम्बाः १८६ ६	वारिसहाणइ सकृद्योः २०३ २१
यष्टि वष्टि न पाणिना १८४ ५	वासन्तीभिरयं न मे ३२७ ४७
यस्मिन्नेव सरोरुहाङ्ग- १७३ ४५	विक्रीडन्तु पटीरपर्व ५१ ७
यस्योत्सङ्गसुखाशया ७८ ४१	विधूर्णन्तः पौष्पं न भ- २७५ २६
यस्योपलभ्य गन्धं ३०४ १६	विज्जोदन्ती राहा ३१० २५
या निर्माति निकेतकर्म १६६ ३५	वितन्वानस्तन्वा मरकत- ४६ ३
ये दण्डपाशमाजः २२१ ३५	विदूरादालोक्य ११३ २६
रचय बकुलपुष्पं १५८ २४	विदूराभघ्राणं मद- १५७ २३
रागिणमपि सुकठोर ७५ ३६	विघ्नो कसारिः सखि- १२५ ४३
राधा पुरः स्फुरति , २०० १८	विधिः पद्मे पादौ नवकद ३३६ ५५
राधामाघवयोर्मध्यां ३२२ ४१	विधुरेति दिवा विरूप २०३ २०
राधाविलासं कीटाङ्कः ३४६ १	विध्वंसयति हि पुंसां ३४६ ५८
रुचिरसहस्रीणा २६७ २२	विपिभान्तरे मिलन्ती १८४ १६
रुद्धः क्वापि सखीहिता १५८ २५	विरतोभिरियं मुनीरजा २२५ ४०
रुण्यन्नम्बुभृतश्चम २६ २७	विशङ्किः कर्णान्ते तव २५४ १०
रे ध्वान्तमण्डल सखे २७७ ३१	विशालेर्गोशालेर्वह- २० १६
रोमाञ्चः परिचेप्यते ; ५५ १२	विसृमरा-परितो हरि- ३२० ३६
रोलम्बीनिकुरम्ब ३०७ २१	वृन्दावनं दिव्यसतापरी २४ २४
रोहिण्यापरशोभया २१६ २६	व्यक्ति गताभिरमितो ३२० ३७
सद्यं भामवलोक्य त २६८ १०	व्यक्ति गते भम रहस्य २०८ २३
ललिताजनि दुर्ललिता १७२ ४३	शङ्के चिरात्किमपि १३१ ४७

पृष्ठ श्लोक

शङ्खे पङ्कजसंभवोऽपि ३१७ ३०
 शङ्खे सकुलितान्तराद्य ३७२ २५
 शरदि मुखरिता २४० १४
 शशी व्योमोत्सङ्ग १३४ ५०
 शान्तश्रियः परमभाग ३५० ३
 शिशिरय दृशो दृष्ट्वा ६२ २३
 श्रुत्वा निष्कुरतां ममे ७७ ४०
 श्रेणीभूतवपुः श्रिया २० १८
 सखि कुण्डलीकृतशिखण्ड ३१६ ३४
 सखि जल्पितनारिकेल १०२ १२
 सखि निर्भरमनुरक्ताः १२१ ३७
 सखि मुरलि विशाल १४२ ७
 सङ्गमे मधुमङ्गलो ७३ ३६
 सहस्तसहिरण्यपिण्ड १०७ १६
 सहस्तस्तद्वज्रनि १६३ १७
 सप्यो सप्यह भिक्ष २२८ ४८
 समजनि दवाद्वित्रस्ता २२७ ४६
 समदमधुपलौल्यो ३०३ १५
 समन्तान्मे कीर्तिमुंश्च १२१ ३८
 समरोद्धरकामकामुं ३२८ ५१
 समाव्यते फलमलम्भि १२ १२
 सर्वत्र प्रथमरसस्य १८७ २
 सव्ये गिरिः स्फुरति ३१२ २८
 सहस्ररि वृषभानुजया ३१० २६
 अ हरिति भवतोमि ३७५ २७
 आ कल्याणी कुल ५७ १४
 साचोकताङ्गमिह २६७ ८
 साध्वीना धुरि धार्या २६१ २०
 सान्द्राः सुप्तकुमुदतो १०० २०

पृष्ठ श्लोक

सा मुखसुषमा निजित	१५१' १६
सा सौरभोमिपरिदिग्ध	५४' १०
सुगन्धो माकन्दप्रकर	२४' २३
सुधाना चान्द्रीणामपि	१' १
सुन्दरि बिन्दुच्युतके	१७५' ४०
सूतिस्ते घनुषश्च	२५५' १२
सूर्यपुरतहिअंभा	३०६' १४
सेवन्ते तस्मैहिनः	२२३' ३८
सोत्कण्ठ सुरलोकला	१२०' ३०
सोऽयं वसन्तसमयः	११०' १०
सौहरागपूणिमाहे	३६६' ०८
स्तोत्रं यत्र तटस्थता	१८३' ४
स्निग्धैरेभिः सखिभिर्दुखितै	७१' ३४
स्नेहः शोककृशानो	१८१' १
स्पृशन्त योभेधानघनै	११५' ३१
स्फुरति सरो वक्षिणतः	१४८' ४४
स्मरन्कीडालुब्धः पशुपु	१५' ३३
स्मित वितनु माधवि	२१६' ३४
स्मितविविराजिनं ते	२२४' ४१
स्मेरा कपोलपाला	३३६' ५४
स्वमिषमुष्णुणा ते	१७२' ४४
स्वस्य प्रेममणीना	३०४' १७
हृष्टिणाभिलष्यमाणा	३०६' ५६
हरिणीविटम्बयसि	२२३' ३६
हरिणो समप्पिअ तण्	१३३' ४६
हरिरेयन चेदवातरि	२८८' ३
हित्वा द्वारे पयि घव	१००' ६
हृदि ताडितोऽपि दाडि-	६१' ५५
हृदभृङ्गजङ्गमलता	१५३' १६

ॐ श्रीगौराङ्गविष्णुर्जयति ॐ

श्रीश्रीलरूपगोस्वामि प्रभुपाद प्रणीतम्

श्रीविदग्धमाधव-नाटकम्

प्रथमोऽङ्कः

सुधाना चान्द्रीणामपि मधुरिमोग्मावदमनी
दधाना राधादिप्रणयघनसारं सुरभिताम् ।
समन्तात्सन्तापोद्गमविषमससारसरणि
प्रणीता ते तृष्णा हरसु हरिलीलाशिलरिणी ॥१॥१॥

अनुवादक-मंगलाचरण

वन्देऽह श्रीगुरो धीयुतपदकमल श्रीगुरुन वैष्णवाश्च
श्रीरूप साधुभात सहगण रघुनाथान्वित त सजीवम् ।
साह्रं ॥ सावधूत परिजनसहित कृष्णचैतन्यदेव
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगण ललिता श्रीविशाद्याम्बिताश्च ॥
घाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतिताना पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नम ॥

श्रीकृष्ण-लीला रूप शिलरिणी चन्द्र-सुधा के माधुर्य का मान खण्डन करने वाली है और श्रीराधा आदि व्रजगोपियों के प्रेमरूप कपूर से मुगन्धित है । वह श्रीकृष्ण-लीला, निरन्तर तीन-तापो को देने वाल मसार-पथ में भटकने वाले तुम लोगों की तृष्णा को नाश करे ॥ १ ॥ १ ॥

सात्पर्य—दही, दूध, चीनी, इलायची, लींग, काली मिरच और कपूर मिलाकर बनाये जाने वाले पदार्थ को शिलरिणी या मिश्ररस कहते हैं ।

अपि च ।

अनपितचरौ चिरात्करुणयावतीर्णः कलौ

समर्पयितुमुन्नतोऽज्वलरसां स्वभक्तिभियम् ।

हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसंदोषितः

सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः ॥२॥२॥

शिखरिणी अत्यन्त सुस्वादु, स्निग्ध, सुगन्धित और सुशीतल पदार्थ है जो ताप और प्यास को बुझाता है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण-लीला को शिखरिणी की उपमा दी गई है। तेज घूप में रेतोले मार्ग में चलने वाला व्यक्ति जब गर्मी से सतप्त और तृष्णातुर हो उठता है तब उसे ऐसा शीतल सुगन्धित पदार्थ ही सुख देता है। उसी प्रकार संसार में अनेक योनियों में भटकने वाला यह जीव भी आध्यात्मिक (आधि-मन की चिन्ता और व्याधि-शरीर के रोग) आधिदैविक (भूत-प्रेत, ग्रहादिकों की पीड़ा) तथा आधिभौतिक (सिंह-साप आदिक का भय)—इन तीनों प्रकार के तापों से सन्तप्त हो रहा है और अनेक प्रकार की कामनाओं के बशीभूत होकर तृष्णातुर मटकता है। इसके लिए श्रीकृष्ण-लीला रूप शिखरिणी तीनों तापों को नाश कर नित्य सुख को प्रदान करने वाली है।

इस श्लोक में श्रीरूपगोस्वामिपाद ने आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण किया है। मानो प्रत्येक संसारी जीव को वे कह रहे हैं—अरे त्रिताप-सन्तप्त जीव ! श्रीकृष्ण-लीला का नित्य श्रवण-कीर्तन एवं मनन कर ससार ताप से छुटकारा पा एवं शाश्वत सुख-शान्ति को प्राप्त कर। अथवा श्रीकृष्ण-लीला से ही वे प्रार्थना कर रहे हैं—हे कृष्ण-लीले ! आप ही करुणा कर इस संसारी जीव के सब ताप-सन्ताप दूर करो ॥ १ ॥ १ ॥

अनन्त काल से जिस को किसी ने प्रदान नहीं किया है, उस परम उज्ज्वल रसमयी अपनी भक्ति-सम्पत्ति को देने के लिए जो अपनी करुणा से कलियुग में अवतीर्ण हुए हैं, स्वर्ण की कान्ति-राशि से देदेप्यमान वे श्रीगङ्गानन्दन-हरि अर्थात् श्रीकृष्णचैतन्य देव सदा तुम्हारी हृदय-कन्दरा में स्फुरित हो ॥ २ ॥ २ ॥

सात्पर्य—“श्रीगङ्गानन्दन-हरि कृपापूर्वक सबके हृदय में स्फुरित” —मह आशीर्वाद जगत् के प्रति श्रीरूपगोस्वामिपाद ने किया है।

जिस परम उज्ज्वल रसमयी भक्ति-सम्पत्ति को दीर्घकाल से जगत् को प्रदान नहीं किया गया था, उस निज भक्ति-सम्पत्ति को देने के लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपनी करुणा से कलियुग में श्रीकृष्णचैतन्य रूप से अवतीर्ण हुए हैं। इस बात से यह पता लगता है कि बहुत पहले भी कभी इन्होंने उस निज भक्ति-सम्पत्ति को जगत् को अवश्य प्रदान किया था।

शास्त्रों का निर्णय है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मा के एक दिन में एकवार अवतीर्ण होते हैं। वैवस्वत मन्वन्तर की अठाईसवीं चतुर्युगी के द्वापर के दोष में ही वे स्वयं रूप से आविर्भूत होते हैं और वृन्दावन में रासलीलादि का विस्तार करते हैं। उस द्वापर के बाद आने वाले कलियुग में वे श्रीराधा की भाव-कान्ति को अङ्गीकार कर पीतवर्ण श्रीगौरसुन्दर-रूपसे नवद्वीपमें प्रकट होते हैं। तभी वे अपनी उज्ज्वल रसमयी भक्ति सम्पत्ति को जगत् के लिए प्रदान करते हैं। तात्पर्य यह है कि उस कलियुग से लेकर वर्तमान कल तक के सुदीर्घ काल में उस उन्नत उज्ज्वल रसमयी भक्ति को कोई भी प्रदान नहीं करता है और वह सुदीर्घ काल-प्रभाव से प्रायः क्षुप्त हो जाती है। उसे ही पुनः प्रदान करने के लिए श्रीकृष्ण ही श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य के रूप से अवतीर्ण होते हैं।

वह उन्नत उज्ज्वल रसमयी स्व-भक्ति सम्पत्ति क्या है?—स्व-भक्ति सम्पत्ति का अर्थ है—निज विषयक भक्ति सम्पत्ति। श्रीकृष्ण जिस भक्ति के विषय हैं या श्रीकृष्ण के प्रति जो भक्ति प्रयोजित है, वह है स्वभक्ति सम्पत्ति। सम्पत्ति उसे कहते हैं जिसमें व्यक्ति अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति करता है। श्रीकृष्ण की प्रीति विधानपूर्वक उनकी चरण-सेवा ही जीव की एकमात्र अभीष्ट वस्तु है। वह प्राप्त होती है केवल भक्ति से। इसलिए भक्ति को यहाँ 'सम्पत्ति' कहा गया है। उस भक्ति-सम्पत्ति को श्रीमन्महाप्रभु ने जगत् को दान किया है। वह भक्ति है उन्नत-उज्ज्वल रसमयी। उन्नत का अर्थ है सर्वोपरि—जो सर्वश्रेष्ठ है एवं जिससे ऊपर और कोई नहीं। वह उन्नत उज्ज्वल रस है—मधुर-रस। अर्थात् मधुर रसात्मिका-भक्ति को ही प्रदान करने के लिए श्रीकृष्ण करुणा कर श्रीमन्महाप्रभु रूप से जगत् में प्रकट होते हैं।

ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण व्रज में चार प्रकार के भक्तों का प्रेमरस आस्वादन करते हैं। दारय, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। किन्तु मधुर-रस

मे ही श्रीकृष्ण मे सर्वाधिक ममता बुद्धि है। जहाँ जितनी अधिक ममता बुद्धि होती है, वहाँ प्रीति विधान करने की उतनी अधिक तीव्र उत्कण्ठा हुआ करती है। चारों भावों के परिकर ही श्रीकृष्ण को अपना मानते हैं। क्योंकि मधुर भाव के परिकरों में उनके प्रति सर्वाधिक ममता बुद्धि है, इसलिए उनमे श्रीकृष्ण की प्रीति विधान करने की सर्वाधिक तीव्र उत्कण्ठा भी है और फिर ममता बुद्धि के अनुसार ही श्रीकृष्ण में भी उनके प्रेमरस आरवादन करने की सर्वाधिक उत्कण्ठा है। उसके फलस्वरूप उनकी सर्वाधिक प्रेमवश्यता भी है। व्रज के दास्य, सरय, वात्सल्य तथा मधुर—ये चारों भाव ही निर्मल है, उज्ज्वल है—इनमे किसी में भी अपनी सुख-वासना की मलिनता नहीं है; परन्तु दास्य, सरय एवं वात्सल्य इन तीनों भावों मे श्रीकृष्ण के साथ एक सम्बन्ध की अपेक्षा है। इनकी श्रीकृष्ण-सेवा इनके श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध की अनुगामिनी ही रहती है। परन्तु मधुर-भाव के परिकर श्रीराधादि का भाव विलक्षण है। प्रकट-लीला मे इनका श्रीकृष्ण के साथ ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया कि जिसके अनुरोध से वे श्रीकृष्ण-सेवा के लिए लानायित हो। तथापि वे श्रीकृष्ण-सेवा के लिए लानायित रहती हैं। उनकी सेवा-वासना स्वाभाविकी है। उनकी सेवा-उत्कण्ठा इतनी बलवती है कि वे वेदधर्म, लोकधर्म स्वजन एवं आर्यपयादि सब का परित्याग कर देती हैं। ऐसी कोई भी बाधा नहीं है जो उनकी कृष्ण-सेवा-वासना को संकुचित कर सके। इसलिए व्रज मधुर भावात्मिका भक्ति को ही उन्नत-उज्ज्वल रसमयी भक्ति कहा गया है।

तो क्या श्रीराधा-भाव की उज्ज्वल रसमयी भक्ति को ही जगत् को प्रदान करने के लिए श्रीमन्महाप्रभु प्रकट हुए हैं?—श्रीराधा-भावमयी भक्ति मे जीव का अधिकार नहीं है। वह तो महाभाव-स्वरूपा श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति है। जीव तटस्थ शक्ति है, उसका श्रीराधाभाव की आनुगत्यमयी भक्ति मे ही अधिकार है। अतः श्रीराधा जी के परिकर के आनुगत्य मे रहकर मञ्जरी स्वरूप से जो मधुर भाव की भक्ति है—श्रीकृष्ण सेवा विधान करना है—वही उन्नत उज्ज्वल रसमयी भक्ति सम्पत्ति है जिसे श्रीमन्महाप्रभु जी ने सर्व साधारण मे वितरण किया।

इम उन्नत उज्ज्वल रसमयी भक्ति के सर्व साधारण में वितरण करने को श्रीमन्महाप्रभु ने अवतार का एक बहिरङ्ग कारण बताते हुए श्रीगोस्वामिपाद ने आनीर्वादात्मक मङ्गसाचरण इस श्लोक में किया है।

[नान्द्यन्ते]

सूत्रधार— अलमतिविस्तरेण । भो भो ! समाकर्ण्यताम् ।
अद्याहं स्वप्नान्तरे समादिष्टोऽस्मि भक्तावतारेण भगवता श्रीशंकरदेवेन,
यथा—‘अथ ताण्डवकलापण्डित ! इह किल बल्लवोच्चक्रं चेतोवृत्तिमक-
रोविहारमकरालयस्य निरवद्यवेणुवादनविद्यास्वाध्यायसिद्धीनां प्रथमा-
ध्यापकस्य सुगन्धिपुष्पावलीसौन्दर्यतुन्दलायामरविन्दबोधध्वनि-
तीराग्नकाननलेखायामयलम्बितमत्स्यपुंस्कोकिललीलस्य परमानन्दवर्धनि
गोवर्धननितम्बे संभूतनवाम्बुवाडम्बरस्य किशोरशिरोर्मणोर्नग्वनन्दनस्य
प्रेमभराकृष्टेहृदयो नानाविदेशतः सांप्रतं रसिकसंप्रदायो घृष्टावनवि-
लोकनोत्कण्ठया केशितोषोपकण्ठे समोयिवान् । स च धन्य—

कृतं गोपीवृन्दैरिह भगवता मार्गेणमधु-
विहासीत्कालिन्दीपुलिनवलये रासरभसः ।

[मङ्गलाचरण के बाद]

सूत्रधार ने कहा—‘इतना ही ठीक है, अधिक विस्तार का क्या
प्रयोजन ? आहा ! आप सब मुनिए—आज मुझे स्वप्न में ब्रह्मपुण्ड तीर
निवासी भक्तावतार भगवान् श्रीशङ्कर महादेव जी ने आदेश किया है
कि—“ओ नृत्यकला-पण्डित ! जो ब्रज-गोपियों की चित्तवृत्ति-रूप मीन के
विहार करने के लिए सागर के सदृश हैं, जो वेदवेत्ता सिद्ध पुरुषों को वेणु
ब्रजाने की विद्या अध्ययन कराने में प्रथम अध्यापक हैं, जो सुगन्धित फूलों
की सुन्दरता की आवार सूर्य कन्या विशाल श्रीयमुना के किनारे के लपवनों
में उन्मत्त-कोकिला की तरह सीला-विहार करने वाले हैं और जो परमा-
नन्द बढ़ाने वाले गोवर्धन की तलहटी में पूण नवीन मेघ की तरह मनोहर
शोभा युक्त हैं, उन किशोर-शिरोमणि श्रीनन्दनन्दन के प्रेम में आकृष्ट-
चित्त होकर इस समय अनेक दिशाओं के देशों की रसिक-सम्प्रदाय
श्रीवृन्दावन के दर्शनों की उत्पन्ना से वेशीतीर्थ के पास आकर उपस्थित
हुई है । धन्य है यह रसिक-सम्प्रदाय ।”

१ किसी नाटक के आरम्भ में नाटक के लेखक का वेश धारण कर जो एक
अभिनेता रङ्ग मञ्च पर सर्व प्रथम प्रवेश करता है और मङ्गलाचरण आदि करता
है—उसे गूणपात्र कहते हैं ।

इति श्राव श्राव चरितमसकृद्गोकुलपते-

लुंठन्नृद्वाप्योऽयं कथमपि दिनानि सपयति ॥३३॥

तदिदानीमेतस्य भक्तवृन्दस्य मुकुन्दविश्लेषोद्दीपनेन बहिर्भङ्गतः प्राणाः कामपि तस्यैव केतिसुधाकल्लोलिनीमुल्लासयता परिरक्षणीया भवता । मत्कृपेव ते सामग्रीं समग्रप्रिष्यति' इति । तेनाद्य जगद्गुरोरस्य निदेशमेवानुवर्तिष्ये ॥४॥

(प्रविश्य)

पारिपाश्विकः—भाव ! भवता निबद्धस्य विदग्धमाधवनाम्नो नवीननाटकस्य प्रयोगानुसारेण गृहीतभूमिकाः कुशीलवा रङ्गप्रवेशाय तत्रभवन्तमनुज्ञापयन्ति ॥५॥

(यहाँ क्यों उपस्थित हुई है ?)—“इसी स्थान पर ही तो ब्रजगोपियो ने श्रीकृष्ण को ढूँढा था और इसी यमुना के पुलिनों में तो हुआ था रास-महोत्सव । गोकुलपति श्रीनन्दनन्दन के इन समस्त चरित्रों को बारम्बार सुनकर यह रसिक-सम्प्रदाय उनके विरह में पृथ्वी पर पछाड़ खा-खाकर, आँखों से अश्रुधारा बहाते हुए जैसे जैसे दिन गुजार रही है ॥ ३ ॥ ३ ॥

अब इन सब रसिक-भक्तों के प्राण श्रीकृष्ण-विरह के उमड़ उठने से बाहर निकलना चाहते हैं । इसलिए तुम उन श्रीमुकुन्द की लीलामृत-नदी का आविर्भाव कर इन गत-प्राण भक्तों की रक्षा करो ।

(मुझ से यह कैसे सम्भव होगा ?)—मेरी कृपा से तुम्हें सब सामग्री की स्फूर्ति हो उठेगी ।” इसलिए आज जगद्-गुरु श्रीशङ्कर की हम आज्ञा का मैं पालन करता हूँ ॥ ४ ॥

(पारिपाश्विकः प्रवेश करता है)

पारिपाश्विक— हे मान्य ! आप के रचे हुए विदग्धमाधव नवीन नाटक का अभिनय करने के लिए नाटक के प्रयोगानुसार सब अभिनेता तैयार हैं और रङ्ग-मञ्च पर आने के लिए इन्तजार है आप की आज्ञा की ॥ ५ ॥

* मूत्रधार के सिष्य-रूप नट को पारिपाश्विक कहते हैं, जो मूत्रधार के बाद मञ्च पर आकर भेजे जाने वाले नाटक के सम्बन्ध में मूत्रधार के साथ बातचीत करता है ।

सूत्रधारः—मारिष; निर्मितः किमिति तन्नाटकपरिपाटीभिर्वर्णि-
कापरिग्रहः ? (क्षणं विमृश्य ।) भवतु,

ममास्मिन् संदर्भे यदपि कविता नातिललिता

मुदं घास्यन्त्यस्यां तदपि हरिगन्धाद्बुधगणाः ।

अथः , शालग्रामाप्सघनगरिभोद्गारसरसाः

सुधीः को वा कोपीरपि नमितमूर्धा न पिबति ? ॥६॥४॥

पारिपाश्विक—भाव, रङ्गलक्ष्मीकौशलस्तुतिभिरेव सम्मानभ्य
यंयामहे, यदमी विद्याविभिर्देवानपि तानुपालब्धुमुत्सहन्ते, किमुत
मदानस्मान् । ७॥

सूत्रधारः—मारिष ! कृतमेतया वृथोपचारचर्यया । यतः,

अग्रेष्य बलममात्मनो विदधति प्रीत्या परेषां प्रियं

सज्जन्ते दुरितोद्गमादिव निजस्तोत्रानुबन्धादपि ।

सूत्रधार—महाशय ! नाटक के योग्य उचित वेश-भूषा धारण कर
ली है ? (एक क्षण चुप रहकर) बहुत ठीक ।

मेरे इस नाटक में, हो सकता है—कविता सब के मन को हरने वाली
न हो, तथापि श्रीकृष्ण-सौरभ होने से यह बुद्धिमान पुरुषों को आनन्ददायक
होगा । क्योंकि शालग्राम शिला को कुए के जल से स्नान कराने पर कौन
ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति है जो मस्तक झुकाकर उसे पान नहीं करता ? ॥६॥४॥

पारिपाश्विक—हे मान्य ! हम में नृत्य की निपुणता नहीं है तो
भी हम मृत्यु की क्षोभा-कुशलता के लिए स्तुति द्वारा सम्मगण को
प्रार्थना करते हैं, क्योंकि सम्मगण विद्या के द्वारा देवताओं पर भी जय प्राप्त
करते हैं, फिर हम नटी की क्या बात ? ७॥

सूत्रधार—महाशय ! इस वृथा स्तुति का क्या प्रयोजन ? (देवताओं
को पराभव करने वाले अन्य धर्मों का रसिक भक्तों में आशय क्यों ?)
वे अपने दुःख को न देखकर सदा दूसरों की भलाई करते हैं । परस्त्रीगमन
आदि पाप कर्म करने से जैसे लोगों का लज्जा होनी है, सत्पुरुषों को
उसी प्रकार अपनी प्रशंसा सुनने में लज्जा आती है । विद्या, धन एवं
कुल में वे किन्ने ही उत्कृष्ट क्यों न हों, उतने ही वे क्रमशः तम्र होने

विद्यावित्तकुलादिभिश्च यदमी यान्ति क्रमाश्रयतां
रम्या कापि सतामिषं विजयते नैसर्गिकी प्रक्रिया ॥८॥५॥

(समन्तादवलोक्य सहर्षमुच्चैः) हहो बल्लवसिहप्रिया, भगवद्धर्मजगो-
ष्ठोगुणामपि युष्माकं समक्ष किमप्येष विवक्षमाणस्ताण्डविको निर-
पुत्रपाणां पदवीमारोढुमुपक्रमते । तस्मिन् क्षमध्वं चापलारभटोम् । ६ ।
(इति सप्रणाम पश्यन्)

अभिषेक्ता सत् प्रकृतिलघुरूपादपि बुधा
विधात्रो सिद्धार्थान् हरिगुणमयी वः कृतिरियम् ।
पुलित्वेनाप्यग्निं किमु समिधमुन्मथ्य जनितो
हिरण्यश्रेणीनामपहरति नान्तं कलुपताम् ? ॥१०॥६॥

तद्विस्तानीमभीष्टदेव भगवन्तमनुस्मृत्य नृत्यमाधुरीमुत्तासयामि ।
(इत्यञ्जलिं बद्धा)

जाते हैं । इसलिए सत्पुरषो की इस स्वाभाविक परिपाटी की
जय हो ॥ ८ ॥ ५ ॥

(चारों ओर देखकर सूत्रधार ने हर्षपूर्वक आगे कहा—) अहो !
श्रीकृष्ण के प्रिय भक्तगण ! आप भगवद् धर्म के तत्व को जानने वाले
गुरुजन हैं फिर भी आपसे सामने मैं एक नट कुछ कहने की इच्छा कर
निलज्ज-जना के पय का अनुसरण करने लगा हूँ इसलिए आप मेरी इस
चपलता को क्षमा कीजिये ॥६॥ (इतना कहकर प्रणाम पूर्वक सत्र को
देगते हुए)—

हे महत्जन ! मैं स्वाभाविक क्षुद्र व्यक्ति हूँ परन्तु मेरे द्वारा रची
हुई यह श्रीभगवद् गुणमयी रचना आप सब की अभीष्ट सिद्धि करगी ।
यद्यपि अति नीच जाति पुनिन्द व्यक्ति के द्वारा लक्ष्मियों को सधर्षण कर
उत्पन्न की हुई अग्नि क्या म्रण की मूल को दूर नहीं करती ? ॥१०॥६॥

इसलिए अब परम द्रष्टादेव श्रीभगवान् का स्मरण कर मैं नृत्य-
माधुरी का आनन्द प्रकानित करता हूँ ।

(दम प्रकार कहकर सूत्रधार दोनो हाथ जोड़कर द्रष्टादेव का स्मरण
करता है) —

प्रपन्नमधुरोदयः स्फुरदमन्दवृन्दाटवो-

निकुञ्जमयमण्डपप्रकरमध्यवद्धस्थितिः ।

निरडकुशकृपाम्बुधिर्वज्रविहाररज्यन्मनाः-

सनातनतनु सदा मयि तनोतु तुष्टिप्रभुः ॥११॥७॥

पारिपाश्विकः—भाव, पश्य पश्य,—

भक्तानामुबगादनर्गलधियां वर्गो निसर्गोज्ज्वलः

शीतः पल्लवित सबलववधूवन्धो प्रबन्धोऽप्यसौ ।

लेभे चत्वरताञ्च ताण्ड्यविधेवृन्दाटवीगर्भभू-

र्भन्धे मद्विधपुण्यमण्डलपरीपाकोऽयमुन्मोलति ॥१२॥८॥

तत्स्वरस्व रसमाधुरीपरिवेषणाय ॥१३॥

सूत्रधार—मारिष, नीरसावलीवंमुत्पादितशङ्कमानो मग्न्यर
इवास्मि ॥१४॥

पारिपाश्विकः—भाव, कृतमत्र शङ्कया । प्रतः,

शरणागत-भक्तों के प्रति जिनका माधुर्य उदित होता है, जो अतिशय
ज्योतिर्मय श्रीवृन्दावन के निकुञ्जमय मण्डपों में विराजमान हैं, जो
निरंकुश कृपा के सागर हैं और जिनका मन सदा व्रजविहार में लगा
रहता है, वे सर्व-समर्थ नित्य-विग्रह श्रीकृष्ण मेरे ऊपर सन्तुष्ट हों ॥११॥७॥

पारिपाश्विक—मान्यवर ! देखिये, देखिये—

स्वभाव से ही सुन्दर, उज्ज्वल बुद्धि भवतगण यहां उपस्थित हैं,
व्रजगोपी बल्लभ श्रीकृष्ण का यह लीला-नाटक भी स्वाभावतः उज्ज्वल है
और श्रीवृन्दावन-भूमि की यह रासम्यली नृत्य-वैचिली की निपुणता प्राप्त
किये हुए है, कुछ भी हो, मैं तो यह समझता हूँ कि हम जैसे व्यक्तियों को
पुण्यराशि का फल आज उदित होने लगा है ॥१२॥८॥

इसलिए अब शीघ्र ही रस माधुरी का परिवेषण कीजिये ॥१३॥

सूत्रधार—बन्धुवर ! रस को न जानने वाले लोग इस नाटक में
कही प्रतिज्ञानता न कर बैठें, इसी शङ्का से मैं देर कर रहा हूँ ॥१४॥

पारिपाश्विक—मान्यवर ! वृथा है आपकी यह शङ्का । जो लोग रस
को नहीं पहचानते, वे इस में उदासीन ही रहेंगे किन्तु जो रसिक-मान

उदासतां नाम रसानभिज्ञाः कृतौ तवामी रसिकाः स्फुरन्ति ।

कामेलकः काममुपेक्षितेऽपि पिका. सुखं यान्ति परं रसाले ॥१५॥६

तदारभ्यतां सामाजिकचेतश्चमत्काराय गान्धर्वब्रह्मविद्या ॥१६॥

सूत्रधारः—माग्य, पश्य पश्य,

सोऽयं वसन्तसमयः समियाय यस्मिन् पूर्णं तमोश्चरमुपोढनवानुरागम् ।

गूढग्रहा रुचिरया सह राधयासौ रङ्गाय सगमयिता निशि पौर्णमासी ॥१७॥१०

(नेपथ्ये)

अये नत्तं कसामन्तसार्वभौम, ! कयं भवतः कर्णपूरीभूता बाढं निगूढेयं
संदर्भमञ्जरी, यदहं राधया साधंमोश्चरं तं संगमयिष्यामीति ? । १८

मूत्रधारः—(सविस्मयं नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अहो, कथमित
एव भगवती पौर्णमासी ? पश्य पश्य ।

है वे सब आनन्दित होंगे । (रस को न जानने वाले यदि उदासीन रहें तो
हमारी क्या हानि ?) ऊँट आग्न वृक्ष की उपेक्षा करता है परन्तु कोकिलाएँ
तो उससे परम सुख प्राप्त करती हैं ॥१५॥१६॥

अतएव आरम्भ कीजिए, रसिक-जनों की चित्त आनन्दकारी सङ्गीत
रूप ब्रह्म विद्या का ॥१६॥

सूत्रधार—महाशय ! देखो, देखो—

यह वही वसन्त-काल है, जबकि रात्रि के समय पौर्णमासी तिथि,
जिसमें अन्याय सब नक्षत्र छिप गए हैं, नवीन उदित हुई रक्तिमा से
युक्त पूर्ण चन्द्र को राधा अर्थात् विशाखा नक्षत्र से सङ्गम द्वारा सुसोभित
करने के लिए उपस्थित हुई है ।

[पश्चान्तर में—यह वही वसन्त काल है, जबकि रात्रि के समय
भगवती पौर्णमासी नवीन अनुराग में रगे हुए पूर्णतम ईश्वर श्रीवृष्ण के
साथ कीतुक पूर्वक श्रीराधा का सङ्गम-आनन्द विधान करने के गूढ आग्रह
में उपस्थित हुई है] ॥१७॥१०॥

[वेश-भूषा गृह से आवाज आती है]

हे नत्तं-सेनाध्यक्ष ! यह निगूढ बात आपके कानों में कैसे पड़ी कि
मैं श्रीराधा के साथ श्रीवृष्ण का मिलन कराऊँगी ? ॥१८॥

बहन्तो कायायाम्बरमुरसि सान्दीपनिमुने
सवित्री सावित्रीसमरुचिरलं पाण्डुरकचा ।
सुरष शिष्येय परिजनवती नन्दभवना-
दितो मन्द मन्द स्फुटमुटजवीर्यं प्रविशति ॥१८॥११॥

तदाश्रामपश्यत करणीय धनिकाङ्गीकारभालोचयाव ॥२०॥

(इति निष्क्रान्ती)

प्रस्तावना

(ततः प्रविशति सपरिजना पीर्णमासी)

पीर्णमासी—('अये नतंकसामन्त—' इति पठित्वा) हन्त वत्से
नान्दीमुखि, किमपि कमनीय गायता स्फुटमानन्वितास्मि नटेन्द्रेण ॥२१॥

नान्दीमुखी—भगवति, किं क्व जहस्य एवम् । [भगवति, किं एतन्
यथार्थमेतत्] ॥२२॥

सूत्रधार—(विस्मय पूर्वक वेशभूषा-गृह की ओर देखते हुए,) आहा
भगवती पीर्णमासी यहा कैसे आरही है ? देखा, देखो—

यह पीर्णमासी देवर्षि की शिष्या, सावित्री के सहस्र गोभा-शालिनी
और सान्दीपनि मुनि की माता है । वक्षस्थल पर गेरु के रङ्ग का वस्त्र,
सिर पर सफेद वान शोभित है । परिजन (दास-दासियों) के साथ धीरे-
धीरे यह नन्दभवन से पर्णकुटी की ओर जा रही है ॥१९॥११॥

इसलिए हम भी होने वाले नाटकाङ्ग की चलकर समालोचना
करते हैं ॥ २० ॥ [इतना कहकर सूत्रधार तथा पारिपाश्विक—दोनों चल
जाते हैं ।]

प्रस्तावना—(प्रतिपाद्य विषय की सूचना)

[तब पीर्णमासी परिजनो के साथ मञ्च पर प्रवेश करती है]

पीर्णमासी—(बाहरे नतंकनायक । —यह कहकर) आहा पुत्रि
नान्दीमुखि ! इस नटेन्द्र ने कैसे मनोहर गान किया, मैं बड़ी प्रसन्न हूँ ॥२१॥

नान्दीमुखी—भगवति ! क्या यह यथार्थ है ? ॥२२॥

पीणमासी—

संभाव्यते फलमलम्बितमूलपुष्टेस्तत्तादृशं क मम भाग्यतरोर्वरोह ।
येनानयोः सुभगयोरुचिता भवेयं शृङ्गारमाङ्गलिकयोर्नवसंगमाय ॥२३॥१२॥

नान्दीमुखी—भगवदि, जइ विसहाणुणन्दिणी राहिआ तुए कण्हेण
सगमणिज्जा, तवो संगमाणुऊलवासं गोउलं उज्झिम सन्तणुवाससण्णे
भागुतित्थे कित्ति एसा संगोविअ रक्खिदा आसी । [भगवति ! यदि
धृपभानुनन्दिनी राधिका त्वया कृष्णेन संगमनीया, तदा संगमानुङ्गल-
वासं गोकुलमुज्जित्वा शान्तनुवाससंज्ञे भानुतीर्थे किमित्येषा संगोप्य
रक्षितासीत्] ॥२४॥

पीणमासी—वत्से, नृशंसतः कंसधूपतेः शङ्कया ॥२५॥

नान्दीमुखी—भगवदि, तहवि कहं रक्खा विण्णादा राहा ?
[भगवति ! तदपि कथं राजा विज्ञाता राधा ?] ॥२६॥ —

पीणमासी—राधासौन्दर्यमृन्दमेव विज्ञापने निदानम्; यतः,

पीणमासी—सुन्दरि ! हमारे भाग्य-वृक्ष का मूल अभी पुष्ट नहीं
हुआ, इसलिए इस प्रकार के फल की सम्भावना कहाँ ? (वह भाग्य कैसा ?)
—जिस शृङ्गार मङ्गल-स्वरूप श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण दोनों के तब सङ्गम
को करा पाऊँगी ॥२३॥१२॥

नान्दीमुखी—भगवति ! यदि आप धृपभानुनन्दिनी श्रीराधा का
श्रीकृष्ण के साथ मिलन कराना चाहती हो, तो उस मिलन के अनुकूल
गोकुल में वास न कर आर शान्तनुवास तीर्थ में किस लिए गुप्त भाव से
रह रही हो ? ॥२४॥

पीणमासी—पुत्रि ! जातिम कंस राजा के भय से ॥२५॥

नान्दीमुखी—भगवति ! वह राजा राधा को कैसे जानता है ? ॥२६॥

पीणमासी—श्रीराधा की सौन्दर्य-भम्पति ही उस को जानकारी
का कारण है, क्योंकि सोचतीत गुण-भम्पति सब प्रकार से निगूढ़ वस्तु को

लोकोत्तरा गुणयोः प्रथयति परितो निगूढमपि वस्तु ।

पिहितामपि प्रयत्नादव्यनक्ति कस्तूरिका गन्ध ॥२७॥१३॥

नान्दीमुखी—भगवति, जसोआघत्तोए मुहराए अत्तणो णत्तिणी राहिआ गोउलमज्जे आणीअ जडिलापुत्तास्स अहिमण्णुणो हत्थे उव्वा-
हिदा त्ति, ताविस जेव्व असमज्जस आपडिदम्, ज कण्हादो अण्णेण पुग्गिसेण
ताविसीए करप्फसणं असज्जम्, तदो कध तुम णिच्चिन्दा विअ दीससि ?
[भगवति, यशोदाघात्र्या मुखरया आत्मनो नप्ती राधिका गोकुलमध्ये
आनीय जटिलापुत्रस्याभिमन्योहस्ते उद्वाहितेति तादृशमेवासमज्जसमाप-
तितम् । यस्मात्कृष्णतोऽन्येन पुरुषेण तान्द्रीना करस्पर्शेन असह्यम्,
तस्मात्कथं निश्चिन्ता इव दृश्यते ?] ॥२८॥

पौर्णमासी—तस्यैव हेतो ॥२९॥

नान्दीमुखी—कह विअ ? [कयमिव ?] । ३०॥

पौर्णमासी—(विहस्य) तद्विञ्चनाद्यर्थमेव स्वयं योगमायया
मिथ्यैव प्रत्यायित तद्विधानामुद्वाहादिकम् । नित्यप्रेयस्य एव खलु ताः
कृष्णस्य ॥३१॥

भी प्रकाशित कर दिया करती है । यत्न पूर्वक छिपाई हुई कस्तूरी को उस
की गन्ध प्रकट कर देती है ॥२७॥१३॥

नान्दीमुखी—भगवति ! यशोदा की माता मुखरा अपनी दोहनी
राधा को गोकुल में लाकर जटिला के पुत्र अभिमन्यु के हाथ सौंप देगी ।
यह बहुत बड़ी अह्वन पैदा हो रही है । श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य पुरुष
के हाथ का स्पर्श करना राधा जैसी कन्याओं के लिए असह्य है । इसलिए
तुम कैसे निश्चिन्ता सी दीख रही हो ? ॥२८॥

पौर्णमासी—इस का भी कारण है ? ॥२९॥

नान्दीमुखी—वह क्या ? ॥३०॥

पौर्णमासी—(मुखराते हुए) उसकी वञ्चना के लिए स्वयं योग-
माया ने उनके मिथ्या विवाहादिक की सत्य प्रतीति करा दी है । वे सब
कन्याएँ निश्चय ही नित्य प्रेयसी हैं श्रीकृष्ण की ॥३१॥

नान्दीमुखी—(सहर्षम्) ता णूणं तुभं निच्चिन्दासि सवृत्ता, जं
 एसा अज्ज गोउलमज्जे आणीदा । [तस्मात् नून त्व निश्चिन्तासि सवृत्ता,
 यदेपाद्य गोकुलमध्य आनीता ।] ॥३२॥

पौर्णमासी—वत्से, सत्यं बवीषि । कंसतश्चिन्ता भे शंघित्यमि-
 वोपलब्धा, किंतु दुष्टाभिमन्युत स्फुटमन्या सांप्रतमनजिष्ट ॥३३॥

नान्दीमुखी—केरिसो सा, ? [कीदृशी सा ?] ॥३४॥

पौर्णमासी—

यत्तद्योनयलतासु रङ्गिण कृष्णभृङ्गमधिगत्य मत्सरी ।

राधिकापुरटपद्मिनीमयने सुमिच्छति पुनर्वनान्तरम् ॥३५॥१४॥

नान्दीमुखी—तत्पथि जोअमाआ जेव्व समाहाणं करिस्सधि ।
 [तत्रापि योगमायैव समाधान करिष्यति ।] ॥३६॥

पौर्णमासी—पुत्रि, को जानाति स्वत्तन्त्रायास्तस्याश्चरित्रम्, यदी-
 दृशेऽप्ये सा तदस्यायते ? ॥३७॥

नान्दीमुखी—(हर्षपूर्वक) सभी तुम निश्चिन्त हो रही हो, क्योंकि
 आज राधा को गोकुल में लाया गया है ॥३२॥

पौर्णमासी—पुत्रि! मैं सत्य कह रही हूँ । वस का डर तो हलका पड़
 गया है, किन्तु अब तो दुष्ट अभिमन्यु से मुझे और अधिक चिन्ता लड़ी हो
 गई है ॥३३॥

नान्दीमुखी—वह कैसी ? ॥३४॥

पौर्णमासी—वल्लवीरूपा नवीन सत्ताओं के प्रति श्रीकृष्ण-मधुकर को
 अनुरक्त देगवर ईर्ष्या अभिमन्यु राधा रूपा स्वर्णवर्णा पद्मिनी को
 दूगर यन (मधुरा) में ले जाना चाहता है ॥३५॥१४॥

नान्दीमुखी—दसमें भी योगमाया ही समाधान करेगी ॥३६॥

पौर्णमासी—पुत्रि! यह स्वतन्त्र है, उससे चरित्र को कौन जाने ।
 यदि यह दश विषय में तटस्थ रही आई तो ? ॥३७॥

नान्दीमुखी—अण्णो वा एत्थ कोवि उवाओ त्थि, जेण एसो पडिवद्धो भवे ? [अन्यो वात्र कोऽप्युपायोऽस्ति येनैय प्रतिवद्धो भवेत् ?] ॥३८॥

पोर्णमासी—वत्से, तत्र मया प्रतिभुवा भवन्त्या युक्तिमाधुरी—मेदुरेण वागगलेन निसर्गविगम्भीरोऽयं विष्कम्भिभतोऽस्ति ॥३९॥

नान्दीमुखी—(सहर्षम्) भगवदि, कसस्स गोमण्डलज्जगखो गोमड्डणो कण्हाणुसारिणा चन्दावलीचरित्तेण कुदो न कुप्पइ ? [भगवति, वत्सम्य गोमण्डलाध्यक्षो गोवर्धनं कृष्णानुसारिणा चन्द्रावलीचरित्रेण कुतो न कुप्यति] ॥४०॥

पोर्णमासी—पुत्रि, राजकुलोपलब्धेन गौरवेण गवितोऽयं व्यक्तमपि तत्र भद्धान्ति ॥४१॥

नान्दीमुखी—कह कहैण पढम से सङ्गमो सवृत्तो । [कथं कृष्णेन प्रथमस्या सगमं सवृतं ?] ॥४२॥

पोर्णमासी—पुत्रि सगमे छलु गाढानुरागितेव दूती वसूव । मदुद्यमाना केवलमजनिष्ट पिष्टपेयिता ॥४३॥

नान्दीमुखी—और फिर दूसरा उपाय ही क्या है ? जिस से इसमें प्रतिबन्ध लगे ॥३८॥

पोर्णमासी—पुत्रि ! इसमें मैं जातिन हूँ, स्वभाव से गम्भीर एवं स्निग्ध युक्ति-माधुरीमय मेरे वचन रूप अर्गल (अगड़ी-या सिटकिनी) द्वारा वह अगम्भीर अभिमन्यु रका हुआ है ॥३९॥

नान्दीमुखी—(हर्षपूर्वक) भगवति ! कस की गौओ का अध्यक्ष (रक्षक) जो गोवर्धन है, (अपनी स्त्री) चन्द्रावली के चरित्र को कृष्ण-अनुगत देखकर कुपित क्यों नहीं होता है ? ॥४०॥

पोर्णमासी—पुत्रि ! राजकुन से गौरव को प्राप्त करके वह स्पष्ट हो जाने पर भी इस बात की कुछ परवाह नहीं करता ॥४१॥

नान्दीमुखी—कृष्ण के साथ इस चन्द्रावली का प्रथम मिलन कैसे हुआ ? ॥४२॥

पोर्णमासी—पुत्रि ! इनके परस्पर मिलन में गाढ अनुराग ही ने दूती का काम किया । मेरा उद्यम तो केवल पिये का पीसना ही है ॥४३॥

नान्दीमुखी—अञ्जे, तुह कह एरिसो भावविसेसभावविदा गाढाणुरा-
इदा उप्पण्णा, ज भप्पणो अहिण्ठुदेअम्हि अणुप्पण्णे कण्हे उज्जयिणी उज्जिअ
पढं च्चेअ गोउलं सद्धासि । [आर्ये, तव कयमीदृशी भावविशेषभाविता
गाढानुरागितोत्पन्ना, यदात्मनोऽभीष्टदेवेऽनुत्तमं कृण्वे उज्जयिनीमुज्जित्वा
प्रथममेव गोकुल लब्धासि ?] ॥४४॥

पौर्णमासी—पुत्रि, गुरुपादानामुपदेशप्रसादेन ॥४५॥

नान्दीमुखी—एस्य वसन्तीं तुम महाभागो संदीपनी किं वधु जाणादि ?
[अत्र वसन्ती त्वो महाभागः सांदीपनिः किं खलु जानाति ?] ॥४६॥

पौर्णमासी—अथ किम् । यतस्तेन मधुमङ्गलाभिधः स्वपुत्रो ममात्र
परिचर्यायं प्रेषितः ॥४७॥

नान्दीमुखी—मधुमङ्गलो तुए सुट्ठु अणुगाहीदो जं एसो गन्दणअ-
ण्दीअरचन्दस्स सहअरदामहसवे णित्तो । [मधुमङ्गलस्त्वया सुट्ठु
अनुगृहीतो यदेव नन्दनयनेन्दिवरचन्द्रस्य सहचरता महोत्सवे नियुक्तः ?] ॥४८॥

पौर्णमासी—पुत्रि, मम सर्वस्वरूपाया राधायाः कृण्वेऽनुरागविरताराय
स्वञ्च नियुज्यसे ॥४९॥

नान्दीमुखी—आर्ये ! आप मे इस प्रकार का भाव विशेष जनित गाढ़
अनुराग कैसे उत्पन्न हुआ कि जिससे आप अपने अभीष्ट देव श्री कृष्ण के
जन्म से पहले ही उज्जयिनी नगरी को छोड़कर गोकुल में आ बसी ? ॥४४॥

पौर्णमासी—बेटी ! यह सब केवल गुरुचरण कमलों की उपदेश-कृपा
से ॥४५॥

नान्दीमुखी—तुम महाभागा यहा गोकुल में रह रही हो, इसे क्या
सान्दीपनि जानते हैं ? ॥४६॥

पौर्णमासी—और क्या ! वह जानता है तभी तो उसने अपने पुत्र
मधुमङ्गल को मेरी सेवा के लिए यहां भेजा है ॥४७॥

नान्दीमुखी—तुम ने मधुमङ्गल पर सुन्दर अनुग्रह किया है, जिससे
वह श्री नन्दमहाराज के नेत्र-कमलों के चन्द्रस्वरूप श्रीकृष्ण की सहचरता
का आनन्द ले रहा है ॥४८॥

पौर्णमासी—पुत्रि ! राधा मेरी सर्वस्व है, अतः मैं उसके अनुराग
को कृष्ण के प्रति बढ़ाने के लिए तुम्हें नियुक्त करती हूँ ॥४९॥

नान्दीमुखी—(सानन्दम्) भगवदि, अदिभूमि गदोसे कण्हे अणुराओ !
[भगवति, अतिभूमि गतोऽस्याः कृष्णेऽनुराग.] ॥१०॥

पौर्णमासी—कथमेतल्लक्षितम् ॥११॥

नान्दीमुखी—जदा कहापसङ्गे एसा कण्हति णामं सुणावि, तदा रोमाञ्चिदा कं पि भाअं विन्दइ । [यदा कथाप्रसङ्गे एसा कृष्णेति नाम शृणोति, तदा रोमाञ्चिता कमपि भाव विन्दति] ॥१२॥

पौर्णमासी—पुत्रि, युक्तमिदम् । तथाहि—

तुण्डे ताण्डयिनी रति वितनुते तुण्डावलीलवधये
कण्ठकोटकडम्बिनी घटयते कर्णाबुद्धेभ्यः स्पृहाम् ।
चेत.प्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृति
नो जाने जनिता कियञ्जिरमृतं कृष्णेति वराण्डयी ॥१३॥१४॥

नान्दीमुखी—अज्जे ! दोहि ललिवाविसाहाहि सहीहि सद्ध रा-। सूरं
आराहेहि । चन्दावली उण पडमासेव्वापहुवीहि सद्धं चण्डिअम् । ता तक्केमि

नान्दीमुखी—(आनन्द पूर्वक) भगवति ! श्री कृष्ण के प्रति श्रीराधा का अनुराग तो अतिशय बढ चुका है ॥१०॥

पौर्णमासी—तुम कैसे जानती हो ? ॥११॥

नान्दीमुखी—जब कभी बात चीत मे वह श्री कृष्ण का नाम सुनती है, तो वह पुलकित हो एक अनिर्वचनीय भाव मे मग्न हो जाती है ॥१२॥

पौर्णमासी—पुत्रि ! यह बात ठीक है, क्योंकि—कृष्ण नाम के कृ और ण यह दो वण जब मुख मे नर्तकी की भान्ति नृत्य करते है, तो फिर अनेक मुखों की प्राप्ति की तीव्र लालसा जाग उठती है, कानों मे अकुरित होने पर दस कोटि कान प्राप्त करने की इच्छा होती है और जब चित्तस्वी प्राङ्गण मे पहुँचते हैं तो समस्त इन्द्रियों को चेष्टा रहिन कर देते हैं । इसलिए हे नान्दीमुखि ! मैं यह नहीं जानती कि इन दो वणों मे बंसा और कितना अमृत भरा हुआ है ? ॥१३॥१४॥

नान्दीमुखी—हे आय्य ! ललिता और विशाखा इन दोनों मलियों के साथ श्रीराधा सूर्यदेव की आराधना करती है और चन्दावली अपनी पद्मा

देवदापसाअणिणादिओ इमारुं ईरिसो कण्हे अणुराओ । [आर्ये ! हाम्या ललितावशास्त्राम्या सखीम्या सार्धं राधा सूर्यभाराधयति । चन्द्रावली पुन पद्मार्गव्याप्रभृतिभि सार्धं चण्डिकायाम् । तस्मात्तर्क्यामि देवताप्रसादनिष्पादित आसामीदृश कृष्णेऽनुराग] ॥१५॥

पीणंमासी—

देवतसेवा केवलमिह वनयात्रानुसारिणी मुद्रा ।

ग्रजसुभ्रूवां तु कृष्णे सहज. प्रेमा स जायति ॥१५॥१६॥

नान्दीमुखी—सखे ! राहाए साहाबिअं चेअ पिम्म तत्थवि सहीएणं कोसलं उद्दीअणम् । [सत्य राधाया स्वाभाविकमेव प्रेम तथापि सखीना कोशलमुद्दीपनम्] ॥१५॥

पीणंमासी—पुत्रि ! मद्दिगरी संविश्यतामालेख्यविचक्षणां विशाखा यथेयं स्वसखीनेत्रारविन्दयोरानन्दनाय नन्दसूनो. प्रतिच्छन्दं निर्माति ॥१५॥

नान्दीमुखी—जह आणवेदि भअवदी । [यथाज्ञापयति भगवती] ॥१५॥

और शैव्या आदि सखियों के साथ चण्डिका की पूजा करती है, इसलिये मैं अनुमान करती हूँ कि इन देवताओं की कृपा से ही राधा और न द्वावली में श्री कृष्ण के प्रति इस प्रकार का गूढ अनुराग पैदा हुआ है ॥१५॥

पीणंमासी—इन दोनों की देव-पूजा तो एक बहाना मात्र है । ग्रज-मुन्दरियों में श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग स्वाभाविक ही जागरूक है ॥१५॥१६॥

नान्दीमुखी—श्रीराधा का स्वाभाविक अनुराग है यह सच है तथापि गणियों की चतुर्गद है इसका उद्दीपन करना या जगाना ॥१५॥

पीणंमासी—पुत्रि ! चित्र बनाने में विशाखा बड़ी चतुर है, तू मेरी ओर ने उमे गह दे कि वह अपनी मनी राधा के नेत्र कमलों की आनन्द देने के लिए श्री कृष्ण का एक चित्र तैयार करदे ॥१५॥

नान्दीमुखी—भगवति ! जैसी आज्ञा ॥१५॥

पौर्णमासी—मयापि मोदकवृन्ददानापदेशाद्वृन्दाटवीमध्यमासाद्य
राधेति मङ्गलाक्षरमाधुर्येण माधवकर्णयोद्धन्वमानन्दनीयम् ॥५६॥

नान्दीमुखी—अज्जे । पेक्ख एसो राममधुमङ्गलसिरिदामपहुदीह सह-
अरेहि सद्धं गोउलादो णिक्किमिअ बु दावनं गच्छन्तो कण्हो सिणिद्धेहि
पिदरेहि जसोआनन्देहि लालिज्जइ । [आर्ये । पश्येप राममधुमङ्गल
श्रीदामप्रभृतिभि सहचरै सार्धं गोकुलाग्निष्क्रम्य वृन्दावन गच्छन्कृष्ण
स्निग्धाभ्या पितृभ्या यशोदानन्दाभ्या लाल्यते] ॥६०॥

पौर्णमासी— (विलोक्य सहपंम्)

अय नयनदण्डिनप्रवरपुण्डरीकप्रभः

प्रभाति नवजागुञ्जजविडम्बिपीताम्बर. ।

अरण्यजपरिष्क्रयादमितदिव्यवेषावरो

हरिन्मणिमनोहरद्युतिभिरुज्ज्वलाङ्गो हरि. । ६१॥१७॥

तदहं मोदकसंपादनाय गच्छेयम् । त्व विशाखा याहि ॥६२॥

पौर्णमासी— मैं लड्डू वाटने के वहाने वृन्दावन जाती हूँ और वहाँ
जाकर 'राधा'-इन दोनों मङ्गलमय अक्षरों के माधुर्य से कृष्ण के कानों
को आनन्दित करूँगी ॥५६॥

पौर्णमासी—आर्ये! देखो, देखो, श्री बलराम, मधुमङ्गल, श्रीदाम
आदि सत्त्वाओं के साथ श्री कृष्ण गोकुल से निकल कर वृन्दावन जा रहे हैं
और पिता-माना श्रीनन्द-यशोदा उनका स्नेहपूर्वक लालन कर रहे
हैं ॥६०॥

पौर्णमासी—(देखकर आनन्दपूर्वक) जिनके नेत्रों की शोभा श्रेष्ठ
नील कमल की प्रभा को निन्दित करने वाली है, जिनका पीताम्बर नवीन
केसर की शोभा को लज्जित कर रहा है, जिनसे पुष्प-मनादि द्वारा रचित
अलंकार मणिरत्नादि से रचित दिव्य वेश को भी पराजित कर रहे हैं,
मरकतमणि की कान्तिराशि के समान उज्ज्वल अङ्ग वाले वे श्री कृष्ण
यही हैं ॥६१॥१७॥

अन्धा मैं तो लड्डू बनाने जाती हूँ और तू विशाखा के पास चली
जा ॥६२॥ (ऐसा कहकर दोनों चली जाती हैं) ।

(इति निष्क्रान्ते)

विष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्ट कृष्णः)

श्रीकृष्णः—(पुरस्तादवलोक्य सानन्दम्)

श्रेणीभूतवपु अभियामभिमुखे गोमण्डलीनां क्रमा-
दासां स्फाटिकगण्डशैलपटलीपाण्डुत्विषां ध्याजत ।
शङ्खे ज्ञातगुणा पुरंदरपुराञ्चस्कन्द मन्दाकिनी
वृन्दावण्यविहारिधन्ययमुनासेवाप्रमोदायिनी ॥६३॥१८॥

श्रीनन्दा—वत्स ! साधु वर्णितम् । किं तु गोष्ठलक्ष्मीरपि पृष्ठतः
प्रेक्ष्यतामिति ॥६४॥ (परावृत्त्य)

विशालगोशालेबहुशिखरशाखाविततिभि
परीतं सबाधोकृतसविधमम्भोधिगहनम् ।
समृद्धामागोवर्धनकटकमाकालियहृद
भियं बिभ्रद्गोष्ठ स्फुरति परितस्तावकमिदम् । ६५॥१९॥

विष्कम्भक. (भविष्यत् नाटक की सूचना)

[फिर निर्दिष्ट स्थान पर श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं]

श्रीकृष्ण—(आगे की ओर देखकर आनन्दपूर्वक) स्फटिक मणिमय
पर्वत के सदृश कान्ति और श्रेणीभूत शरीर-शोभा से सुशोभित होकर गो-
मण्डली के रूप में, जान पड़ता है—आज इन्द्रपुरी से वृन्दावन विहारिणी
यमुना की सेवा के लिए गुणवती मन्दाकिनी ही आनन्दपूर्वक चली आ
रही है ॥६३॥१८॥

श्रीनन्दराज—पुन ! तुम ने सुन्दर कहा, किन्तु पीछे की ओर गोष्ठ-
शोभा को भी देखो ॥६४॥

(पीछे की ओर देखते हुए)—आहा ! गोष्ठ की कंसी आश्चर्यमय
शोभा है । अनेकानेक विशाल गोशालाओं की शिखरों से परिव्याप्त
होकर, गोवर्धन से लेकर कालियहृद पर्यन्त चारों ओर घनीभूत एवं सकीर्ण
होकर दुर्गम समुद्र की भाँति यह गोष्ठ सब प्रकार से सुशोभित हो रहा
है ॥६५॥१९॥

श्रीकृष्ण —सखे मधुमङ्गल ! दूरमनुयोतोऽस्मि तातेन । तदविलम्ब
मन्त्रया साधं गेष्ठ प्रविश्यताम् ॥६६॥

यशोदा—जाद ! किति अवरण्हे वि गोठ्ठण सुमरसि ज परमादरेण
मए रन्धिदाइ पच्चह सीअलीहोन्ति मिट्ठण्णाइ । [जात ! किमित्यपाल्लेऽपि
गोठ्ठ न स्मरसि ? यत्परमादरेण मया रन्धितानि प्रत्यह शीतलीभवन्ति
मिष्टानानि] ॥६७॥

मधुमङ्गल —गोकुलेस्वरि, सुणाहि । (इति ससृष्टेन) [गोकुलेश्वरि,
शृणु]

गोभ्य शपे किमपि दूषणमस्य नास्ति

(इति वागुपक्रमे कृष्ण सस्नेहमेन पश्यति)

ताभियदेष रभसादभिकृष्यमाण ।

कुञ्ज विशस्यधिकवेलिकलोत्सुकाभि ॥६८॥

(इति वागसमाप्नो)

श्रीकृष्ण —(सापन्नपमात्मगतम्) व्यक्तमेव बालिशो बल्लवीभिरिति
वक्ष्यति । तदेन सज्जया निवारयामि । (इति शिरस्तिरो धूनयति) ॥६९॥

श्रीकृष्ण—मित्र मधुमङ्गल ! पिताजी के साथ बहुत दूर चला आया
हूँ, अब शीघ्र माता के पास गोष्ठ में चले ॥६६॥

श्रीयशोदा—पुत्र ! तीसरा पहर हो गया है, क्या अभी भी तुम्हें घर
की याद नहीं आई । मैं नितने प्रेम से मिष्ठान बना रखती हूँ परन्तु रोजाना
ठण्डे हो जाते हैं ॥६७॥

मधुमङ्गल—गोकुलेश्वरि ! सुनो, मैं गौओं की क्षपय खाता हूँ । इस
में कृष्ण का कोई दोष नहीं है ।

(इतना कहते ही श्रीकृष्ण मधुमङ्गल की प्रेम पूर्वक दगने लगे)
माता ! यह सब बेलि-समुत्सुका (ब्रज गोपिया) द्वारा बलपूर्वक आकर्षित
होकर कुञ्ज में चले जाते हैं— ॥६८॥

[अभी यह बात समाप्त नहीं हुई थी]

श्रीकृष्ण—(लज्जायुक्त मन में)—यह मूर्ख अब आग स्पष्ट रूप से ही
गोपियों के साथ ऐसी बात कह देगा। इसलिए इसे मनेत में रखा दूँ ॥६९॥

मधुमङ्गल — भो वयस्स । किति म निवारेसि ज णिच्चिद अज्ज
अज्जाया अगदो एद विण्णविस्सम् । [भो वयस्य । किमिति मा निवारयसि
यन्निश्चितमद्य आर्याया अग्रत इद विज्ञापयिष्यामि] ॥७०॥

श्रीकृष्ण — (स्वगतम्) हन्त, लज्जाजाले जाल्मधियाह पातितोऽस्मि ॥७१॥

मधुमङ्गल —

पीताम्बरस्त्वरितमम्ब सुहृद्धटाभि ॥७२॥२०॥

श्रीकृष्ण — (सानन्दमात्मगतम्) कयमन्यदेवास्य हृदगतम् । ७३॥

यशोदा — बरछ मधुमङ्गल ! सच्च ललिदापहुदीओ ओववालिआओ
अ मह इव कहेन्ति ता डिम्मए हबम्हि । [वत्स मधुमङ्गल ! सत्य ललिता-
प्रभृतयो गोपबालिकाश्च मम इद कथयन्त, तद्धिम्महतास्मि] ॥७४॥

श्रीनन्द — कुटुम्बिनि । कच्चिदनुरूपा निरूपितास्ति गोकुले काचिद-
बालिका यामुवाहयामो वत्सम् ॥७५॥

(यह सोचकर श्रीकृष्ण ने निषेध रूप में सिर हिला दिया ।)

मधुमङ्गल — हे सखा ! रोक क्यों रहे हो मुझे । आज मैं निश्चय
ही माता यशोदा के सामने सब बात स्पष्ट कहूंगा ॥७०॥

श्रीकृष्ण — (मन-मन) मे हाय ! हाय ! इस मूर्ख बुद्धि ने मुझे लज्जा-
जाल में पटक दिया ॥७१॥

मधुमङ्गल — माता ! कृष्ण बड़ी जल्दी ही सुहृदगणों के साथ क्रीडा
करता है ॥७२॥२०॥

श्रीकृष्ण — (आनन्दपूर्वक मन ही मन में) अहो ! इसका मनोभाव
कैसे बदल गया ? ॥७३॥

श्रीयशोदा — बेटा मधुमङ्गल ! सत्य है सत्य । ललिता आदि गोप
बालिकाएँ भी मुझे यही कहा करती हैं । मैं तो बालकों से हृद प्राय ही
रही हूँ ॥७४॥

श्रीनन्दराज — कुटुम्बिनि । गोकुल में कोई इसके अनुरूप बालिका
दीसती है जिस से इसका विवाह करदू ? ॥७५॥

यशोदा—अज्ज, दुद्धमुहस्स वच्छस्स दाणिं को वल्लु उद्धाहाओसरो ।
[आर्यं, दुग्धमुखस्य वत्सस्येदानीं क खलु उद्धाहावसर] ॥७६॥

मधुमङ्गल—(अपवार्यं) वअस्स, सच्च दुद्धमुहोऽसि जदुद्धलुद्धाइ
गोवकिसेरोसहस्साइ तुज्झ मुह पिअन्ति । [वयस्य । सत्यं दुग्धमुखोऽसि
यद्दुग्धलुब्धानि गोपकिशोरोसहस्राणि तव मुखं पिबन्ति] ॥७७॥

(कृष्ण स्मित करोति)

श्रीनन्द—यत्स, पश्य पश्य—

अहह कमलगन्धेरन्न सौन्दर्यवृन्दे
यिनिहितनयनेय त्वग्मुखेन्दोर्मुकुन्द ।
कुचकलशमुखाभ्यामम्बरवनोपमम्बा
तव मुहुरतिहर्षाद्वर्षन्ति क्षीरधागाम् ॥७८॥२१॥

(इति कृष्णमालिङ्गय सानन्दम्)

जितचन्द्रपरागचन्द्रिकानलदेवीवरचन्दनश्रियम् ।

परितो मयि शीतलमाधुरीं वहति स्पर्शमहोत्सवस्तव ॥७९॥२२॥

श्रीयशोदा—आर्य । इस दूध-पीते बालक के विवाह का समय हो
गया है क्या ॥७६॥

मधुमङ्गल—(धीरे से) सखे । सचमुच तुम ता दुग्धमुख हो, इसलिए
दुग्धमुख हजारों गोपकिशोरिया तुम्हारे मुख का पान (चुम्बन) किया
करती हैं ॥ ७७॥

(श्री कृष्ण मुस्कराते हैं)

श्रीनन्दराज—बेटा । देखो, तुम्हारी माता तुम्हारे कमलगन्धभरे
समस्त सौन्दर्यमय अङ्गों में तुम्हारे मुखचन्द्र के प्रति हा अपने नयन लगाए
हुए हैं । मुकुन्द । यह अतीव आनन्दित होकर कुच कलशों से वक्षस्थल व
वस्त्र को भिगोती हुई निरन्तर दूध की धारा प्रवाहित कर रही हैं ॥७८॥२१॥

(श्री कृष्ण को हर्षपूर्वक आलिङ्गन करते हैं)

हे पुत्र । तुम्हारा स्पर्श महोत्सव वपूँरचूण, चान्दनी, रस कमल
तथा चन्दन से भी सर्वाधिक मेरे लिए शीतल-माधुरी प्रदान करता
है ॥७९॥२२॥

श्रीकृष्ण — तात, बुभुक्षाकृष्टमपि मत्प्रतीक्षया स्वयं तस्मिन्ने गोकदम्बकम् । तन्निवर्तता तत्रभवन्तौ ॥८०॥

श्रीनन्द — यथाह वत्स । (इति सस्नेह कृष्णमवलोकयन्सभायो निष्क्रान्त) ॥८१॥

श्रीकृष्ण — (पुरोऽवलोक्य)

सुगन्धौ माकन्दप्रकरमकरन्दस्य मधुरे
विनिस्थन्दे बन्दीकृतमधुपवृन्दं मुहुरिदम् ।
वृत्तान्दोलं मन्योऽतिमिरनिर्लज्जन्दनगिरे-
र्ममानन्दं वृन्दाविपिनमतुलं तुन्विलयति ॥८२॥८३॥

राम — श्रीदामन्, पश्य पश्य—

वृन्दायन दिव्यलतापरीत लतास्तु पुष्पस्फुरिताग्रभाजः ।
पुष्पाप्यपि स्फीतमधुव्रतानि मधुव्रताश्च श्रुतिहारिगीता ॥८३॥८४॥

श्रीकृष्ण—पिता जी ! भूख से स्वयं व्याकुल होते हुए भी मेरी इतनी ज़ार में समस्त गीए स्तम्भित हो रही हैं। अतः आप दोनों घर जाइये ॥८०॥

श्रीनन्दराज—पुस ! जैसे तुम कहो । ॥८१॥

[यह कहकर श्रीनन्दराज स्नेहपूर्वक श्रीकृष्ण को देखते हुए श्री यशोदा जी के साथ वहाँ से चले जाते हैं ।]

श्रीकृष्ण—(सामने देखकर) अहो मधुमङ्गल ! देख, देख—

यह श्री वृन्दायन आम के वृक्षों के मुकुटों (गुच्छों) से मधुर सुगन्ध को प्रवाहित कर भुग्ध हुए मधुकरों को वारम्बार वक्षोभूत कर रहा है और मनपाचन की मन्द मन्द समीर में आन्दोलित होकर यह मुझ अतिशय आनन्दित कर रहा है ॥८२॥८३॥

श्रीवत्सलराम ! देखो, देखो—

यह श्रीवृन्दायन दिव्यलताओं से परिवेष्टित हो रहा है, मत्ताएँ अग्र-भाग से पुष्पों में लदी हुई हैं, पुष्पों पर भँवरें घँटे हैं तथा वे वानों की सुगन्ध परा पाता पाता कर रहे हैं ॥८३॥८४॥

श्रीकृष्ण—सखे मधुमङ्गल, भवद्विधानामासत्तिशसिभिवंशीगीतैरा-
नन्दयामि वृन्दाटवोदास्तवग्रान् । (इत्यधरे वेणु विन्यस्यति) ॥८४॥

राम—(साश्रयंम्) हन्त, परस्परविपर्यस्तस्वभावानामपि भावाना
धर्मविपर्यय पश्यत ॥८५॥

जातस्त्वभतया पयासि सरिता काठिन्यमोपेदिरे
प्रावाणो द्रवभावसबलनत साक्षावमो मार्दवम् ।
स्थेयं वेपथुना जहृषुं हुरगाज्जाड्य वर्गति जङ्गमा
वशी चुम्बति हन्त यामुनतटोर्लोडाकुटुम्बे हरौ ॥८६॥२५॥

मधुमङ्गल—हो हो अच्चरिअम् ।

पठरधरगलन्दच्छीरकल्लोलिणोहि
णअकुसुमलदाण हन्त सेअ कुणन्ती ।
पिपिअ महुरवशीणादपोऊसप्र
फुरइ गरुअसौवस्तथम्भिवा घेणुपत्ती ॥८७॥२६॥

श्रीकृष्ण—मित्र मधुमङ्गल ! अब मैं तुम सब के आने की सूचना देने
वाली वशीध्वनि के द्वारा सब वृन्दावन वासियों को आनन्दित करता
हूँ । ८४॥ (यह कहकर वे वशी को अधर पर धारण कर वजाते हैं ।)

श्रीबलराम—(चकित होकर) अहो ! परस्पर विरोधी स्वभाव के
होते हुए भी ये सब अपने प्रतिवृत्त स्वभाव वाली मे अपने धर्म को समर्पण
कर रहे हैं और उनके धर्म को स्वयं ग्रहण कर रहे हैं—देखो, देखो—॥८५॥

आहा ! यमुना तट पर अनेक क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण वशी को
चुम्बन कर रहे हैं—वशी ध्वनि को सुनते ही सत्र नदिया का जल स्तम्भित
होकर बठिनता को प्राप्त हो गया है और पापाण द्रवित होकर स्पष्ट
कोमलता को प्राप्त हो रहे हैं । सब स्थावर वारम्भार बम्पित होकर
चलायमान और जगम स्थावरो के धर्म को ग्रहण कर स्थिर हो रहे
हैं । ८६॥२५॥

मधुमङ्गल—अहो आश्चर्य ! महा आश्चर्य ॥ मधुर वशी ध्वनि रूप
अमृत का पाण कर समस्त गौए महान मुख का अनुभव कर स्तम्भित हो
रही हैं , इनने स्तनो से प्रचुर दूध की धारा स्रवित होकर, नवीन कुमुद
लताओं को सिंचित कर रही हैं ॥८७॥२६॥

[ही ही आश्चर्यम् ।

प्रचुरस्तरगलत्क्षीरकल्लोलिनीभिर्नैवकुसुमलतानां हन्त सेकं कुर्वती ।
पीत्वा मधुरवंशीनादपीमूपपूरं स्फुरति गुह्यसौरयस्तम्भिता धेनुपङ्क्तिः ॥]
॥८७॥१२६॥

(इति कृष्णं हस्तेन चालयन्) भो प्रियवयस्य, कीस निम्बरं गव्वाएति ।
एदाए च्चेअ वेणुजादोए एसा उन्मादिआ पइओ । एत्थ उण निमित्तमेतं वल्लु
तुमम् ।

[भो प्रियवयस्य, कस्मान्निर्भरं गर्वायसे । एतस्या एव देणुजातेरेपोन्मादिका
प्रकृतिः । अत्र पुनर्निमित्तामात्रं खलु त्वम्] ॥८८॥

(आकाशे)

रन्ध्रमधुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुहं
ध्यानादन्तरयन्सनन्दनमुखान्विस्मापयन्वेधसम् ।
ओत्सुक्प्रावलिभिर्वसि चतुलपन्भोगीन्द्रमाधुर्यम्—
निभन्दघ्नकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ॥८९॥१२७॥

रामः—(सहर्षम् ऊर्ध्वमवलोक्य स्वगतम्) कथं मेघान्तरितोऽयं
सुरधिः पद्मपुण्यदीपयामास । ८०॥

(ऐसा कहकर श्रीकृष्ण को अपने हाथ से हिलाते हुए मधुमङ्गल फिर
कहता है) हे प्रिय मित्र ! तू किस लिए गर्व कर रहा है ? यह सब उन्मा-
दिका शक्ति वेणुजान्ति की है, तू सो केवल निमित्ता मात्र ही है ॥८८॥

[आकाश में]

वंशी ध्वनि से मेघ अवरुद्ध हो गये, स्वर्ग में रहने वाले गन्धर्व
आश्चर्य-चकित हो उठे, सनक सनन्दनादि मुनिजन का ध्यान छूट गया,
ग्रह्या विस्मित हो गए, बलिराज उत्तुकतावश अधीर हो उठा, भोगीन्द्र
अनन्त देयतागण चक्रवर्तुण्य हुए, इस प्रकार ब्रह्माण्ड को भेद कर वह वंशी-
ध्वनि गर्वभाव में भ्रमण करने लगी ॥८९॥१२७॥

श्रीवत्सलराम—(हर्षपूर्वक ऊपर की ओर देखाकर मन ही मन में) देवर्षि
नारद मेघों में छिपाकर वंसे वीणा पर गान कर रहे हैं ? ॥९०॥

(पुनराकाशे कलकल.)

मधुमङ्गल.—(ऊर्ध्वमवलोक्य सभयम्) अब्बम्हण्णं अब्बम्हण्णम् ।
भो भो, पलाअम्ह पलाअम्ह । [अन्नहाण्यमन्नहाण्यम् । भो भो, पलायामहे
पलायामहे] ॥६१॥

श्रीदामा.—वाउल, किंति गिरगलं पलवसि । [वातुल, किमिति
निरगलं प्रलपसि] ॥६२॥

मधुमङ्गल—(ऊर्ध्वमवलोक्य सभयम्) अरे मुख गोआलिआ,
किं ण पेक्खसि । एसो समाएदहंसो णग्गेण भुजङ्गधारिणा केणवि वेदालेण
सद्धं चउम्मुहो को वि जव्खो रक्खसो वा आअच्छदि । (पुनर्वीक्ष्य सोत्कम्पम्)
ही माणहे, एवे अ अच्छोहि पूरितसव्वङ्गं कपि दाणअं अण्णेकदुअ अवरे
असुरा गअणं आक्रमन्दि । ता सकोम हट्ठकसरस किकरा हुविससन्दि ।
[अरे मूर्ख गोपाल, किं न पश्यसि । एष समाएदहंसो नग्गेण भुजङ्ग धारिणा
वेनापि वेतालस्य सार्धं चतुर्मुखं कोऽपि यक्षो राक्षसो वागच्छति । ही मन्यामहे,
एते चाक्षिभिः पूरितसर्वाङ्गं वमपि दानवमग्रेकृत्य अपरेऽसुरा गगन-
माक्रमन्ति । तच्छब्दे हतकसस्य किकरा भविष्यन्ति] ॥६३॥ (इति
सत्रास कृष्णकक्षान्तरे शिरस्तिरयति)

[आकाश में पुनः कल-कल शब्द होता है]

मधुमङ्गल—(ऊपर की ओर देखते हुए भयभीत होकर) हम अवध्य
है, हमें मत मारो, हम भाग जाते हैं भाग जाते हैं ॥६१॥

श्रीदाम—अरे बावरे ! क्यों अनर्गल प्रलाप कर रहा है ? ॥६२॥

मधुमङ्गल—(ऊपर की ओर देखकर भय युक्त) अरे मूर्ख गोपाल !
तू क्या नहीं देखता है, इस पर चढ़ा हुआ चार मुखों वाला जाने कोई यक्ष
है या राक्षस, सबों को धारण करने वाले किसी नग वेताल के साथ आ
रहा है । (उस तरफ फिर देखकर वापते हुए) अहो ! मुझे ऐसा लगता
है, सर्व अगो मे जिस के नेत्र ही नेत्र लगे हुए हैं, ऐसे किसी दानव को
आगे करके अन्यान्य असुरगण आकाश में आक्रमण कर रहे हैं । मैं समझता
हूँ मेरे कस के सेवक होंगे ॥६३॥

कृष्ण — (स्वगतम्) कथमेते वेणुनादमाधुरीभिराकृष्टा पयोद-
वीथीमवगाहन्ते दिशामधीशा ॥६४॥ (इति पुनर्वेणु वयणयति)

मधुमङ्गल — (वलोक्य सोच्छ्वासमात्मगतम्) एदे दुट्ठदानवा
वयस्सस्स वेणुसद्वमेत्तेण विम्हला भविअ सज्जसेण मुज्झन्ति । ता जीइवो
म्हि । (इति साठोप परिक्रम्य प्रकाशम्) रे रे दुट्ठा असुरा, चिट्ठथ
चिट्ठथ । एसो ह सावेण चावेण वा तुम्हाएण मुण्डाइ खण्डेमि । [एते
दुष्टदानवा वयस्यस्य वेणुशब्दमात्रेण विह्वला भूत्वा साध्वसेन मुह्यन्ति ।
तज्जीवितोऽस्मि । रे रे दुष्टा असुरा ! तिष्ठत तिष्ठत । एपोऽहं शापेन
चापेन वा युष्माकं मुण्डानि खण्डयामि] (इति दण्डमुद्यम्यपुनरुर्ध्वं
हृदति) । ६५॥

राम — (विहस्य) वयस्य, मैं बचो । एतो भगवन्तो हरहिर-
ण्यगर्भो । संप्रतश्चामी पुरवरादयो वृन्दारका ॥६६॥

(यह कहकर भयभीत होकर मधुमङ्गल अपना सिर श्रीकृष्ण
की बगल में छिपा लेता है)

श्रीकृष्ण — (मन में) क्या ये दिग्पाल ही वेणु की मधुर ध्वनि से खिंचे
हुए मेघ पथ से चने आ रहे हैं ? ॥६४॥ (यह कहकर फिर बशी
बजाते हैं ।)

मधुमङ्गल — (देखकर लम्बी सास छोड़ते हुए मन में) ये सब दुष्ट
दानव कृष्ण की बशी ध्वनि मात्र से व्याकुल होकर भय से मुग्ध हो रहे हैं ।
चलो जान बची । (ऐसे कहकर दपेण के साथ धूम वर प्रकाश करते हुए)
अरे रे दुष्ट दानवों ! रक जाओ, रक जाओ, मैं अभी शाप और चार से
तुम्हारे मस्तक काटे देता हूँ ॥६५॥ (यह कहकर लाठी को ऊँचा उठाकर
मधुमङ्गल बार बार ऊँचा बूढ़ने लगता है) ॥

श्रीवत्सराम — (जोर से हमने हरे) मित्र ! ऐमा मत बहो, ये तो
दोनों भावान् महादेव और प्रज्ञा हैं और इनकी बाईं तरफ इन्द्रादि देवता
हैं ॥६६॥

मधुमङ्गलः—सुटठु (समाश्रित्य) भो ! जाणन्तेण च्चेअ मए एदं पडिहसिदम् । तदो तुम्हेहिं वल्लु रक्खसबुद्धीए भोलुएहिं पलाइदुं पउत्तम् ।
[सुट्ठु । भोः, जानतैव मयेदं परिहसितम् । ततो युष्माभिः खलु राक्षस बुद्ध्या भीरुभिः पनायितुं प्रवृत्तम्] ॥६७॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) हंहो देवानांप्रिय, निजामेव जाल्मतां तेषु संक्रामयसि ॥६८॥

रामः—पश्यत पश्यत ।

अष्टाभिः श्रुतिपुटकैर्नववैणवकाकलौ कलयन् ।
शतधृतिरपि धृतिमुक्तो मरालपृष्ठे महलुंठति ॥६९॥७०॥

(आकाशे पुनर्वीणागीतिः)

उदिते हरिकन्दौ वेणुनादसुधामुचि ।
हन्त रुद्रसमुद्रेण स्वमर्मादा विलङ्घिता ॥१००॥७१॥

मधुमङ्गल—ठीक (ठण्डी सास लेकर) आहा ! मीने ये सब जानते हुए ही परिहास किया था । तुम सब भीरु भागना चाह रहे थे इन्हें राक्षस समझ कर ॥६७॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) वाह रे देवप्रिय ! (अर्थात् पद्म) अपनी भूर्भुवःता हमारे पर थोप रहा है ? ॥६८॥

श्रीवल्लभ—देखो, देखो—

आठों कानों से वेणु की नवीन-ध्वनि सुन ब्रह्मा जी अधोर होकर हंस की पीठ पर वाग्म्वार लोट-पोट हो रहे हैं ॥६९॥७०॥

[आकाश में फिर श्री नारद जी वीणा बजाते हैं]

आहा ! वेणुनादरूप अमृत वर्षणकारी श्रीकृष्ण मुख-चन्द्र के उदित होने पर श्री महादेव रूप समुद्र ने तो अपनी मर्मादा ही उलंघन कर डाली, —नाचने लगे ॥१००॥७१॥

रामः—

सोत्कण्ठ भुरलीकलापरिमलानाकण्यं धूर्णत्तनो-
रेतस्याक्षिसहस्रतः सुरपतेरश्रूणि सल्लुभुं वम् ।
चित्रं वारिधरान्विनापि तरसा येरद्य धारामय-
दूरात्पश्यत देवमातृकमभूदवृन्दाटवीमण्डलम् ॥१०१॥३०॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) पुराणानाममीषां पुरस्ताद्विहारे संकुचन्ति मे
चेतोवृत्तयः । तदग्रे यामि । (इति तरुणामन्तरमासाद्य प्रकाशम्) सखे
मधमङ्गल, पश्य माधवीयां वनमाधुरीम् ॥१०२॥

क्वचिद्भृङ्गीगोतं क्वचिदनिलभङ्गाशिशिरता
क्वचिद्वल्लीलास्यं क्वचिदमलमत्सीपरिमलः ।
क्वचिद्धाराशाली कनकफलपालीरसमरो
हृषीकाणां वृन्दं प्रमदयति वृन्दावनमिदम् ॥ १०३॥३१॥

श्रीवलराम—देखो, उत्कण्ठा सहित मुरली की अमृतमय ध्वनि-
वनाप को सुन कर इन्द्र मुग्ध हो गया है । उसके सहस्र नेत्रों से अश्रु धाराएं
पृथ्वी पर गिरने लगी हैं । कैसा आश्चर्य ! दूर से देखने से ऐसा लगता है कि
मेघों के बिना भी इस धारा प्रवाह से आज श्री वृन्दावन मण्डल वर्षा से
प्लावित हो देवमातृक^१ प्रदेश हो रहा है । १०१॥३०॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) इन सब बड़े लोगों के आगे विहार करने में
मेरी मनोवृत्ति स कुचित हो रही है, इस लिए आगे चलता हूँ । (यह सोच
कर वृक्षां के मध्य जाकर बहते हैं—) मित्र मधुमङ्गल ! देख देख श्रीवृन्दावन
की वसन्ती माधुरी को ॥१०२॥

वही तो भँवरे गुंजार रहे हैं, वही शीतल समीर बह रही है, नाच
रही है वहाँ लताएँ, छा रही है वही मोतिया की निर्मल सौरभ । वही
अनारों के फूटने से रस धारा प्रवाहित हो रही है, अहो ! यह श्रीवृन्दावन
समस्त इन्द्रियों को आनन्दित कर रहा है ॥१०३॥३१॥

१- 'देवमातृक' वह प्रदेश कहा जाता है जो नदि के तल पर नहीं वर्षा के जल
पर ही निर्भर रहता है—यानी बारानी इलाका ।

मधुमङ्गल — भो वयस्स, एवा पटुट्ठमङ्गलमङ्करिए कि मे कौटू-
हलं तुज्झ बुन्दाटईए । अहं क्खु चउव्विहेहि अण्णेहि सव्विन्दमहारिणीं
गोउत्तेसरीए रसवडं ज्जेव्व दट्ठूण रञ्जेमि । [भो वयस्य, एतत्प्र-
दुष्टमङ्गलभयकर्या कि मे कौतूहलं तव वृन्दाटव्या । अहं खलु चतुर्विधैरर्त्रः
सर्वेन्द्रियहारिणीं गोकुलेश्वर्या रसवतीमेव दृष्ट्वा रज्यामि] ॥१०४॥

श्रीकृष्ण — वयस्य, वन्दस्व वृन्दाटवीमेव । स्फुटमस्याः पुराणवल्लरी-
मिरपि तवाभोष्टं फलमुल्लासयितुं समर्थ्यते ॥१०५॥

मधुमङ्गल — भो पिअवयस्स ! तुमं सञ्जवादति सव्वलोएहि
भणिज्जसि । ता इमस्स तुज्झ वयणस्स मए परीच्छा कादव्वा । (इत्यञ्जलिं
वध्वा) भो वल्लरीओ, एसोहं वन्दामि । बुहुविखदो मे वयस्सो, ता देन्तु
खण्डलड्डुआइ । भो प्रियवयस्य ! त्वं सत्यवादीति सर्वलोकभण्यसे,
तदेतस्य तव वचनस्य मया परीक्षा कर्तव्या । भो वल्लर्य, एपोऽहं वन्दे ।
बुभुक्षितो मे वयस्य, तदीयन्ता खण्डलड्डुकानि] ॥१०६॥

(प्रविश्य मोदकपूर्णपानहस्ता पीणमासी)

मधुमङ्गल — हे सत्ते ! दुष्ट भ वरो से भयावनी इस तुम्हारी वृन्दाटवी
से मेरे लिए क्या कुछ आनन्द मिल सकता है ? — मैं तो चतुर्विध^२
व्यजनो द्वारा समस्त इन्द्रियो को लुभाने वाली माता-यशोदा की पाकशाला
को देखते ही सुखी होता हूँ ॥१०४॥

श्रीकृष्ण — मित्र ! श्रीवृन्दावन की वन्दना कर । अपने मे प्रस्फुट होने
वाली प्राचीन लताओं से भी यह श्रीवृन्दावन तुम्हारी मनोवाञ्छा को पूर्ण
करने में समर्थ है ॥१०५॥

मधुमङ्गल — हे प्रिय मित्र ! सब लोग तुम को सत्यवादी कहते हैं,
इसलिए आज मुझे तुम्हारे वचनो की परीक्षा करनी है । (यह कहकर
मधुमङ्गल दोनों हाथ जोड़कर कहता है —) 'हे लताओं ! मैं आपकी वन्दना
करता हूँ । मेरा मित्र कृष्ण भूख से आतुर हो रहा है । तुम इसे चीनी के
लड्डू प्रदान करो ॥१०६॥

२- चण्डं (चबाये जाने वाले) चोध्य (चूमे जाने वाले), लेह्य (चाटे जाने
वाले) एवं पेय (पीये जाने वाले) — चतुर्विध व्यजन कहलाते हैं ।

पौर्णमासी—चन्द्रानन कृष्ण ! गृहाण रसज्ञामोदकानमून्मोदकान् ॥१०७॥

रामः—(सस्मितम्) वधस्य ! दृष्टा जरद्वल्लरीवदान्यता ? ॥१०८॥

पौर्णमासी—संकर्षण ! जरद्वल्लरीवदान्यतेति भण्यताम् ॥१०९॥

श्रीकृष्णः—आर्ये ! केयं जरद्वल्लरी ? ॥११०॥

पौर्णमासी—चन्द्रमुख ! मुखरा ॥१११॥

श्रीकृष्णः—तथा किमकाण्डे खण्डलड्डुकानि समर्पितानि ॥११२॥

पौर्णमासी—नग्न्री तावदेतया अभिमन्यो. पाणौ परिणामिता । तदुत्सवाभिरुपः समुदाचारोऽयमनुसन्ने ॥११३॥

श्रीकृष्णः—केयं नग्न्री ॥११४॥

पौर्णमासी—राधाभिधाना काचिदानन्दकौमुदी ॥११५॥

[इतने में लड्डुओं का थाल हाथ में लेकर पौर्णमासी प्रवेश करती है]

पौर्णमासी—हे चन्द्रमुख कृष्ण ! रसना को तृप्त करने वाले इन लड्डुओं को ग्रहण करो ॥१०७॥

श्रीवल्लराम—(भुस्कराते हुए) सखे ! देखी है प्राचीन बल्लिरियों (लताओं) की वदान्यता ? ॥१०८॥

पौर्णमासी—वल्लराम ! प्राचीन बल्लरी (गोपी) की वदान्यता—ऐसा कहो ॥१०९॥

श्रीकृष्ण—आर्ये ! कौन सी वह प्राचीन गोपी ? ॥११०॥

पौर्णमासी—चन्द्रमुख ! मुखरा ॥१११॥

श्रीकृष्ण—उसने कैसे अचानक खण्ड के लड्डुओं को भेजा ? ॥११२॥

पौर्णमासी—उस मुखरा ने अपनी दोहन्त्री का अभिमन्यु के साथ विवाह कर दिया है । उस आनन्द उत्सव के उपलक्ष्य में ये भेजे हैं ॥११३॥

श्रीकृष्ण—उस की दोहन्त्री कौन ? ॥११४॥

पौर्णमासी—राधा नाम यात्री, अनिर्यचनीय आनन्द ज्योत्स्नारूप ॥११५॥

श्री कृष्ण — (सरोमाश्वम् स्वगतम्) श्रुत नूनमम्बयो सवादे शश्व-
दस्या सौष्ठवम् (इति कम्पमानो ब्रीडा नाटयति) ॥११६॥

पौर्णमासी—(स्वगतम्) कृष्णं विलस्रमवेक्ष्य नूनं राम सव्याजमसी
सव्यत प्रयाति ॥११७॥

श्रीकृष्ण — (पुनरात्मगतम्) विक्रिया सगोपयितुं प्रसङ्गांतरमङ्गीकु-
र्याम् । (प्रकाशम्) आर्ये ! अद्य खलु मधुवासरे त्वयापि काचिन्महोत्सवलक्ष्मी-
रत्नक्रियताम् । पश्य जरद्वत्सोश्चेर्षोरिय कुल्ल पल्लवित्ता च ॥११८॥

पौर्णमासी—(सम्मितम्) नागर, तयैव महोत्सवानामवसरोऽय
सवृत्त । यदत्र पुष्पाणा पल्लवानाञ्च तूष्ण्या वल्लवाना विलासिन्य
समेप्यन्ति ॥११९॥

श्रीकृष्ण - (सस्मित तिर्यगवेक्ष्य) आर्ये, तत किम् ? ॥१२०॥

श्रीकृष्ण—(रोमाचित होकर मन मे) निश्चय ही मैंने माता रोहिणी
और यशोदा की परम्पर बात-चीत मे निरन्तर उस राधा के सौन्दर्य की
चर्चा सुनी है (यह कहकर पुलकित हुए परन्तु शर्मा गए)। ॥११६॥

पौर्णमासी—(मन मे) कृष्ण की शर्माता हुआ देख बलराम छलपूर्वक
बाई ओर को जा रहा है ॥११७॥

श्रीकृष्ण—(फिर मन मे) राधा नाम कहने सुनने मे जो पुलक-विकार
उदय हो उठा है— इसे छिपाने के लिए दूसरी बात चलानी चाहिये । (स्पष्ट
बोले)—आर्ये ! आज वसन्त के दिन तुम भी कोई महोत्सव-शोभा सम्पादन
करा । देखो, मधु प्राचीन सताए भी पुष्पित और पल्लवित हो रही है ॥११८॥

पौर्णमासी—(मुस्कराते हुए) नागर ! तुम्हारे ही महोत्सवो का अव-
सर है । पुष्पो और फलो को लेने के लिए गोप-रमणिया अव यहा
आया करेंगे ॥११९॥

श्रीकृष्ण—(मुम्बरा कर टेढ़ी नजर मे देखने हुए) आर्ये ! फिर क्या
होगा ? ॥१२०॥

पौर्णमासी—(विहस्य) विलासिन्, स्ववासनानुसारतोऽप्यथा मा शङ्किष्ठा । परमेवमभिप्रायास्मि । ततस्तासां शून्येषु रुद्रसु सखिभिस्ते सुखमपहृतव्यानि गव्यानि ॥१२१॥

श्रीकृष्ण—धूर्त ! किं परिहस्यते । पश्य, कोमलमञ्जरीमवचिन्वतीना बल्लवीना मण्डलेन खण्डितानि मे वृन्दाटवीशाखिविटपानि । तदेतास्ते निवारणीया ॥१२२॥

पौर्णमासी—मोहन ! नव्यस्तवकोत्तंसिना भयतेव समुल्लासितोऽयं कुसुमेपुरागो बल्लवीनाम् । ता कथमितो निवायन्ताम् ? ॥१२३॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) अयि बलाकावसलवेशि ! कथोपक्रमद्वयमेव पश्यानमधिहृष्टसि । यदपराधिकास्वपि बल्लवीषु पक्षपातं न मुञ्चसि ॥१२४॥

पौर्णमासी—सुन्दर ! सप्रति सराधिकाः खलु बल्लव्य कथमपरा-

पौर्णमासी—(हमकर) विलासि ! अपनी वासनानुसार और कोई आशङ्का मत कर । मेरा तो अभिप्राय यह है कि उनके यहां आजाने पर उनके सूने घरों में तुम्हारे मखा जाकर मुखपूर्वक दही माखन चुरा सकेंगे ॥१२१॥

श्रीकृष्ण—धूर्त ! क्या परिहास करती हो ? देखो, कोमल कोमल मञ्जरियों को चुनने वाली गोपियों ने वृन्दावन के वृक्षों की शाखाओं को तोड़ डाला है, तुम को उन्हें रोक देना चाहिये ॥१२२॥

पौर्णमासी—मोहन ! तुम्हारे ही सिर पर नवीन पुष्प गुच्छों को देखकर अपने को भी उन्हीं से सजाने के लिए गोपियां को पुष्पों में अनुराग पैदा हुआ है । (पश्यान्तर मे—तुम्हें देखकर ही गोपियों में वन्दन-आवेश पैदा हुआ है ।) फिर उनका ऐसा करने में तुम क्यों रोकते हो ? ॥१२३॥

श्रीकृष्ण—(मुस्करान हुए) अरी वगलों की भांति सपेद बेजो वाली ! बात व जारम्भ में ही क्यों टट्टा प्य अपना रहो हो ? वे गोपिकाएँ अपराधिका (अपराधी) हैं, (पश्यान्तर मे राधिका-रहित हैं—उनके साथ राधिका नहीं है) तो भी तू उनका पक्षपात नहीं छोड़ती ? ॥१२४॥

पौर्णमासी—सुन्दर ! अब वे गोपिकाएँ सराधिका (थीराघा के

धिका सन्तु । तेन ते प्रियस्य पुत्रागस्यापि सुमनःस्तेयं हठेन करिष्यन्ति ॥१२५॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) हन्त, कथं मनोहारिणी सर्व देवात्पुनरावर्त्तते राधिकावार्त्ता ! ॥१२६॥

मधुमङ्गल—(स्वगतम्) कहं राहोस्ति नाममेतेन उन्मणाएदि एमो ? (प्रकाशम्) भो वयस्स ! मा वखु इमाए उवरि निर्भरं सतिष्णो होहि । [कथं राधेति नाममात्रेणोन्मनायते एष. ? भो वयस्य, मा तत्त्वेतस्या उपरि निर्भरं सतृष्णो भव] ॥१२७॥

श्रीकृष्णः—(सप्रणयरोपम्) धिग्वाचाल ! कुत्राहं सतृष्णः ॥१२८॥

मधुमङ्गल—भो मा कुप्य । सरसाए, मनोहरालीए उवरित्ति भणामि । [भो मा कुप्य, सरसाया मनोहृगल्या उपरीति भणामि] ॥१२९॥

श्रीकृष्णः—सखे, भ्रान्तोऽसि । नेमानि मनोहराख्यानि, किंतु मौक्तिकाख्यानि लड्डुकानि ॥१३०॥

सहित) है, अपराधिका कैसे ? वे तुम्हारे प्रियतम पुत्राग वृक्ष के फूलों का जबरदस्ती हरण करेंगी ॥१२५॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) हाय ! फिर कैसे अकस्मात् उस मनोहारिणी राधा की बात चल पड़ी ? ॥१२६॥

मधुमङ्गल—(मन मे) पता नहीं राधा के नाम लेने मात्र से क्यों यह उत्कण्ठित हो उठता है ? (स्पष्ट कहता है—) हे सखे ! तुम उस के ऊपर अतिशय लालायित मत होवो ॥१२७॥

श्रीकृष्ण—(प्रेमयुक्त क्रोध से) अरे वाचाल ! तुम्हें धिक्कार । मैं किस पर लालायित हो रहा हूँ ? ॥१२८॥

मधुमङ्गल—मुझ पर क्रोध मत करो, मैं तो सरस मनोहर लड्डुओं के ऊपर कह रहा हूँ । (पक्षान्तर मे—सरस मनोहर रमणियों के ऊपर कह रहा हूँ) ॥१२९॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! तू चक्कर में पड़ रहा है । ये मनोहराख्य (मनोहर नाम वाले) लड्डू नहीं हैं—ये हैं मौक्तिकाख्य (मौक्तिक नाम वाले) ॥१३०॥

मधुमङ्गलः—(विहस्य) पिअवअस्स, ण वखु अहं भमिसीले राहाचक्के वट्टामि, कुदो भमिस्सम् ? । प्रियवयस्य ! न खल्वहं भ्रमिशीले राधाचक्के वत्तं, कुतो भ्रमिप्यामि ?] ॥१३१॥

पौर्णमासी—(स्वगतम्) स्तयं परिहस्यते बटुना, यदेष भावोद्बृ-
त्ताचेतोवृत्तितया वैलक्ष्यभागमिलक्ष्यते तदद्य, पूर्णकामास्मि । (प्रकाशम्)
सुन्दर ! कृतमन्नोत्कण्ठया । सा विष्णुपदवीयीसचारिणी राधा नृलोके केन
लभ्यताम् ॥१३२॥

श्रीकृष्ण—(सम्मित विष्णुपदवीयीमवेक्ष्य राममनुसर्पन्) आर्य ! द्य-
तीतेयं मध्याह्नमर्षादा । ततः कालिन्दीतीरेऽवतीर्य समापयन्तु भवन्तः
पशूनां पानीयतृष्णाम् । स्वादयन्तु च स्वादूनि लड्डुकानि । मया तु
सुहृत्तमाभ्यां श्रीदामसुखलाभ्यां सह मुहूर्त्तमग्रतो विश्रमितव्यम् । १३३॥

(रामः सखिभिः सह निष्क्रान्तः)

पौर्णमासी—(स्वगतम्) मयापि प्रतिच्छन्दस्य सिद्धिमवधारयितुं

मधुमङ्गल—(हसकर)प्यारे मित्र!मैं उस घुमा देने वाले राधा-चक्कर
मे नहीं पडा हूँ, घूमूँगा कहा ? ॥१३१॥

पौर्णमासी—(मन मे) यह मधुमङ्गल ठीक परिहास कर रहा है ।
क्योंकि राधा-भावोदय से श्रीकृष्ण के चित्त की वृत्तियों मे विलक्षणता
दीखती है इसलिए आज मेरी कामना पूर्ण हो गई है । (स्पष्ट कहती है)—
सुन्दर ! इस विषय मे तुम उत्कण्ठित मत होओ, आकाश मे विचरने वाली
राधा को नृलोक मे कौन प्राप्त कर सकता है? ॥१३२॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कान पूर्वक आकाश की ओर देखकर श्रीबलराम के
निकट जाते हुए) हे आर्य ! मध्याह्न का समय हो गया है, इसलिए कालिन्दी
के तट पर जाकर आप गोओ की प्यास बुझवाओ और इन मधुर लड्डुओ
का भी भोजन कीजिए । मैं तो यहा पहले श्रीदाम एवं सुखल सखाओ के
साथ एक मुहूर्त्त भर विश्राम करना चाहता हूँ ॥१३३॥

[श्री बलराम गगाओ के साथ चले जाते हैं]

पौर्णमासी—(मन मे) मुझे भी चित्रपट की मिद्धि के लिए जाना
चाहिये ॥१३४॥ (यह गोचरर वह श्रीकृष्ण को आनीर्वादि देकर चली

गन्तव्यम् । (इति कृष्णमभिनन्द्य पङ्क्तिमति) ॥१३४॥

श्रीकृष्णः—(पदान्तरे स्थित्वा) सखे श्रीदामन्, किं दृष्टपूर्वा तेज गदपूर्वा राधा ? ॥१३५॥

(श्रीदामा सलज्जस्मितं मुखमवाचयति)

सुवलः—अयस्स, दिट्ठपूर्वेति किं एस्सिअं भणासि । एणं इमस्स वहिणी यल्लु एसा । [वयस्य, दृष्टपूर्वेति किमेतावद्भूणसि । ननु एतस्य भगिनी खलु एपा] ॥१३६॥

श्रीकृष्णः—तदेहि । क्षणमत्र कदम्बसंवाद्ये रोधसि निविश्य राधा-मुधावनादुद्देहि चेतो वंशीवादनविनोदेनान्यसः क्षिपामि ॥१३७॥

(इति निष्क्रान्तः)

पौर्णमासी—(परिक्रम्य पुरः पश्यन्ती सानन्दम्) कथमित एव वयस्या विहस्यमाना विक्रोडति मे वत्सेयं राधिका ? (इति लतान्तरे स्थित्वा) ॥१३८॥

— बलादक्ष्णोर्लक्ष्मोः कवलपति नय्यं कुबलयं
मुखोत्तासः फुल्लं कमलवनमुल्लङ्घयति च ।

जाती है ।)

श्रीकृष्ण—(दूसरे स्थान पर जाकर) मित्र श्रीदाम ! तुमने कभी जगत् में अपूर्वरूपवती उस राधा को देखा है ? ॥१३५॥

[श्रीदाम क्षमाकर मुस्कराते हुए मुँह नीचे कर लेता है]

सुवल—कृष्ण ! तुमने राधा को कभी देखा है—यह बात श्रीदाम से कैसे पूछ रहे हो ? वह तो इसकी बहन है ॥१३६॥

श्रीकृष्ण—अच्छा आओ, इन कदम्बों की घनी छाया के नीचे बैठकर राधा-चिन्ता में उद्विग्न मन को वंशी वादन रूप आनन्द में दूसरी ओर लगाता हूँ ? (यह कह कर चले जाते हैं) ॥१३७॥

पौर्णमासी—(घूम कर आगे देखकर आनन्द सहित) आहा ! सखियों के साथ हंसती हुई मेरी बेटी राधा यहां कैसे खेल रही है ? (यह कह कर एक लता के नीचे बैठकर) ॥१३८॥

दशां कष्टावष्टापदमपि नयत्याङ्गिकरुचि-

विचित्रं राधायाः किमपि किल रूपं विलसति ॥१३६॥३२॥

तदेतयोनिर्मलनमंगोष्ठोप्रतिबन्धं परिहरन्ती वीरुन्निरुद्धेनाध्वना विशाखा
यामि ॥१४०॥

(इति निष्क्रान्ता)

(ततः प्रविशति ललितयानुगम्यमाना राधिका)

श्रीराधिका—हला ललिते, किं करेदि अज्जिआ ? | हला ललिते किं
करोति आर्या ? . ॥१४१॥

ललिता—सहि ! तुह सुरदेअस्स पुआकिदे एसा तमालतले वेदिअं
णिम्मादि । [सखि, तव सूर्यदेवस्य पूजाकृते एषा तमालतले वेदिवा
निर्माति] ॥१४२॥

श्रीराधिका—(पुण्ड्रलोचन) हला ललिते, सङ्कोमि सा छेअ एसा
गुन्दाइई जाए माधुरी तुए पुणो पुणो मम वण्णोअदि । [हला ललिते,
सङ्को, सैनेपा वृन्दाटकी, यस्या माधुरी स्वया पुनः पुनर्मम वण्यन्ते] ॥१४३॥

आहा ! श्री राधा के नेत्रों की शोभा नवीन कमल की शोभा की
वरवदा प्राप्त कर रही है, मुख की शोभा विवसित कमलवन का चत्तलघन
कर रही है, अङ्गों की शोभा स्वर्ण छटा को भी लज्जित कर रही है, इस
राधा का विचित्ररूप असा अनिर्वचनीय विलास कर रहा है ॥१३६॥३२॥

इस लिए राधा एवं कृष्ण इन दोनों की निर्मल नर्म गोष्ठी में स्वा-
गत न ढालकर लताओं से आवृत मार्ग द्वारा विशाखा के पास चलती
ह (यह कह कर पीठमासी बनी जाती है) ॥१४०॥

[इसके बाद ललिता के साथ उसके पीछे पीछे चलती हुई श्रीराधा
प्रवेश करती है]

श्रीराधिका—हे ललिते ! आर्या पीठमासी क्या कर रही है ? ॥१४१॥

ललिता—सखि ! तुम्हारी सूर्यदेव की पूजा के लिए तमालतल के
नीचे वेदिना बना रही है ॥१४२॥

श्रीराधिका—(गमने देगबर) हे ललिते ! मानूम होता है, यह यही
वृन्दावन है, जिसका माधुर्य तुम मेरे आगे बार बार वर्णन किया करती
ह ॥१४३॥

ललिता—हला ! सा ज्जेव्व एसा कण्हस्स लीलारक्खवाडिआ ।
[हला, सा एव एषा कृष्णस्य लीलावृक्षवाटिका] ॥१४४॥

श्रीराधिका—(सौत्सुक्यमात्मगतम्) अहो महुरत्तणं दोणं अक्खराणम् ।
(प्रकाशम्) सहि, वस्स त्ति भणासि । [अहो मधुरत्वं द्वयोरक्षरयो ।
सखि, वस्येति भणसि ?] ॥१४५॥

ललिता—(सावृतास्मृतम्) हला ! भणामि कण्हस त्ति हला,
भणामि कृष्णस्येति ॥१४६॥

श्रीराधिका—(पुनः स्वगतम्) हन्त ! जस्स णामावि रामाचित्तं इत्थ
मोहेदि, सो वल्लु कोदिसो वा णामि त्ति । (इति सावहित्यं प्रकाशम्) हला,
इमाइं णिउञ्जावरि पुञ्जावाइ गुञ्जाफलाइ बिइणिससम् । [हन्त, यस्य
नामापि रामाचित्तमित्य मोहयति स खलु कीदृशो वा नामीति ? हला,
इमानि निपुञ्जोपरि पुञ्जितानि गुञ्जाफलानि विचेप्यामि] ॥१४७॥

ललिता—(सपरिहास ससृष्टेन)

देह ते भुवनान्तरालविरलच्छायाविलासाग्न्यद
मा वीतूहलचञ्चलाक्षि ! लतिकाजाले प्रवेश कृथा ।

ललिता—हा सखि ! यह वही श्रीकृष्ण का लीला-कानन है ॥१४४॥

श्रीराधिका—(उत्पण्डा पूर्वव मन मे) अहो कैसा माधुर्य इन दोनों
अक्षरों का ? (स्पष्ट कहती है) सखि ! तू किस का नाम ले रही है ? ॥१४५॥

ललिता—(अभिप्राय सहित मुस्वरा कर) राधे ! मैं कहती हूँ कृष्ण
का नाम ॥१४६॥

श्रीराधिका—(फिर मन मे) अहो ! जिस का नाम ही सुन्दरियों के
चित्त को इस प्रकार विमोहित करने वाला है, न जाने वह स्वयं नामी
कितना सुन्दर होगा ? (माय को छिपाते हुए स्पष्ट कहती है)—ललित !
बलो निपुञ्जों में लग ममत्त गुच्छ फलों को चयन कर गी ॥१४७॥

ललिता—(परिहास करते हुए) हे वीतूहन च चलनयने ! तुम्हारा
शरीर त्रिभुवन में अलम्ब्य शोभा का विलास भवन है, इसलिए तुम लता
जास में प्रवेश मा करो । यहा अञ्जनराशि के सहस्र मनोहर स्पर्शाली

नय्यामञ्जनपुञ्जलरुचिः कुञ्जेवरी देवता

कान्तां कान्तिभिरङ्कितामिह वने निःशङ्कमाकर्षति ॥१४८॥३३

श्रीराधिका—(किंचिद्भीतेव परावृत्य सनर्मस्मितम्) सहि ललिते, ताए देअदाए एणं तुमं आअइदिदासि, ज एदं जाणासि । [सखि ललिते, तया देवतया नून त्वमाकृष्टासि यदिदं त्व जानासि] ॥१४९॥

ललिता—(विहस्य) हसा ! मं कीस एसा आअटठडु । ण वणु अह तुमं विप्र कत्तोहि अङ्किदा । [हना, मा कस्मादेपाकर्षतु ? न खत्वहं त्वमिव कान्तिभिरङ्किता] ॥१५०॥

(नेपथ्ये वंशीध्वनिः)

श्रीराधिका—(निश्चय्य सचमत्कार स्वगतम्) अम्महे ! इमस्स मोहण-
त्तणं सदस्स । (इति वैशद्य नाटयति) [अम्महे अस्य मोहनत्वं
शब्दस्य] ॥१५२॥

ललिता—(विलोक्य स्वगतम्) हुं ! एसा कोमलाङ्गी कुरङ्गी पढमं
जाले णिवडिदा । [हुं, एसा कोमलाङ्गी कुरङ्गी प्रथम जाले निपतिता]
॥१५२॥

कोई पुंजविहारी देवता रहता है, जो निःशङ्क होकर इस वन में शोम-
नाङ्गी नवीन कान्ता को आकर्षण कर लेता है ॥१४८॥३३॥

श्रीराधिका—(थोड़ी डर कर पीछे हटकर, परिहास युक्त मुस्कराते
हुए)—सखि ललिते ! तुझ को उस देवता ने निश्चय ही आकर्षित किया
है, तभी तू यह सब बात जानती हो ॥१४९॥

ललिता—(हस कर) मुझे क्यों देवता आकर्षण करेगा ? मैं तुम्हारी
तरह गुन्दरी थोड़ी ॥१५०॥

[पर्दे के पीछे वंशीध्वनि होती है]

श्रीराधिका—(सुन कर चमत्कृत हो मन में) आहा ! इस ध्वनि में
यह वंशी मोहनी शक्ति ! (यह कहकर बेसुध हो जाती है) ॥१५०॥

ललिता—(यह देखकर मन ही मन में) हां यह कोमलाङ्गी हरिणी
पहनी हो बार जान में फंसी है ॥१५२॥

राधिका—(प्रयत्नेन धैर्यमालम्ब्य स्वगतम्) अवि नाम ण सद्दो
मिअपूर उगिरन्त जण पेक्खिस्सम् ? [अपि नाम एन शब्दामृतपूरमुद्गि-
रन्त जन प्रेक्षिष्य] ॥१५३॥

ललिता—(उपसृत्य) हला राधे अतिय मद्दुवरि तुह बोसद्धबुद्धी ?
[हला राधे, अस्ति मद्दुपरि तव विश्वबुद्धि ?] ॥१५४॥

राधिका—हला ! कोस एव्व भणसि ? सुम जेव्व तत्थ पमाणम् ।
[हला, कस्मादेव भणसि । त्वमेव तत्र प्रमाणम्] ॥१५५॥

ललिता—कधेदु पियसही किंत्ति अकाण्डे विवसा अस्ति तुमम् ।
[कथयतु प्रियसखी किमित्यकाण्डे विवशासि त्वम् ?] ॥१५६॥

राधिका—(सलजम् संस्कृतेन)

नाद कदम्बविटपान्तरतो विसर्पन्-

को नाम कर्णपदयोमधिशत जाने ।

हा हा कुत्सीनगृहिणीगणगर्हणीया

येनाद्य कामपि दशा सखि ! सम्भितास्मि ? ॥१५७॥३४॥

ललिता—हला ! एसो मुरलीरओ । [हला, एष मुरलीरव] ॥१५८॥

श्रीराधिका—(यत्न पूर्वक धीरज धारण कर मन ही मन म)—
क्या मैं इस ध्वनि अमृतप्रवाहकारी व्यक्ति को देख सकूंगी ? ॥१५३॥

ललिता—(निकट आकर) ओ राधे ! तुम्हें मुझ पर विश्वास है ? ॥१५४॥

श्रीराधिका—अहो ! यह कैसे कह रही हो ? तुम स्वयं ही इसका
प्रमाण हो ॥१५५॥

ललिता—प्रिय सखि ! वहाँ फिर, तुम विना कारण ऐसी विवश
क्या हो रही हो ? ॥१५६॥

श्रीराधिका—(शर्मिली हुई) ललिते ! मैं कुछ कह नहीं सकती हूँ,
कदम्ब वृक्ष से अचानक किसी एक ध्वनि ने मेरे कानों में प्रवेश कर
लिया, हाय ! हाय ! उससे मैं आज एक ऐसी विचित्र अवस्था का प्राप्ति
हो गई हूँ, जो कुत्सीन स्त्रिया के लिए निन्दनीय है ॥१५७॥३४॥

ललिता—सखि ! यह तो मुरली-ध्वनि थी ॥१५८॥

राधिका—(सव्ययं संस्कृतेन)

अजडः कम्पसंपादो शस्त्रादन्यो निकृन्तनः ।

तापनोऽनुष्णताधारः को वाऽयं मुरलीरवः ? ॥१५६॥३५॥

(इत्युद्वेगं नाटयन्ती) हला ! नाहं मुरलीणाञ्जस्स अणहिण्णा । ता अलं विप्पलम्भेण । फुडं एसो केण वि महानाअरेण कोवि मोहनमन्त्रो पढीअदि । [हला, नाहं मुरलीनादस्यानभिज्ञा । तदलं विप्रलम्भेण । स्फुटमेव केनापि महानागरेण कोऽपि मोहनमन्त्रः पठ्यते] ॥१६०॥

(प्रविश्य चित्रपटहस्ता विशाखा)

विशाखा—(राधामवधारयन्ती स्वगतम्) दाणिं अण्णादिसी एसो सवधीअवि । ता णूणं कण्हस्स वंसिआए डंसिदा । होदु । पुच्छिस्सम् । [इदानीमन्यादृशी एषा लक्ष्यते । तन्नूनं कृष्णस्य वंशिकया वंशिता । भवतु, प्रक्षयामि] (इत्युपसृत्य प्रकाशम् संस्कृतेन) ॥१६१॥

क्षीणीं पङ्किलयन्ति पङ्कजचोरक्ष्णोः पयोधिन्दवः

श्वासास्ताण्डवयन्ति पाण्डुवदने वूरादुरोजांशुकम् ।

श्रीराधिका—(व्यथा पूर्वक) यह हिम तो थी नहीं परंतु कम्पा देने वाली थी, शस्त्र के बिना ही काट देने वाली ! आग के बिना ही जला देने वाली ! यह कैसी मुरली-ध्वनि ? ॥१५६॥३५॥

(उद्वेग प्रकाशित करते हुए) मैं मुरली-ध्वनि से अनभिज्ञ नहीं हूँ, मुझे धोखे में डालने का क्या प्रयोजन ? स्पष्ट है कि कोई महानागर पड़ रहा है किसी मोहन-मन्त्र को ॥१६०॥

[इतने में चित्र पट्ट हाथ में लिए विद्याया प्रवेश करती है]

विशाखा—(श्रीराधाजी को ध्यान पूर्वक देखकर मन ही मन में) इस की तो यह दूसरी दशा दोस्तनी है, निश्चय ही यह श्रीकृष्ण की वंशी द्वारा डसी गई है । ठीक है, पूछनी हूँ [यह सोचकर निकट आती है] ॥१६१॥

—हे पाण्डुमुनी ! तुम्हारे कमल सदृश नेत्रों से अश्रुधारा बहकर पृथ्वी को गन्धित कर रही है, तुम्हारा श्वास दूर से ही बधस्थल के वस्त्र

मूर्ति दन्तुरयन्ति संततममो रोमाञ्चपुञ्जाश्च ते
मन्ये माधवमाधुरी श्रवणयोरभ्यासमभ्याययो ॥१६२॥३६॥

राधिका—(अनाकणितकेनेव सोत्कम्पम्) ललिते ! पुणो वि एसो सो
जेव्व कोवि सद्दो विक्कमदि। [ललिते, पुनरप्येप स एव कोऽपि शब्दो विक्रमते]
॥१६३॥

ललिता—(संस्कृतेन)

एष स्वयंभुजङ्गसङ्घदमनासङ्गे विहङ्गेश्वरो
द्रीडाव्याधिधुराविधूननविधौ तन्वाङ्गि धन्वन्तरिः ।
साध्वीगर्वभराम्बुराशितुलुकारम्भे तु कुम्भोद्भवः
कालिन्दोत्तटमण्डलेषु मुरलीतुण्डादध्वनिर्घावति ॥१६४॥३७॥

राधिका—सहि ! जादा मह हिअए कावि गुई वेअणा । ता गढुअ
सुविस्सम् । [सखि, जाता मम हृदये कापि गुर्वी वेदना । तद्गत्वा
स्वप्स्यामि] ॥१६५॥

विशाखा—हस्ता राहे, तुह वेअणाविद्धंसणं किपि एवं ओत्तहं मह

को नृत्य करा रहा है, पुलकावलि तुम्हारे शरीर को मारने कण्टकाकीर्ण
बना रही है, हे राधे ! जान पड़ता है श्रीमाधव की माधुरी तुम्हारे कानों
में पड़ गई है ॥१६२ ३६॥

श्रीराधिका—(अनसुनी सी करते हुए काँपती हुई) हे ललिते !
फिर कोई उसी प्रकार का शब्द सुनाई दे रहा है ॥१६३॥

ललिता—हे कृशाङ्गि ! (इस शब्द को साधारण मत समझो) यह
रमणियों के धीरज रूप सर्प को शमन करने में गरुड़ के समान है, गज्जा-
रूप व्याधि-भय नाश करने में धन्वन्तरि है, तथा माध्वी युवतियों के गर्व
रूप समुद्र को क्षोषण करने में अगस्त्य के तुल्य होकर यमुना तट विहारी
मुरलीवदन—श्रीकृष्ण से हो आ रहा है ॥१६४॥३७॥

श्रीराधिका—सखि ! मेरे हृदय में बड़ी वेदना हो रही है, मैं तो
जाकर सोती हूँ ॥१६५॥

विशाखा—राधे ! तुम्हारी वेदना को मिटाने वाली औषधि, यह

हस्ते वट्टदि । 'ता सेवेहि णम् [हला राधे, तव वेदनाविध्वंसन किमप्ये-
तदीपध मम हस्ते वत्ति । तत्सेवस्वैनम् ।] ॥१६६॥

राधिका—विसाहे, एहि । अङ्गणोपकण्ठे फुल्लकणिआरमण्ड-
लीच्छाअं अञ्जासिअ पेखम्ह [विशाखे ! एहि अङ्गणोपकण्ठे फुल्ल-
कणिकारमण्डलीच्छायामध्यास्य प्रेक्षोमहे ।] ॥१६७॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति विदग्धमाधवे वेणुनावदिलासो नाम प्रथमोऽङ्कः.

देख, मेरे हाथ में इसका सेवन कर ॥१६६॥

श्रीराधिका—विशाखे ! आ, अङ्गण के समीपवर्ती पुष्प कणिकाओं
की छाया के नीचे बैठकर इसे देखे ॥१७॥

[मह कहकर सब चली जाती है]

इस प्रकार श्रीश्यामदास अनुवादित श्रीविदग्धमाधव नाटक का 'वेणुनाद
दिलास' नामक प्रथम अंक समाप्त हुआ ॥१॥



द्वितीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति नान्दीमुखी]

नान्दीमुखी—आदिहृम्हि तत्तहोदीए पौणमासीए, जघा—अइ णन्दी-
मुहि, सुद मए णिभरा असुत्थसरोरा मे दच्छा राही । ता गढुअ जाणोहि
से तत्तं ति । तवो मुहराघरं गमिस्सम् । (इति परिक्रम्य पुरः पश्यन्ती)
पधं इअ जेण्व कन्दली मुहरा आअच्छइ ? [आदिष्टास्मि तत्रभवत्या
पौर्णमास्या, यथा—‘अयि नान्दीमुखि ! श्रुत मया निर्भरा अस्वस्थशरीरा मे
वत्सा राधा । तद्गत्वा जानोहि तस्यास्तत्त्वमिति । ततो मुखरागृहं गमिष्यामि
कथमित एव क्रन्दन्ती मुखरा आगच्छति ?] ॥१॥

(प्रविश्य ।)

मुखरा—हढी हढी । हदम्हि मन्दभाइणी ? [हा धिक् हा धिक्,
हतास्मि मन्दभागिनी ।] ॥२॥

नान्दीमुखी—अज्जे मुहरे, कीस रोअसि ? [आर्ये मुखरे ! कस्मात्
रोदिपि ?] ॥३॥

दूसरा-अङ्कः

[नान्दीमुखी प्रवेश करती है]

नान्दीमुखी—मुझे देवी पौर्णमासी ने आज्ञा दी कि “हे नान्दीमुखि !
मैं ने सुना है कि—मेरी बेटी श्रीराधा का शरीर अस्वस्थ है, तू जाकर
उसका हाल पता करके आ, उसके बाद मैं मुखरा के घर जाऊँगी ।”
(इतना कह घूमकर सामने देखती है) यह रोती हुई मुखरा इधर आ
रही है क्या ? ॥१॥

[मुखरा प्रवेश करती है]

मुखरा—हाय ! हाय धिक् ! मैं मन्दभागिनी मारी गई ॥२॥

नान्दीमुखी—आर्ये मुखरा ! क्यों रो रही हो ? ॥३॥

मुखरा—(विलोक्य ।) वच्छे, राहोसंदावेण ? [वत्से, राधा-संतापेण ।] ॥४॥

नान्दीमुखी—केरिसं चेदुई राहो ? [कीदृशं चेष्टते राधा ?] ॥५॥

मुखरा—वच्छे, वाउला विअ किपि पलवइ । [वत्से, वातुला इव किमपि प्रलपति ।] (इति संस्कृतेन ।) ॥६॥

कूराणांमलिनां कुलैर्मलिनया कृत्यं न मे मालया

बालाहं किमु नर्मणस्तव पवं दूरीभव प्राङ्गणात् ।

इत्यादीनि दुरक्षराणि परितः स्वप्ने तथा जायरे

जलपन्तो जलजेक्षणा क्षपयन्ति बलेशेन रात्रिदिवम् ॥७॥१॥

नान्दीमुखी—(स्वगतम् ।) उपसर्गकिंवा न बहु एरिसी पलाव-मुद्रा । ता विट्ठिआ विषकमिदं एत्थ कण्हयिलासेण । [उपसर्गकृता न खत्वीदृशी प्रलापमुद्रा । तद्दिष्ट्या विक्रान्तमत्र कृष्णविलासेन ।] ॥८॥

मुखरा—वच्छे, अहं गदुअ भववदीं विण्णविसम् । तुमं वेवसीकुड्ढां उपसप्पिअ राहिअं पेच्छ ? [वत्से, अहं गत्वा भगवती विज्ञापयिष्यामि । त्वं वेतसीकुड्ढमुपसप्यं राधिका प्रेक्षस्व ।] ॥९॥

मुखरा—(देखकर) बेटी ! राधा के दुःख में ॥४॥

नान्दीमुखी—क्या हाल है राधा का ? ॥५॥

मुखरा—बेटी ! पागल की तरह वह इस प्रकार प्रलाप कर रही है—॥६॥

“कूर भंवरो से छेदी और मलीन यह माला मुझे नहीं चाहिए मैं वाला हूँ, तू क्या अपनी हंसी करायेगा ? इस प्राङ्गण से दूर चले जा ।” इस प्रकार के दुर्वचन, वह १५, सोती हो या जागती, धोलती रहती है, बड़े कष्ट से दिन-रात काट रही है ॥७॥

नान्दीमुखी—(अपने मन में) इस प्रकार का प्रलाप तो कोई उपद्रव नहीं है । सौभाग्य से कृष्ण-विलास के निमित्त ऐसा हो रहा है ॥८॥

मुखरा—पुत्री ! मैं पौर्णमासी के पास जाकर उसे सब हाल बताऊँगी, तू वेतसीकुड्ढ में जाकर राधा को देख । (इतना कहकर दोनों चली जाती है, ॥९॥

(इति निष्क्रान्ते)

(ततः प्रविशति सखीभ्यामुपास्यमाना राधा)

राधा—(सोद्वेगः स्वगतम्) हृदहिअअ, जस्स चडिच्छन्दद सणमे-
त्तावो ईरिसो दुल्लहसगमा उवत्थिवा दे अवत्था तत्थं वि पुणो राअं वहसि ।
[हतहृदय ! यस्य प्रतिच्छन्ददर्शनमात्रत ईदृशी दुल्लहसगमा उपस्थिता
तेऽवस्था तत्रापि पुनः रागः वहसि !] ॥१०॥

उभे—हला राहिए, आमयेहिन्तो विलक्षणो दे वेअणाणुबन्धो
रुक्खीअदि । ता कोस अम्हेसु तत्तं न कघेसि ? [हला राधिके, आमयभ्यो
विलक्षणन्ते वेदनानुबन्धो लक्ष्यते । तत्कस्मादस्मासु तत्त्वं न कथयसि ?]
॥११॥

[राधिका निश्चस्य वक्त्रं व्यावर्तयति]

विशाखा—(पुराऽभिगम्य ससृक्तेन)

चिन्तासततिरद्य कृन्तति सखि स्वान्तस्य किं ते धृति
किं वा सिञ्चति तान्त्रमम्बरमतिस्वेदाम्भसा डम्बर ?

[सब ललिता और विशाखा दोनों सखियों द्वारा सेवित श्रीराधा
प्रवेश करती हैं]

श्रीराधिका—(उद्वेग पूर्वक अपने मन में) ओ मेर मन ! जिसके
चित्रपट को देखकर तेरी ऐसी दुर्दशा हुई, फिर भी तू उससे प्यार करता
है ? ॥१०॥

ललिता-विशाखा—हूँ राधि ! जिस रोग से तुम विलक्षण वेदना का
अनुभव करती दीखती हो, फिर हमें तुम उसका निदान क्यों नहीं बताती ?
॥११॥

[श्रीराधा जो लम्बी सास छोड़कर मुख धुमा लेती हैं]

विशाखा—(सामने आकर) हे राध ! सज्जन चिन्ताओं ने आकर
तुम्हारे अन्तःकरण का धीरज तोड़ डाला है क्या ? जो पसीने से तुम्हारा
लाल वस्त्र भीग रहा है । हूँ चम्पक-गोरी ! क्या चम्पक ने आकर तुम्हारे
शरीर की स्थिरता को जबरदस्ती हिला डाला है ? हे सखि ! जो कुछ भी हा

कम्पश्चम्पकगौरि लुम्पति धपु स्थैर्यं कथं वा बलात्
तथ्यं ब्रूहि न मङ्गला परिजने सगोपनाङ्गीकृति ॥१२॥१॥

राधिका—(सासूयम्) अइ निटठुरे विसाहे, तुम एव पुच्छन्ती वि ण
सज्जसि ? [अयि निटठुरे विशाखे, त्वमेव पृच्छन्त्यपि न सज्जसे ?] ॥१३॥

विशाखा—(सशङ्कम्) हला, कहिपि अवरद्धमिहि ति ण सुमरामि ।
हला, कहिचिदप्यपरादास्मीति न स्मरामि ।] ॥१४॥

राधिका—अइ णिविकवे, कोस एव भणसि ? सुमरिअ पेशख ।
[अयि निष्कृपे, कस्मादेव भणसि ? स्मृत्वा पश्य ।] ॥१५॥

विशाखा—हला, गरुण वि पणिहारोण ण मे मुमरणां होदि ।
[हला, गुरुणापि प्रणिधानेन न मे स्मरण भवति ।] ॥१६॥

राधिका—उम्मत्ते, गहरो इमस्सि अस्सहिवाणलकुण्डे तुम जेध्व मह
पक्खेवणी । [उम्मत्ते, गहने एतस्मिन्नत्याहितानलकुण्डे त्वमेव मम प्रक्षेपणी
॥१७॥

विशाखा—हला ? कथं विअ ? [हला ! कथमिव ?] ॥१८॥

तुम, हमारे सामने तथ्य को बताओ, आत्मीयजनो से अपने मन की बात
छिपाने से मङ्गल नहीं होता है ॥१२॥

श्रीराधिका—(निरादर पूर्वक) ओ निटठुर विशाखे ! तुम्हें यह
पूछते हुए शर्म नहीं आती ? ॥१३॥

विशाखा—(शङ्का सहित) अहो ! मुझसे तुम्हारा क्या अपराध
हुआ ? मुझे तो याद नहीं ॥१४॥

श्रीराधिका—अरी निर्दयि ! ऐसा क्यों कहती हो, देख याद करके
॥१५॥

विशाखा—राधे ! बहुत सोचने पर भी मुझे तो कुछ स्मरण नहीं
हो रहा ॥१६॥

श्रीराधिका—वावरि ! यहां अति भयानक अग्निकुण्ड मे मुझे
फेंकने वाली तू ही तो है ॥१७॥

विशाखा—ओहो ! वह कैसे ? ॥१८॥

राधिका—(सिष्यम्) अह मिच्छासरले, आलेख्यगतभुजङ्गसङ्गिणि,
चिठ्ठ चिठ्ठ । [अयि मिथ्यासरले, आलेख्यगत भुजङ्गसङ्गिणि । तिष्ठ
तिष्ठ ।] (इति सवैवश्यं सस्कृतेन) ॥१६॥

वितन्वानस्तन्वा भरकनरुचीनां रुचिरतां
पटान्निष्क्रान्तोऽमूढूतशिखिशिखण्डो नवयुवा ।

(इत्यर्घोक्ते वाक्स्तम्भ नाटयति)

(सख्यौ सभ्रूभङ्गमन्योन्य पश्यत)

राधिका—

भ्रूषं तेन क्षिप्त्वा किमपि हसतोन्मावितमते

शशौ वृत्तो बल्लिः परमहह बल्लिमम शशौ ॥२०॥३॥

ललिता—हला, किं एसो सिविणस्स विलासो ? [हला, किमेप
स्वप्नस्य विलासः ?] ॥२१॥

राधिका—(सस्कृतेन)

किं स्वप्नस्य विलक्षणा गतिरियं किं जागरस्याथ वा

किं रात्रेरुपसत्तिरेव रभसादह्लः किमह्नाय वा ।

श्रीराधिका—(ईर्ष्या पूर्वक) ओ भूठी ! चित्तपट स्थित सर्पों का
सङ्ग करने वाली ! ठहर, ठहर,—(यह कहकर विवश होकर कहने लगी)—
॥१६॥

जो अपने शरीर से भरकत-मणि समूह की कान्ति विस्तार कर
रहा था, मस्तक पर जिसके मोरपुच्छ था, वह नवयुवक जब चित्रपट
से बाहर निकला (इतना आधा वाक्य बोलते गला रुक जाता है)

[ललिता-विशाखा भूकुटि का इशारा कर परस्पर देखती हैं]

—और मुसकराते हुए मेरी तरफ कुछ ऐसा अद्भुत कटाक्ष किया, तब
से ही मेरी बुद्धि पागल हो गई है और भुभे चन्द्र अग्नि की तरह गरम
और अग्नि चन्द्र की तरह शीतल लग रही है ॥२०॥३॥

ललिता—राधे ! कोई स्वप्न की बात है क्या ? ॥२१॥

श्रीराधिका—यह विलक्षण गति मैं ने स्वप्न में देखी है या जागते

इत्थं श्यामलचन्द्रिकापरिचयस्पन्देन संदीपित-
रन्तःक्षोभकुलैरहं परिवृता प्रज्ञातुमज्ञाभवम् ॥२२॥४॥

विशाखा—(सावृतस्मित) हला राधे, जरा एसी दे चित्तविभ्रमो
जेव बल्लणिओ । [हला राधे ! नूनमेव ते चित्तविभ्रम एव क्षणिकः ।]
॥२३॥

राधिका—(साम्यसूयम्) अहं अबोसंदे, विरमेहि । कीस अप्पणी
दोसं सम्पिडुं पउसासि ? [अयि अविश्रद्धे, विरम । कस्मादात्मनो
दोषमाच्छादयितुं प्रवृत्तासि ?] (इति संस्कृतेन) ॥२४॥

कृतां भक्तिच्छेदैर्घुं सृणघनचर्चामिधिवहन्-
पुनर्लब्धो तुग्धः प्रियकरमूले चटुलधी ।
लपन्त्याः साक्षेपं न हि न हि न होति स्मितमुखो
हठान्मे दुर्लोलः स किल भुजवल्लीदलमघात् ॥२५॥५॥

ततश्च ।

दरोन्मीलम्रीलोत्पलदलरुचस्तस्य निबिडाद्
विलुप्तानां सद्यः करसरसिजस्पर्शकुतुकात् ।

मे, रात को देखी कि दिन में ही प्रत्यक्ष देखी है, मैं कुछ भी नहीं जानती हूँ,
मैं तो उस श्यामल चन्द्रिका की प्रबलधारा में बही जा रही हूँ ॥२२॥४॥

विशाखा—(अभिप्राययुक्त मुसकान पूर्वक) हे राधे ! निश्चय ही
तुम्हारी यह चित्तभ्रान्ति क्षणकाल के लिए है ॥२३॥

श्रीराधिका—(ईर्ष्या सहित) ओ अविश्वासिनी ! चुप रह । क्यों
अपने दोषों को छिपा रही है ? ॥२४॥

—मैं कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठी थी, वह चञ्चल-बुद्धि कामुक मेरी
भुजा पर अपनी अंगुली से विचित्र रूप से कुङ्कुम लेप करने लगा । फिर
तुग्ध होकर मेरे पास आया और मैं आक्षेप करते हुए न न न करती रही
फिर भी उस दुर्लोल ने मुस्कराते हुए मेरी भुजाओं को पकड़ लिया ॥२५॥५॥

सखि ! उसके बाद अघबुले नीलकमल कान्ति वाले उस लम्पट के
करकमल का स्पर्श होते ही मुझे अतिशय कौतुक हुआ और उसके लिए

वहन्तो क्षोभाणां निवहमिह नाज्ञासिपमिदं
क वाहं का वाहं चकर किमह वा सखि तदा ॥२६॥६॥

(इति वैवश्य नाटयन्ती स्वगतम्) अइ दुष्टहिअअ मकड । कण्हो वंणविओ सामलकिसोरो त्ति तिसोमु पुरिसेमु राअ वहन्तो वि तुम ण लज्जसि । ता वाणि अप्पाणं चावादिअ पामर तुम हतासं करिस्सम् । [अयि दुष्टहृदय मकंट, कृष्णो वंणविक् इयामलकिशोर इति त्रिपु पुष्टपेपु राग बहुदपि त्व न लज्जसे । तदिदानीमात्मान व्यापाद्य पामर त्वा हताश करिष्ये ।]

ललिता—हन्त, हृदयममहसच्चिवस्स वसन्तस्स विष्फुज्जिदेण दूषिता एवे परिसरा दीसन्ति । ता किं एस्य सरणम् ? [हन्त, हतमन्मथसच्चिवस्य वसन्तस्य विस्फूर्जितेन दूषिता एते परिसरा दृश्यन्ते । तत्किमत्र शरणम् ?]

राधिका—(सस्मृतेन)

विक्रीडन्तु पटीरपर्थतटीसंसर्गिणो मारता
सेलन्त. कलयन्तु कोमलतरां पुंस्कोकिला काक्षीम् ।
सरम्भेण शिलीमुखा ध्वनिभूतो विध्यन्तु मन्मानस
हस्यिग्या सति मे ध्ययां परममो कुर्वन्तु साहायकम् ॥२६॥७॥

अनेक क्षोभ करती हुई मैं वेसुघ हो गई, फिर मैं यह कुछ न जान सकी कि मैं कौन हूँ और हूँ कहा ? ॥२६॥६॥

(इतना कहकर व्याकुलतापूर्वक मनमें कहने लगी)—अरे मकंट सदृश दुष्ट हृदय । कृष्ण, वेणु-वर्जया, तथा इयामल-विशोर—इन तीनों पुष्पों से अनुराग करते हुए तू लज्जित नहीं होता ? इसलिए मैं अपने शरीर को नष्ट कर तुझ पामर को हताश करूँगी ॥२७॥

ललिता—हाय ! हाय ॥ दुष्ट बन्धु के मन्सी वसन्त के फूटने से ये सब मार्ग दूषित हो रहे देख हैं, अब कहाँ जाए ? ॥२८॥

श्रीराधिका—सति । मलयाचल स्पर्शा वायु विशेष रूप में बहे, कोकिलाएँ क्रीडारत होकर मुमधुर ध्वनि करें और मधुर मधुर ध्वनि गुञ्जार करें—इस प्रकार मेरे मन को घायल कर दीघ्र ही मेरी दस परम वेदना का अन्त करने में ये सहायता करें, अर्थात् मेरी मृत्यु हो जाय तो इस वेदना से मेरा छुटकारा हो । ॥२६॥७॥

उभे—(साख्यम्) हला, एदाहि घोरचिन्ताहि कीस कलिम्मसि ? अम्हेहि तकिदं अदिमेत्तदुल्लहो ण वधु दे हिअअट्ठिदो अत्यो । [हला, एताभिर्घोरचिन्ताभि कस्मात्त्वताम्यसि ? अस्माभिस्तर्कितमतिमात्रदुलंभो न खलु ते हृदयस्थितोऽर्थ ।] ॥३०॥

राधिका—(निश्चस्य सस्कृतेन)

इयं सखि सुदुसाध्या राधाहृदयवेदना ।

कृता यत्र चिकित्सापि कुत्साया पर्यवस्यति ॥३१॥८॥

ता विष्णवेमि इमस्सि ओसरे जघा सुदिठ एक्कं लदापास लहेमि तथा सिणेहस्स णिविक्कदि करेध । [तद्विज्ञापयाम्येतस्मिन्नवसरे यथा सुदुहमेक लतापाश लभेय तथा स्नेहस्य निष्कृति कुरुय ।] ॥३२॥

उभे—(सव्यथम्) हला, एवं दारुण भगन्ती मा वधु सहीण जीविव लुम्पेहि । एत्तां पद्मासणा दे अहिट्ठसिद्धी । [हला, एव दारुण भगन्ती मा खलु सखीना जीवित लुम्प । नून प्रत्यासन्ना तेऽभीष्टसिद्धि ।] ॥३३॥

राधिका—सहीओ, ण जानीध इमाए हवराहीए हिअअदुट्ठत्तणम्

ललिता-विशाखा—(नेत्रो में अश्रुभरकर) इस प्रकार की घोर चिन्ताओ से क्यों अपने दिल को दुःखा रही हो ? तुम विश्वास करो, तुम्हारे हृदय के भाव हमसे छिपे नहीं हैं ॥३०॥

श्रीराधिका—(लम्बा श्वास छोड़ते हुए)—हे सखि ! राधा की हृदय वेदना अत्यन्त दुःसाध्य है, जिसकी चिकित्सा का भी केवल निन्दा मे ही पर्यवसान होगा (अर्थात् चिकित्सा से भी मेरा बचना कठिन है अतः मेरी मृत्यु होने पर चिकित्सक की निन्दा ही होगी ॥३१॥८॥

इसलिए मैं कहती हूँ कि इस समय यदि एक मजदूर लता-रज्जु मिल सके तो मुझ पर स्नेह पूर्वक एक उपकार करो । (उस लता रज्जु को गले में बांधकर मैं अपना जीवन समाप्त कर दूँ) ॥३२॥

ललिता विशाखा—(दुःख पूर्वक) राधे ! ऐसी दारुण बात कहकर अपनी सखियों का जीवन अन्त मत करो । हम तुम्हें विश्वास दिलाती हैं, तुम्हारी मनोवाञ्छा सिद्ध होगी ॥३३॥

श्रीराधिका—सखिओ ! तुम हतभागिनी राधा के हृदय की दुष्टता

जें एवं मन्तेथ । [सख्यः, न जानीथ, एतस्या हृतराधाया हृदयदुष्टत्वम्, यदेवं मंत्रयथ ।] ॥३४॥

उभे—कधिदं जेव्व सव्वं पिअसहीए । [कथितमेव सर्वं प्रियसरया ।]

राधिका—णहु णहु, गुरुई लज्जा जेव्व निवारैदि । [न हि न हि, गुरवी लज्जेव निवारयति ।] ॥३६॥

सख्यी—हला, अप्पसआसबो वि गुरुओ अम्हेसु तुह सिणेहो लव्वंखो अबि । ता बहिरङ्गाए लज्जाए को एत्थ अणुराहो ? [हला आत्मसकाशतोऽपि गुरुकोऽस्मासु एव स्नेहो लक्ष्यते । तद्वहिरङ्गाया लज्जायाः कोऽत्रानुरोधः ?] ॥३७॥

राधिका—(संस्कृतेन)

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
साम्बोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः ।
एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः सकृद्वीक्षणात्
कष्टं धिक्पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतिः श्रेयसी ॥३८॥१॥

को नहीं जानती हो, तभी ऐसी सलाह दे रही हो ॥३४॥

ललिता-विशाखा—प्रिय राधा ! तুম अपने हृदय की सब बात कहो न ॥३५॥

श्रीराधिका—न, न, मुझे, लज्जा रोक रही है ॥३६॥

सखीगण—हे राधे ! हम से भी अधिक स्नेह किसी में तुम्हारा है क्या ? फिर इस बाहरी लज्जा का अनुरोध क्यों ? ॥३७॥

श्रीराधिका—सखियों ! एक पुरुष के “कृष्ण”—इस नामाक्षर ने मेरे कानों में घुसते ही मेरी बुद्धि लोप करदी और दूसरे एक पुरुष की वंशीध्वनि ने मुझ में प्रगाढ़ उन्माद पैदा कर दिया तथा तीसरे एक स्निग्ध घनश्याम कान्ति वाले पुरुष का चित्रपट देखते ही वह पुरुष मेरे हृदय में लिपट गया, हाय ! धिक्कार है मुझे, एक तो परपुरुष में, उस पर भी तीन-तीन पुरुषों में मेरी प्रीति ! इससे तो मर जाना अच्छा है ॥३८॥१॥

उभे—(सहपंम्) हला, कथं तुम्हादिसीणं गोउलसुन्दरीणं गोउ-
लिन्दन्णदणं उज्झिअ अवर्गसि अणुशओ संभवदि ? ता सुणाहि । एवको
उजेव सो एसो महाणाअरो कण्हो । [हला, कथं युष्मादशीनां गोकुलसुन्दरी-
णामेनं गोकुलेन्दनन्दनं उज्झित्वा अपरस्मिन्ननुरागः सम्भवति ? तच्छृणु । एक
एव स एष महानागरः कृष्णः ।] ॥३६॥

राधिका—(सोच्छ्वासमात्मगतम्) हिअअ, - समस्सस - समस्सस ।
दाणि जादा तुह जीअसोअणिआसलालसा । [हृदय, समाश्वसिहि समा-
श्वसिहि । इदानी जाता तव जीवलोकेनिवासलालसा ।] ॥४०॥

उभे—(संस्कृतेन)

सा सौरभोमिपरिदिग्धदिगन्तरापि

घन्ध्यं जनु सुतनु गन्धफली विभति ।

राधे न विभ्रमभरः क्रियते यवङ्के ।

रा - कामं निपोतमधुना मधुसूदनेन ॥४१॥१०

नान्दीमुखी—(परिक्रम्य) कथं अगदो जेव एंया राही ? (इत्थुपसृत्य)
जअडु जअडु पिसंही । [कथमग्रत एवंपा राधा ? जयतु जयतु प्रियसखी ।

- ललिता विशाखा—(हपं पूर्वक) राधे ! तुम जैसी गोकुल-सुन्दरियों
का गोकुलराज नन्दनन्दन को छोड़कर और किस में अनुराग सम्भव है ?
सुनो, वह (कृष्ण नाम वाला, वंशी-बजैया तथा श्यामधन कान्ति वाला)
एक ही महानागर पुरुष है कृष्ण ॥३६॥

श्रीराधिका—(उच्छ्वास पूर्वक मन में) अरे हृदय ! आश्वस्त हो,
आश्वस्त हो, तुम्हारी इस जीवलोक में रहने की लालसा पुनः अंकुरित
हो उठी है ॥४०॥

ललिता-विशाखा—हे शोभनाङ्गि ! मधुसूदन (भंवरा) मन भर कर
मधुपान करते हुए जिसके अंक में विहार नहीं करता, वह चम्पक लता
चाहे अपनी गन्ध से सब दिशाओं को क्यों न परिव्याप्त करे, तो भी उसका
जन्म निष्फल है । (पक्षान्तर में—मधुसूदन—श्रीकृष्ण के साथ विना विहार
प्राप्त किए तुम्हारा यह सौन्दर्य निष्फल है ।) ॥४१॥१०॥

नान्दीमुखी—(धूमती हुई) यह क्या ? राधा मेरे सामने राड़ी है !
(निकट आकर) प्रिय सखी जय हो जय ॥४२॥

राधिका—(सावहित्यम्) 'सहि कुसलं भववदोए ।' [सखि, कुशल भवत्या ?] ॥४३॥

नान्दीमुखी—तुह उल्लाहसणे जादे (इति राधां निभाल्य स्वगतम्) अप्पेक्खअ च्चेअ मए पढमं निट्टङ्कितम् । तथावि पुच्छिस्सम् । [तव उल्लासने जाते अपेक्ष्यैव मया प्रथम निष्ठङ्कितम् । तथापि प्रष्टयामि ।] ४४॥ (प्रकाशम् संस्कृतेन)

न मुग्धे वंद्यधीनमिपरिदिग्धा तव मति-
विरामो नेदानीमपि वपुषि बाल्यस्य वयसः ।
कमप्यन्त. क्षोभं प्रथयसि तथापि त्वमथ वा
सखि ज्ञातं वृन्दावनमदनविस्फूर्जितमिदम् ॥४५॥११॥

सलिता—अइ अलिआसङ्किणि, सोदसद'यिखणानिलहेतुअ कम्प-
पुलअ' पेक्खअ कीस दूसहं परिवाढं देसि ? [अयि अलीकासङ्किनि, शीतल-
दक्षिणानिलहेतुकं कम्पपुलक प्रेक्ष्य वस्मात् दुसहं परिवाढं ददासि ?] ॥४६॥

नान्दीमुखी—(सस्मितम् संस्कृतेन)

रोमाञ्च. परिचेप्यते कथमयं नास्माभिस्तकम्भवान्

श्रीराधिका—(भाव छिपाते हुए) सखि ! तुम्हारा कुशल तो है ॥४३॥

नान्दीमुखी—आपकी कुशलता सुनकर । (इतना कहकर मन ही मन मे) चाहे मैंने अपरोक्ष मे पहले ही जान लिया है, फिर भी तुमसे पूछनी हूँ (स्पष्ट रूप से) —॥४४॥

हे मुग्धे ! तुम्हारी बुद्धि अभी रसिकता राशि मे डूबी नहीं और न ही अभी तुम्हारा वचन समाप्त हुआ है, इस लिए हे सखि ! फिर भी तू मनमे इतना क्षोभ क्यों बढा रही है ? मैं जानती हूँ यह वृन्दावन तो मदन द्वारा ही आक्रान्त है । ४५॥११॥

सलिता—मिथ्या आसङ्का करने वाली ! मनयाचल की शीतल वायु से ही राधा मे यह कम्प व पुलक दीप्त रहे हैं । जिस लिए तू असह्य वदनामी लग रही है ? ॥४६॥

नान्दीमुखी—(मुसकराती हुई) ओ भोलीभाली ! मनयाचल की

दुष्कोति न हि दक्षिणाय मरुते दाक्षिण्यशून्ये वद ।

एतन्मन्मथकोटिसंभ्रममरवंभ्रम्यते सुभ्रुवः

स्वान्ते नागरचक्रवर्तिनयनप्रान्तस्य लीलायितम् ॥४७॥१२॥

ता सच्चं कहेहि । कदा एदाए पञ्चवखीकदो गोउलाणन्दो ? [तत्संत्यं कथय
कदा एतया प्रत्यक्षाकृतो गोकुलानन्दः ?] ॥४८॥

विशाखा—एवं ऐदम् । [एवमेतत् ।] ॥४९॥

नान्दीमुखी—(संस्कृतेन)

वरविचलितवाल्म्या वल्सभा बान्धवानां

विहरसि भुवने त्वं पद्मुरामोवपात्री ।

अहह पशुपरामाकामिनो मोहनत्वं

त्वमपि यदमुनान्तर्बादमुन्मादितसि ॥५०॥१३॥

ता अहं भगवदो तुवरेकुं गमिष्यम् । [तदहं भगवती त्वरयितुं
गमिष्यामि ।] (इति निष्क्रान्ता) ॥५१॥

वायु को बदनाम मत कर । क्या हम (वायु से होने वाले) पुलक-कम्प को
नही पहिचानते ? इस सुन्दरी के अन्तःकरण में नागर चक्रवर्ती के नेत्र
कटाक्ष-विलास की कोटि-कन्दर्प शोभा घूम रही है ॥४७॥१२॥

इसलिए तू सच बता अपने उस गोकुलानन्द—श्रीकृष्ण को कब
देखा है ? ॥४८॥

विशाखा—(नान्दीमुखी के कान में) यह है सब बात ॥४९॥

नान्दीमुखी—हे राधे ! तुम्हारा अभी थोड़ा सा चक्कपन दूर हुआ
है, (पूरा यौवन नहीं आया) तुम अपने बान्धवों की स्नेह पात्री हो और
पति को आनन्द देने वाली होकर घर में बिहार करती हो, इसलिए तुम्हारे
लिए आश्चर्य है और गोपी-वल्लभ श्रीकृष्ण की मोहिनी-शक्ति से
तुम्हारा हृदय इतना उन्माद-ग्रस्त हो रहा है ॥५०॥१३॥

अच्छा अब मैं भगवती पौर्णमासी के पास शीघ्रता करने के लिये
(तुम्हें श्रीकृष्ण से शीघ्र मिलाने के लिए) जाऊंगी (इतना कहकर नान्दीमुखी
चली जाती है) ॥५१॥

राधिका—(विमृश्य संस्कृतेन)

सा कल्याणी कुलपुवतिभिः शीलिता धर्मशैली
द्रागस्मार्मिः कथमविनयोत्फुल्लमुल्लङ्घनीया ? ॥

(इत्यर्थोक्ते पुनः सोत्कण्ठम्)

हा दृग्भङ्गीपरिमलकलाकर्मठोऽथ कथं वा
हातुं शक्यः पशुपनगरीनागरीनागरेन्द्रः ॥५२॥१५॥

(ततः प्रविशति नान्दीमुखीमुखराम्यामनुगम्यमाना पीर्णमासी)

पीर्णमासी—मुखरे, किमदु साधबाधा तकिता त्वया राधा ? ॥५३॥

मुखरा—भगवदि, सुणाहि । [भगवति, शृणु ।] (संस्कृतेन)-

अग्रे वीक्ष्य शिखण्डखण्डमचिराद्भुक्तम्पमालम्बते

गुञ्जानां च धिलोकनान्मुहुरसौ सान्नं परिकीरोति ।

नो जाने जनघ्नपूर्वनटनक्रीडाचमस्कारितां

बालायाः किल चित्तभूमिमविशत्कोऽयं नवीनो ग्रहः ॥५४॥१५॥

श्रीराधिका—(वितर्क करते हुए) कुलवती युवतियों द्वारा आचरित जो कल्याणकारी धर्मशैली है, हमसे भला उसका दृष्टता पूर्वक कैसे उल्लंघन हो जायेगा ? (इतना कहकर फिर उत्कण्ठा सहित कहती हैं—) परन्तु हाय ! दृग्-कटाक्ष विद्या-कला में अति निपुण उस गोकुल नागरियों के नागरेन्द्र को कैसे छोड़ सकूंगी ? ॥५२॥१५॥

[तव नान्दीमुखी व मुखरा के साथ पीर्णमासी आ पहुँचती है]

पीर्णमासी—ओ मुखरा ! क्या राधा की दुःसाध्य बाधा पर तुम ने कुछ विचार किया है ? ॥५३॥

मुखरा—भगवति ! सुनो—

यह राधा मोरपुच्छ को देखकर काम्पने लगती है और गुञ्जाओं को देखते ही बार बार नेत्रों में जलभरकर चीतबाग करती है । इसलिये न जाने इस राधा के हृदय-स्थल में अपूर्व नृत्य क्रीड़ा की चमत्कारिता पैदा करते हुए कोई नवीन ग्रह प्रवेश कर गया है ॥५४॥१५॥

पौर्णमासी—(स्वगतम्) सोऽयमुद्दण्डस्य नवानुरागराशेः कोऽपि चण्डिमा । (प्रकाशम्) मुखरे, साधु विज्ञातम्, यदत्र दानवकुलावतंसाः कंसादयो राधामन्विष्यन्ति तेन कोऽप्ययमङ्गनाग्रहो बालामाविवेश ॥१५॥

मुखरा—भगवदि, को एत्थ पड़िआरो ? [भगवति, कोऽत्र प्रतीकारः ?]

पौर्णमासी—अपि दानवारेहं छिरेव ॥१७॥

मुखरा—भगवदि, कुडिला वल्लु जडिला एहं णाहिणन्दिहसदि । [भगवति, कुटिला खलु जटिला इव नाभिनन्दिष्यति ।] ॥१८॥

पौर्णमासी—मुखरे, सा खलु मद्गरा संदिश्यताम् यथा—‘जटिले, मा शङ्किष्यः । कृष्णमात्मविद्ययैव संघटयिष्यामि’ इति ॥१९॥

(मुखरा नमस्कृत्य निष्क्रान्ता)

पौर्णमासी—(उपसृत्य) वरसे, निजाभीष्टलाभेन कृतार्थोभूया. ॥२०॥

(राधा सावहित्थं प्रणमति)

पौर्णमासी—(अपने मन में) यह उसी मुकुन्द के तवीन अनुराग की ही अपूर्व चञ्चलता है । (स्पष्ट रूप से) मुखरा ! तुम ने ठीक ही समझा है, क्योंकि यहा दानवकुल भूषण कंस आदि राधा की तलाश में रहते हैं, इसलिए कोई स्त्रीग्रह इस में आकर प्रवेश कर गया है ॥१५॥

मुखरा—भगवति ! इसका फिर क्या इलाज ? ॥१६॥

पौर्णमासी—दानवदाशु कृष्ण की एक निगाह ही इसका इलाज है ॥१७॥

मुखरा—भगवति ! वह कुटिल जटिला तो यह बात स्वीकार नहीं करेगी ॥१८॥

पौर्णमासी—मुखरा ! तुम जाकर उसे मेरी तरफ से यह दो “हे जटिले ! तुम किसी बात की शङ्का मत करो, मैं आत्मविद्या द्वारा ही कृष्ण का मिलन करा दूँगी” ॥१९॥

(मुखरा नमस्कार कर चली जाती है)

पौर्णमासी—(राधा ने निवट आकर) पुत्ति ! अपने मनोभाञ्जिता को प्राप्त कर कृतार्थ होयो ॥२०॥

[श्रीराधा भाव गोपन करते हुए पौर्णमासी को प्रणाम करती है]

पौर्णमासी—(स्वगतम्)

भजन्त्याः सत्रीडं कथमपि तदाहम्बरघटा-

मपह्लोतुं यन्नाभिनवमदामोदमधुरा ।

अघोरा कालिन्दीपुलिनकलभेन्द्रस्य विजयं

सरोजाक्ष्याः साक्षाद्वदति हृदि कुञ्जे तनुवनी ॥६१॥१६॥

(पुनर्निरूप्य जनान्तिकम्) हन्त नान्दीमुखी, निर्भरगभीरप्रेमोर्षिनिर्मित-
मन. ओभा किमप्येषा विचेष्टते । तदियमवधार्यतामनुरागधीरस्य कापि
दुर्विबोधगभीरविह्वलमवेचित्री ॥६२॥ तथा हि,—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते

बालासी विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः ।

पौर्णमासी—(मन मे) कमल-लोचना भीराधा के हृदय-कुञ्ज मे
कालिन्दी-पुलिन-विहारी उन्मत्त गजेन्द्र ने प्रवेश कर अपनी विजय को
प्रकाशित किया है । यद्यपि यह लज्जा पूर्वक उसकी डका ध्वनि को छिपाने
का बहुत यत्न कर रही है, तथापि इसकी अभिनव उन्माद जनित आनन्द
माधुरी से चञ्चलतायुक्त शरीर रूप कानन ने उस विजय को साक्षात् प्रकट
कर दिया है, अर्थात् हृदय मे उत्पन्न श्रीकृष्ण-अनुराग के विकार इसके
शरीर पर स्पष्ट प्रकाशित हो रहे हैं ॥६१॥१६॥

(फिर निरूपण पूर्वक हाथ की ओट करके कहती हैं)

—हे नान्दीमुखी ! निरतिशय गम्भीर प्रेम तरङ्गों से आन्दोलित
होने के कारण ही मन में क्षुब्ध हुई इस राधा मे ये सब अनिवर्चनीय
चेष्टाएँ हैं । इसलिये यह बात पकी समझ लो कि यह सब अनुगगवीर
(कृष्ण) के ही अनूपम दुर्वोध गम्भीर पराक्रम की विचित्रता है ॥६२॥

और एक आश्चर्य देख—

मुनिगण विषयो से मन को हटा कर एक क्षण काल के लिए भी
जिस कृष्ण मे इस मन को लगाने की सदा कामना करते हैं, यह भोली-
भाली राधा उस कृष्ण से अपने मन को हटाकर दूसरे दूसरे विषयो मे
लगाना चाह रही है, हाय ! योगीगण अपने हृदय मे जिन की थोड़ी सी
स्फूर्ति के लिए अनेक यत्न करते हैं । नान्दीमुखी ! यह मुग्धा राधा उनको

यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कृष्टते
मृगधेयं चत पश्य तस्य हृदयान्निष्ठान्तिमाकाङ्क्षति ॥६३॥१७

नान्दीमुखी—भगवति, ईरिसस्स भाअस्स विण्णाले मूढम्मि ।
[भगवति, ईदृशस्य भावस्य विज्ञाने मूढास्मि ।] ॥६४॥

पौर्णमासी—वत्से, सत्यमात्य दुर्गमोऽयं गाढ़ानुरागविवर्त्तः ।
प्लूयताम् ॥६५॥

पीड़ाभिनं वकालकूटकद्रुतागर्वस्य निर्व्यासतो
निःस्पन्देन मुवां सुधामधुरिमाऽहंकारसंकोचनः ।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
जायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः ॥६६॥१८॥

. तदेहि भावमस्याः परीक्षेवहि । (इत्युपसृत्य) वत्से, किमपि प्रष्टव्यासि ? ॥१७॥

पतिः प्रेमोदात्तः सुचरितकया गोकुलपुरे
प्रसिद्धा ते शुद्धे जनिरपि च सधमोवति कुले ।

अपने हृदय से निकालने की इच्छा कर रही है ॥६३॥१७॥

नान्दीमुखी—भगवति ! इस प्रकार के भाव-विज्ञान को समझने में
मैं तो मूर्ख हों ॥६४॥

पौर्णमासी—बेटी ! तू सब कहती है, इस गाढ़ अनुराग के चक्कर
को समझना बहुत कठिन है । सुनो—॥६५॥

—हे सुन्दरि ! नन्दनन्दन का प्रेम जिस के हृदय में पैदा होता है,
उस प्रेम की पीड़ा और मधुरता को केवल वही ही व्यक्ति ठीक ठीक जान
सकता है । उस प्रेम में ऐसी पीड़ा है कि वह नवीन साँप की जहर-तीव्रता
और अहंकार की चूर-चूर कर धर देती है तथा जब उस प्रेम की आनन्द
धारा प्रवाहित होती है । तब वह अमृत के गर्व को सण्डन कर देती है;
(इस कृष्ण प्रेम में अतिशय दुःख और सुख का एक साथ संमिश्रण है)
॥६६॥१८॥

इमलिए आ हम इस राधा के अनुराग को परीक्षा करें । (इतना
कह कर श्रीराधा जो के निकट आती हैं)—पुत्री राधे ! मैं कुछ पूछना
चाहती हूँ ॥६७॥

तुम्हारा पति अति प्रेमवान है, और तुम भी गोकुल में सुचरिमा

अपूर्वा कुर्वाणा भतिमिह महासाहसमयीं
सुहृद्भ्यस्त्व लज्जामपि किमिव राधे न भजसि ? ॥२८॥१६

(राधिका कातर्यमभिनीय सलज्ज ललिताकर्णमूले लगति)

ललिता—अज्जे, विण्णवेदि राहो । [आर्ये, विज्ञापयति राधा ।]

(इति सस्कृतेन)—

वोषोद्गार त्वमपि कुरूपे हा भयि व्याकुलाया
पावेभ्यस्ते भगवति शपे नापराध्यामि साध्वि ।
पर्ये कर्णोत्पलवलयमिस्ताड्यमानोऽपि धूर्तौ
न इयामात्मा मम तनुपरिष्वङ्गरङ्ग जहाति ॥६६॥२०॥

पौर्णमासी—(सेष्यमिवालोच्य) मुग्धे किमभ्या प्रौढमुद्रा नोदृण्डयसि ?

राधिका—(सरोपम् सस्कृतेन)

क्रोशन्त्यां करपल्लवेन बलवान्तद्यः पिघस्ते मुख
घावन्त्यां भयभाजि विस्तृतभुजो रुग्णे पुर पद्धतिम् ।

प्रसिद्ध हो, तुम्हारा जन्म लक्ष्मी-सम्पन्न निर्मल कुल में हुआ है, इसलिए तुम्हारे कुल में जिस काम को कभी भी किसी ने नहीं किया है, उसे करने का दुस्साहस तुम्हारी बुद्धि में कैसे पैदा हुआ ? हे राधे ! क्या तुम अपने बन्धु-बान्धवों में लज्जिता नहीं होवोगी ? ॥६८॥१६॥

(यह सुनकर श्रीराधा भयभीत होकर लज्जासहित ललिता के वान में कुछ कहती हैं)

ललिता—भगवति ! राधे कुछ आप को निवेदन करती है—

हाय ! एक तो मैं पहले ही व्याकुल हो रही हूँ, उस पर धाग भी मुझे दोष दे रही हैं । भगवति ! मुझे तुम्हारे चरणों की शपथ है, इगमें मेरा कुछ दोष नहीं, मैं पतिव्रता ही हूँ, पत्र-निर्मित कर्णोत्पल द्वारा ताड़ना पर भी हाय ! वह वृत्त इयाम-विग्रह मेरे अङ्गों को आलिंगन किए नहीं छोड़ता ॥६६॥२०॥

पौर्णमासी—(ईष्यासहित देखती हुई) वृष्ण को देवक्य क्यों मुग्ध हो जाती हो ? उसे प्रौढा रमणी बन कर क्यों नहीं दण्ड देनी हो ? ॥७०॥

श्रीराधिका—माता ! (मैं तुम से क्या कहूँ ?) मैं यदि चिन्तनी

पादान्ते वितुल्यसौ मयि मुहुर्दृष्टाधरायां रूपा
मातश्चण्डि मया शिखण्डमुकुटादात्माभिरक्ष्यः कथम् । ७१॥२१॥

पोर्णमासी—(स्वगतम्) निष्कम्पता बद्धमूलोऽयं प्रेमपलाशी । ७२॥

(प्रकाशम्)

त्वया नीतो वामः फलकमिलदङ्गो मधुरिपुः
सुखाशाभिः क्रीडाकुतुकिनि कुतो नेत्रपदवीम् ?
कुकूलाग्निज्वालापटलफटुकैलिर्येदधुना
दशेयं दन्त त्वां ज्वलयति हिमानीव नलिनीम् । ७३॥२२॥

राधिका—(कृष्णमुद्दिश्य सोपालम्भमात्मगतम्) संस्कृतेन—

शिशिरय दृशौ दृष्ट्वा दिव्यं किशोरमितीक्षितः
परिजनगिरां विधग्मन्नात्वं विलासफलाङ्कितः ।

हू तो वह बलवान झट अपने हस्त कमल से मेरे मुख को बन्द कर देता है । यदि मैं भयभीत होकर भागना चाहती हूँ तो वह अपनी भुजाओं को फैला कर मेरे आगे का रास्ता रोक लेता है, यदि मैं उसके चरणों में बार बार पड़ती हूँ तो वह मधुरिपु क्रोधित होकर मेरे अघरों का दंशन करता है । हे भगवति ! तुम ही बताओ मैं उस मोरमुकुटधारी से अपनी कैसे रक्षा करूँ ? ॥७१॥२१॥

पोर्णमासी—(मन मे) राधा के हृदय में निश्चय ही प्रेम-वृक्ष की जड़ें पकी हो चुकी हैं ॥७२॥

(स्पष्ट कहती है) हे क्रीडा-कुतुकिनी ! तुमने सुख पाने की आशा से चित्रपट में लिये उस प्रतिबल नायक को किस लिए नेत्रों से देखा ? हाय ! हाय ! अब जो तुम्हारी दशा देख रही हूँ, इससे ऐसा अनुमान होता है जैसे बर्फ से कमलनी जल जाती है, उसी प्रकार यह (प्रेम की) तुपा-अग्नि भीतर ही भीतर तुम्हें जला रही है ॥७३॥२२॥

श्रीराधिका—(श्रीकृष्ण को उद्देश्य करते हुए तिरस्कार पूर्वक अपने मन ही मन में) मैं ने परिवार के लोगों की इस बात पर विश्वास कर लिया कि उम दिव्य किशोर-मूर्ति को देखते ही तुम्हारा हृदय-ताप नष्ट हो जायगा अब सोचन भीतल होगे और इसलिए मैं ने उमके चित्र-पट की

शिव शिव - कथं जानीमस्त्वामयक्रधियो यमं
निविड्वड्वावह्निज्वालाकलापविशालिनम् ॥७४॥२३॥

पौर्णमासी—(सस्नेहमालोक्य) वत्से, क्षणमेकान्ते निविड्य पुष्पेषु
लेखो निर्मायताम्, यथायं कृष्णाय स्वसखीभ्यां समर्प्यते ॥७५॥

(राधा सखीभ्यां सह निष्क्रान्ता)

पौर्णमासी—(परिक्रम्य) नान्दीमुखि, कृष्णेऽपि नातिदूरे भविष्यति,
यदत्र दक्षिणतो नैचिकोनिपुरम्यस्य हम्वारवाडम्बरोऽयमम्बरमाक्रामति ।
तदहं स्नानार्थं गजामि ॥७६॥ (इति निष्क्रान्ते)

(ततः प्रविशति कृष्णः)

कृष्णः—(सोद्वेगम्)

यदयधि तदकस्मादेव विरमापिताक्षं
नवतडिदभिरामं धाम साक्षाद्भूय ।
तदयधि चिरचिन्ताचक्रसक्ता विरक्ति
मम मतिरूपभोगे योगिनीव प्रयति ॥७७॥२४॥

देखा । शिव ! शिव ! मैं भोली-भाली यह कैसे जान पाती कि वह अतिशय
ज्वालाराशि को देने वाला है ? ॥७४॥२३॥

पौर्णमासी—(स्नेह पूर्वक देखते हुए) बेटो ! एक क्षण एकान्त में
बैठ कर पुष्प दल पर एक पत्र लिखो, जिसे अपनी सखियों के हाथ कृष्ण
को भेज दो ॥७५॥

(तब श्रीराधा ललिता-विशाखा सखियों के साथ चली जाती हैं)

पौर्णमासी—(धूमकर) हे नान्दीमुखी ! कृष्ण भी अधिक दूर नहीं
होगे, क्योंकि दक्षिण दिशा उत्तम गौओं के हम्वार-रव से आकाश भण्डल
पूरित हो रहा है । मैं तो अब स्नान करने जाती हूँ । (इतना कहकर दोनों
चली जाती है) ॥७६॥

[तदनन्तर श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं]

श्रीकृष्ण—(उद्वेग पूर्वक) जब से अकस्मात् नेत्रों को चमत्कृत करने
वाले, विद्युत् के समान मनोरम उस राखे के रूप को मैंने देखा, तब से
नेत्री बुद्धि चिरकाल के लिए चिन्ता-चक्र में फँस गई और योगिनी की तरह
अन्य सब विषयों से विरक्त हो गई है ॥७७॥२४॥

(पुरोऽनुसृत्य स्वगतम्) हन्त, रङ्गणमाल्यमुपनेतुं प्रस्थितो वयस्यः कथं विलम्बते ॥७८॥

(प्रविश्य माल्यहस्तः)

मधुमङ्गलः—कथं अञ्ज दुग्धमणाएदि पिबवअस्सो ? होडु । पसङ्गदो जाणिस्सम् । [कथं मद्य दुग्धमनायते प्रियवयस्यः । भवतु । प्रसङ्गतो ज्ञास्यामि ।] (इति परिक्रम्य कृष्णं पश्यन् स्वगतम् । संस्कृतेन) ॥७९॥

फुल्लप्रसूनपटलैस्तपनीयवर्णा-

मालोष्य चम्पकलतां किल कम्पतेऽसौ ।

शङ्खे निरङ्गुनवकुडकुमपङ्कगौरी

राधास्य चित्तफलके तिलहीवभ्रुव ॥८०॥२५॥

(इत्युपसृत्य) भो, गेह । [भोः, गृहाण ।] (इति माल्यं निवेदयति) ॥८१॥

कृष्णः—(अनाकर्णितकेनैव)

फनफाद्रिनिकेतकेतकीकलिकाकल्पकलेवरद्युतिः ।

हृदि सा मुदिरालिमेदुरे चपला मां किमलंकरिष्यति ॥८२॥२६॥

—(सामने देखकर मन-मन में) ओहो ! मधुमङ्गल रंगण पुष्प माला लेने गया था, इतनी देर कहाँ लगा दी ? ॥७८॥

[इतने में माला हाथ में लेकर मधुमङ्गल आता है]

मधुमङ्गल—(मन-मन में) प्रिय सखा कैसे अनमना हो रहा है ? अच्छा, प्रमङ्गल क्रम से पता लग जाएगा ॥७९॥

(यह कहते हुए घूमकर श्रीकृष्ण को देख मन-ही मन में)

विकसित कुसुमों वाली स्वर्णवर्ण की चम्पकलता को देखकर प्रिय मित्र पुनर्जित हो रहा है, जान पड़ता है निर्मल नवीन कुटकुमपङ्क तटस्थ गौरवर्णा राधा इस के चित्त-पट पर तिमिर स्वरूप धन गई है ॥८०॥२५॥

(आगे आकर) प्रिय मित्र ! यह नो । (यह यह कर माला दे देना है) ॥८१॥

श्रीकृष्ण—(अनगुनी करते हुए) मुझ पर पर्वत जात पेतनी कलिरा की भांति बान्ति पुक्त यह राधा-विजली मेरी गिनाय हृदय मेघ माला पर बिराजमान है, अब और क्या वस्तु मुझे अनश्रुत करेगी ? ॥८२॥२६॥

मधुमङ्गलः—(स्वगतम्) , फलितं मे तपकेण । . (प्रकाशमुच्चैः) भो पिअवअस्स, समुहे विक्कोसन्दं विक्कोस म ण पेवळसि ? [फलितं मे तपकेण । भोः प्रियवयस्य, संमुखे विक्रोशन्तमपि वस्मान्मान-प्रदासे-?] ॥८३॥

कृष्णः—(सावहित्यम्) सखे, चम्पकलताया लावण्याकृष्टेन मया नोपहृष्टोऽसि ॥८४॥

मधुमङ्गलः—सद्य जेय्य भणसि, किंतु संचारिणीए चम्पअलदाए [सत्यमेव भणसि, किंतु संचारिण्याश्चम्पकलतायाः ।] ॥८५॥

कृष्णः—सखे, काममसंभाव्यश्चम्पकलतायाः संचारः ॥८६॥

मधुमङ्गलः—वअस्स, ववणं विरमेदु रङ्गतणम् । उज्जुअं कहेहि कहं सुण्णाहिअओसि ति ? [वयस्य, क्षणं विरमतु, वक्रत्वम् । शत्रुकं कथय कथं सून्यहृदयोऽसीति ।] ॥८७॥

कृष्णः—(सस्मितम्) सखे, मालां विना ॥८८॥

मधुमङ्गलः—बालां ति भणाहि । [बालामिति भण ।] ॥८९॥

कृष्णः—मुषेयं ते विशङ्का ॥९०॥

मधुमङ्गलः—(संस्कृतमाश्रित्य)

मधुमङ्गल—(मन में) मेरा अनुमान सच्चा ही निकला । (स्पष्ट रूप में) हे प्रिय मित्र ! मैं तुम्हारे सामने चिल्ला रहा हूँ फिर भी तुम मुझे क्यों नहीं देख रहे ? ॥८३॥

श्रीकृष्ण—(भाव छिपाते हुए) मित्र ! चम्पकलता के लावण्य में आकृष्ट होने से मैं तुम्हें नहीं देख पाया हूँ ॥८४॥

मधुमङ्गल—सत्य कह रहे हो, परन्तु चलती-फिरती चम्पकलता के ।

श्रीकृष्ण—मित्र ! चलती-फिरती चम्पकलता मिलना तो असम्भव है ।

मधुमङ्गल—मित्र ! थोड़ी देर के लिए टेढ़ापन छोड़ दो, सीधे बोलो, किस लिए निराश-हृदय हो रहे हो ? ॥८७॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराते हुए) सखे ! माला के विना ॥८८॥

मधुमङ्गल—बाला के विना कहो ॥८९॥

श्रीकृष्ण—यह आशंका व्यर्थ है ॥९०॥

न जानीये मूर्ध्निश्च्युतमपि शिखण्डं यदखिलं
न कण्ठे यन्मास्य कलयसि पुरस्तात्कृतमपि ।
तदुघोत वृन्दावनकुहरलीलाकलम हे
स्फुट राधानेत्रभ्रमरवरवीर्योन्नतिरियम् ॥६१॥६७॥

कृष्ण—(स्वगतम्) कथं निखिलमेव तत्कित धूर्तन ? तदल प्रतार्यं
(प्रकाशम्) सखे, यथार्थमास्य । तदाकर्ण्यताम् । ६२॥

मम राधा निसर्गस्थ प्रतोपमनयन्मन ।

महाज्येष्ठोव सहसा प्रवाह सौरसंन्यवम् ॥६३॥६८॥

मधुमङ्गल—गुरू अच्छीरु दे पञ्चखीमुदा एसा । [नूनमक्षोस्ते
प्रत्यक्षीभूतेपा ।] ॥६४॥

कृष्ण—अथ किम् । सुवलत सा परिचिक्वे च (इत्यौत्सुक्यमभिनीय)

भ्रमद्भ्रवत्सीकं प्रतिदिशमपाङ्गस्य वसनै

कुरङ्गीभ्यो भङ्गीभरमुपविशन्तीमिव दृशो ।

मधुमङ्गल—बन्धो ! तुम्हारे मस्तक से मोरपुच्छ पृथ्वी पर गिर
गया है । तुम्हें उसका पता नहीं । तुम्हारे गले में मैं ने माला डाल दी है,
वह भी तुम नहीं जानते । हे वृन्दावन—कुछ सीला विलासी-मातंग !
मैं ने निश्चय जान लिया है कि राधा के नेत्र युगल भ्रमरो का ही यह उन्नत
प्रभाव है ॥६१॥६७॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) इस धूर्त ने सब बात कैसे जान ली है ? अब
इस से अधिक विवाद करने का कुछ प्रभोजन नहीं है । (स्पष्ट कहते हैं)
मित्र ! मैं तुम्हें सच्ची बात बताता हूँ, उसे मुनो ॥६२॥

—महा ज्येष्ठी पूर्णिमा के दिन समुद्र में तूफान आने से जैसे उमरा
जल गङ्गा की तरफ उलटा प्रवाहित होकर क्षोभ उत्पन्न कर देता है,
उसी प्रकार राधा ने मेरे मन की स्वाभाविक गति को दुग्ध कर दिया
है ॥६३॥६८॥

मधुमङ्गल—निश्चय ही तुम्हारे नेत्रों ने उसे देखा है ॥६४॥

श्रीकृष्ण—क्यों नहीं, सुवस द्वारा उसका परिचय मिला है ॥६५॥

(यह कहकर उत्सुकता प्रकाश करते हुए)—

मित्र ! वह राधा चारों दिशाओं में विलास विशिष्ट भ्रूसता द्वारा

ततस्तां बिम्बोष्ठीं कलयति मयि क्रोधविकटो
मनोजन्मा पोष्पं धनुरनुपमं सज्यमकरोत् ॥६६॥ २६॥

मधुमङ्गलः—अवि नाम संयुक्तं अण्णोष्णदंसणम् । [अपि नाम
संवृत्तमन्योऽन्यदर्शनम् ।] ॥६७॥ :-

कृष्णः—नहि नहि ।

तस्याः सखे भूततुषारमयूखबिम्बे
दूराभममालिपदवीमधिरूढमात्रे ।
निर्वन्धतः शपथकोटिभिरम्बयाहं
नीतः क्षणादहह सद्यनि भोजनाय ॥६८॥ ३०॥

मधुमङ्गलः—वअस्स, चिट्ठगिं बहुलाओ बल्लवसुन्दरीओ, तहवि
कीस तुमं एकाए राहीए णिअरं अणुरज्जसि ? [वयस्य, तिष्ठन्ति बहुला
बल्लवसुन्दर्यः, तदपि कस्मात्त्वमेकस्यां राधाया निर्भरमनुरज्यसि ?] ॥६९॥

कृष्णः—सखे, राधायामसाधारणी कापि माधुरीः । तथा हि ।

तस्याः कान्तिद्युतिनि वदने मञ्जुले चाक्षियुग्मे
तत्रास्माकं यदवधि सखे दृष्टिरेषा निविष्टा । —

हरिणियों को मानों उपदेश दे रही थी, मैं ने भी अपने दोनों नेत्रों को
उस बिम्बोष्ठी के दर्शन में जब लगाया, तब कन्दर्प क्रोधित हो उठा और
मेरे प्रति उसने अपना अनुपम पुष्प-धनु तान लिया ॥६६॥ २६॥

मधुमङ्गल—क्या तुम दोनों ने एक दूसरे को देखा है ? ॥६७॥

श्रीकृष्ण—नहीं, नहीं, मित्र ! दूर से ही उस के मुखचन्द्र मण्डल
पर मेरे नेत्र-युगल केवल पहुंचे ही थे कि उस समय माता आ गई और
मुझे कोटि शपथ देकर भोजन कराने घर ले गई ॥६८॥ ३०॥

मधुमङ्गल—सखे ! यह बता, अनेक सुन्दर सुन्दर गोपरमणियां
मौजूद हैं, फिर भी तुम्हारा मन केवल उस श्रीराधा में ही क्यों अनुरक्त
हो रहा है ? ॥६९॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! क्या कहूं, राधा में कुछ अनिर्वचनीय माधुरी
है, सुन—

आहा ! उस राधा के उज्ज्वल कान्तिमय मुख पर तथा मनोहर
नेत्रों पर जब से मेरी दृष्टि गई, मैं तुम से सत्य कहता हूं, तब से चन्द्रमा

सत्यं यमस्तदवधिं भवेदिन्दुमिन्दीवरं वा
स्मारं स्मारं मुखकुटितताकारिणोयं हृणीया ॥१००॥३१॥

मधुमङ्गलः—दसणवो पढम जेव्व तत्थ तुज्झ रामो मए तक्किदो
तिय । ता कित्ति लावण्योवाहिओ त्ति भणासि । [दर्शनन प्रथममेव तत्त
तव रागो मया तर्कितोऽस्ति । तर्कमिति लावण्योपाधिक इति भणसि ?]
॥१०१॥

वृष्णः—सखे, सत्यमात्य । स्वचित्ताभितिवेशादेव तस्यां कोऽपि
महिमोद्गाह प्रतीयते । तथा हि ॥१०२॥

यन प्रकृत्या रतिरुत्तमानां, तत्रानुमेयः परमोऽनुभावः ।
नैसर्गिकी कृष्णमृगानुवृत्तिर्वैशद्य विज्ञापयति प्रशस्तिम् ॥१०३॥३२

(नेपथ्ये)

सहि सारिए, दिट्ठो तुए एत्थ बल्लविन्दणन्दणो । [सखि सारिवे,
दृष्टस्त्वयात्र बल्लवेन्द्रनन्दन ।] ॥१०४॥

और कमलो को याद करके मुझे मुँह बिगाड़ देने वाली लज्जा और घृणा
आती है ॥१००॥३१॥

मधुमङ्गल—मैं समझ गया हूँ, केवल पहली बार दर्शन मात्र से ही
तुम्हारा ऐसा अनुराग राधा में उत्पन्न हो उठा है, फिर क्या ? अब उसकी
लावण्यता का वर्णन क्यों कर रहा है ? ॥१०१॥

श्रीवृष्ण—मित्र ! मैं सत्य कहता हूँ, मैं ने अपने चित्त के अभितिवेश
में ही राधा की अतिशय अनुपम महिमा का अनुवाद किया है, सुन—॥१०२॥

श्रेष्ठ पुरुषों का जहाँ अरने आप अनुराग बढ उठे, वहाँ कोई न कोई
परम श्रेष्ठ पदार्थ या महत्व का अनुमान कर लेना चाहिये, क्यों कि
स्वभावात् वृष्णसार मृग जिस देश में विचरण कर, उस देश की श्रेष्ठता
अवश्य अपने आप ही ज्ञात होती है ॥१०३॥३२॥

(पर्दे के पीछे से आवाज आती है)

ओ सखि सारिवे ! तुमने क्या यहाँ व्रजेन्द्रनन्दन को देगा है ? ॥१०४॥

श्रीकृष्णः—सखे, नेदीयानयं सुकुमारीकण्ठध्वनिर्हृदश्चति । तदत्र तूष्णीमांस्वहे ॥१०५॥

(ततः प्रविशतो ललिताविशाखे)

ललिता—पेख, एसो दिट्ठिआ पुरदो कण्हो । ता उपसप्पम्ह । (इत्युभे तया कृत्वा) जअदु जअदु गोउत्ताणन्दो । [प्रेक्षन्, एष दिष्ट्या पुरतः कृष्णः । तदुपसर्पति । जयतु जयतु शोकुलानन्दः ।] ॥१०६॥

श्रीकृष्णः—सखि ललिते, शङ्के, मनोहारिकुसुमरत्रमादातुमद्य वृन्दा-
टवीमध्येऽवतीर्णासि ॥१०७॥

ललिता—विष्णादं वि पूर्णं आकारेण संगोषेति जं बावुंति न भणासि । ता वेण्हं एं कण्णिआरकोरअपत्तम् । [विज्ञातमपि नूनमाकारेण संगोपयसि यदातुमिति न भणसि । तदगृहार्णनं कणिकारकोरकपत्तम् ।] (इत्यनङ्गलेख कृष्णकरेऽर्पयति) ॥१०८॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) चेतः, समाश्वसिहि समाश्वसिहि । त्वद-
भीष्टवीजस्याङ्कुरोऽयमिति शङ्के ॥१०९॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! यहा निकट ही किसी सुकुमारी की ध्वनि आ रही है, इस लिए हमे चुपचाप रहना चाहिये ॥१०५॥

[तदनन्तर ललिता-विशाखा प्रवेश करती है]

ललिता—सखि ! देखो, देखो, सौभाग्य वश श्रीकृष्ण सामने ही विद्यमान हैं, चलो इनके निकट चलें । (इतना कहकर दोनों उनके पास आकर कहती हैं)—शोकुलानन्द की जय हो, जय हो ॥१०६॥

श्रीकृष्ण—सखि ललिते ! मैं समझता हूँ तुम मनोहारी पुष्प-पत्रों को लेने के लिए आज वृन्दावन में पधारी हो ॥१०७॥

ललिता—जानी हुई बात को भी तुम दूसरे रूप में छिपाते हो, यों क्यों नहीं कहते कि देने के लिए आई हो । यह लो कर्णका कुसुम के सुगन्धित पत्र । (इतना कहकर श्रीकृष्ण के हाथ में अनङ्गलेख अर्पण करती है) ॥१०८॥

श्रीकृष्ण—(मन-मन में) अरे मन ! आश्वस्त हो, तसल्ली कर, जान पड़ता है यही पत्र तुम्हारे मनोवाञ्छित बीज का अङ्कुर है ॥१०९॥

मधुमङ्गलः—भोदि ललिते, किं इमिणा अवखराणां पत्रेण ? सक्कराण पत्तं समप्येहि । [भवति ललिते, किमेतेनाक्षराणा पत्रेण । शक्कराणा पत्रं समप्येहि ।] ॥११०॥

श्रीकृष्णः—सखे, वाचय पत्रम् । कदाचिदेतन्नः कर्णरसायनस्य पात्रोभवेत् ॥१११॥

मधुमङ्गलः—भो वसन्तसि, दिट्ठा तुम्ह गोआतजादोए वदाण्णदा । जं अम्हवम्हणजादि जेव्व गोरएण वन्दामि, जं तहि दिअहे जण्णिअवम्हणीहि चउविहेण अण्णेण भोइवम्ह । [भो वसन्तसि, दृष्टा युष्मद्गोपालजातेर्वदान्यता । नन्वस्मद्ब्राह्मणजातिमेव गोरवेण वन्दे, यत्तास्मिन्दिवसे याज्ञिकब्राह्मणीमिश्र-तुविधेनाग्नेन भोजिताः स्मः ।] (इति लेख वाचयति) ॥११२॥

परिअ पडिच्छन्दगुणं सुन्दर मह मन्दिरे तुमं वससि ।

तह तह रुन्धसि वल्लिअं जह जह चइदा पत्ताएमि ॥

[धृत्वा प्रतिच्छन्दगुणं सुन्दर मम मन्दिरे एव वससि ।

तया तया रुन्धसि वल्लितं यथा यथा चकित्ता पत्ताये] ॥११३॥३३॥

श्रीकृष्णः—सखे, वुरधिगमार्था तावदियं गाथा । तेन पुनर्मर्ण्यताम् ॥११४॥

मधुमङ्गलः—ललिते ! इस अक्षरो के पत्र से क्या होगा, मिठाई का पत्रा समर्पण कर ॥११०॥

श्रीकृष्णः—मित्र ! पटना इस पत्र की, क्या यह हमारे कानो की रसायन का पात्र बनता है ? ॥१११॥

मधुमङ्गलः—हे सखे ! मैंने तुम्हारी गोपजाति की यही तो उदारता देखी है । गौरव पूर्वक हमारी ब्राह्मण जाति की वन्दना करते हो, क्योंकि उस दिन भी याज्ञिक ब्राह्मणियों ने हमें चतुर्विध अन्न भोजन कराया था ॥११०॥

(यह कहकर पत्र पढ़ने लगता है)

—हे सुन्दर ! तुम चित्र-पट के रूप में मेरे भवन में निवास करते हो, जैसे जैसे चकित होकर मैं दधर-उधर भागती हूँ, जैसे ही जैसे उपर आकर तुम मुझे रोक लेते हो ॥११३॥३३॥

श्रीकृष्णः—इस पत्र की बात का अभिप्राय मेरी समझ में नहीं आया, इसलिए इसे फिर पढ़ो ॥११४॥

(मधुमङ्गलस्तथा करोति)

श्रीकृष्ण.—(सानन्द स्वगतम्) कुलस्त्रियो हि धर्मभोरवो भवन्ति । तदुपेक्षया भावनिष्ठां निष्टञ्छूयामि । (इति सरम्भमभिनीय प्रकाशम्) हंहो, पश्य पश्य ॥११२॥

स्निग्धैरेभि सखिभिरचित्तैर्धनुर्वृद्धानुसारो
नारोघात्पिबमुखहृदय, काननान्ते चरामि ।
मां स्त्रैरिष्यस्तदपि यद्विमा द्रुपयन्ति प्रकाम
तद्विजाति द्रुतमिह जरद्गोपगोष्ठ्यां करिष्ये ॥११६॥३४॥

(इति कृत्रिमामर्षेण द्रुत परिक्रामति)

मधुमङ्गलः—(स्मितमावृत्य) भो ब्रह्मचारिणिहामरो ! वृष्ण णिव-
द्विष इमाओ दुम्मुहगोइआओ पञ्चुत्तरेण णिज्जित्तिअ विडुवेहि । अह
वसु एव सद्य धिद्वानं वृत्तन्त गोउलेसरोए विण्णविस्सम् । [भो ब्रह्मचारि-
शिखामरो ! क्षण निवर्त्य इमा दुम्मुखगोपिका प्रत्युत्तरेण निजित्य विद्रावय ।

(मधुमङ्गल फिर पढ़ता है)

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक मन में) कुलस्त्रिया निश्चय ही धर्म-भीरु
होती है । इसलिए इनकी उपेक्षा करके इनके भावों की निष्ठा को जाचता
हूँ । (इतना कहकर शीघ्रता से दिखाते हुए) सखा ! ओहो ! देखना
देखना—॥११५॥

मैं सब सखाओं के साथ गौएँ चराता हुआ वन में ही विचरता हूँ,
मेरा चित्त कभी भी स्त्रियों की वार्त्ता में नहीं जाता है, तो भी यदि ये
समस्त स्वेच्छाचारिणी रमणिया आकर हमें वदनाम करती हैं, तो मैं शीघ्र
जाकर वृद्ध गोपियों की गोष्ठी में यह सब बतलाऊँगा ॥११६॥ ३४॥

(इतना कहकर वनावटी क्रोध दिखाते हुए चलने लगते हैं)

मधुमङ्गल—(हसी को रोकते हुए)—हे ब्रह्मचारि शिरोमणि ! जरा
रुक जाओ, इन दुम्मुखा गोपियों को प्रत्युत्तर देकर पराजित करके अभी
भगा देता हूँ । परन्तु मैं भी मा-यशोदा के पास जाकर इन सब धूट गोपियों
का सब हाल सुनाऊँगा । (इतना कहकर श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ कर

अहं खल्विदं सर्वं घृष्टानां वृत्तान्तं गोकुलेश्वर्ये विज्ञापयिष्यामि ।] ॥११७॥
(इति पाणौ घृत्वा व्यावर्त्तयति)

(इति परस्परमवेक्ष्य वेलक्षणं नाटयतः)

श्रीकृष्णः—सखि विशाखे, चातुरक्षिकं प्रेक्षणमपि नास्ति । कुत-
स्तावत्परितो रोधनम् ? तदुन्नयामि । केनाप्यपरेण नागरेण तस्या स्वान्त-
मुद्घालितम् ॥११८॥

विशाखा—(संस्कृतमाश्रित्य)

कस्तादृशमण्डलेऽद्य चलते शवरो मरीयानसौ
येनोच्चालयितुं यत्नात्कुलवतीचितोगिरिग्रामणीः ?
इत्यस्नाभिरयक्रश्चक्रमत्तवादुरिक्षमगोवर्धनो
हेतुस्त्वं पङ्कजाक्ष यदुमिस्तत्रासि निष्ठद्वितः ॥११९॥३४

मधुमङ्गलः—अइ बाआलिए, छिट्ट विट्ट । दिट्टो मए उबिखस्तदण्ड-
मण्डलेहि गोवेहि गोवदण्डणो धरिबो । तुमं कीस एकं ज्ञेव विअवअस्त

बापस साता है) ॥११७॥

(लेलिता-विशाखा दोनों एक दूसरे को देखकर विस्मय प्रकाश
करती हैं)

श्रीकृष्ण—सखि विशाखा ! मेरी और राधा की कभी चार आंख
हो नहीं हुई हैं—आंख से आंख देखी भी नहीं है, फिर कहो कैसे मैं उसे
चारों ओर से रोक लेता हूँ ? मेरा अनुमान है, किसी दूसरे नागर ने उसके
मन को घट्टचन कर रखा है ॥११८॥

विशाखा—हे कमलनयन ! इस ग्रज मण्डल में दूसरा और कौन
तुम्हारे गमान चलवाली खेप्ट पुरुष है, जो बल पूर्वक कुलवतीपों के चित्त
रूप गिरिराज को विचलित करने में समर्थ है । तुम ने जब अपने स्वाभाविक
यत्न से गोवर्धन को उठा लिया, सभी से सती नारियों ने तुम्हें ही (मुनत-
तियों के मन को चञ्चल करने का) मूल कारण निर्धारित किया है ॥११९॥३५

मधुमङ्गल—अरी बाबाय ! टहर जा, टहर जा, मैं ने अपनी आंखों
से देखा है, सब बापों ने नाटो लगाकर गोवर्धन को धारण किया था, मू

संभावेसि । [अयि वाचालिके, तिष्ठ तिष्ठ । दृष्टो मया उत्क्षिप्तदण्डमण्ड-
लैर्गोपैर्गोवर्धनो धृतः । त्वं कस्मादेकमेव प्रियवयस्यं संभावयसि ।] ॥१२०॥

श्रीकृष्णः—ललिते, अलमतिप्रसङ्गेन । तन्नवर्तस्व ॥१२१॥

ललिता—सुन्दर, सब्बगोउलसुहमारिणो वि तुअत्तो कथं सा एका
जेध्व दुष्थं भरिहदि वरिअसि ? [सुन्दर, सर्वगोकुलसुखकारिणोऽपि
त्वत्तः कथं सा एकैव दुःखमहंति वरीयसि ?] ॥१२२॥

श्रीकृष्णः—

सङ्गी मे मधुमङ्गलो न सहते धर्माध्वनो विच्युति
श्रीदामा परिमार्गपन्मम न हि छिद्राणि निद्रायते ।
कंसः शास्ति खल. क्षिति कयिमतो मुग्धे विधेधं मया
निःशङ्कं कुतसुन्दरीपरिभवज्जालामशसाहसम् ? ॥१२३॥३६॥

ललिता—(सामर्थ्यं संस्कृतेन)

अन्तः पलेशकलङ्कितः किल धव यामोऽद्य याम्यां पुरीं
नायं घञ्जनसंचयप्रणयिनं हासं तयाप्युज्जति ।

किसलिए अकेले कृष्ण की प्रशंसा कर रही है ? ॥१२०॥

श्रीकृष्ण—ललिते ! इस बात का कोई प्रयोजन नहीं, इसे बन्द
करो । ॥१२१॥

ललिता—हे सुन्दर ! आप समस्त गोकुल को सुख देने वाले हैं, तो
फिर अकेली वह श्रेष्ठ नारी श्रीराधा क्यों दुःख भोग करती है ? ॥१२२॥

श्रीकृष्ण—हे ललिते ! मेरा साथो मधुमङ्गल धर्म-पथ से मेरे विच्युत
होने को सहन नहीं कर सकता, श्रीदामा मेरे छिद्रों को ढूँढने में सदा
जागरूक रहता है, और दुष्ट कंस पृथ्वी मण्डल पर शासन करता है, हे
मुग्धे ! तुम कहो, फिर मैं कैसे निशङ्क होकर कुल सुन्दरियों की अनादर
रूप ज्वाला को प्रज्वलित करने का महा साहस कर सकता हूँ ? ॥१२३॥३६॥

ललिता—(क्रोध सहित राधे ! हम आन्तरिक क्लेश से कलङ्कित हैं,
इसलिए यदि हम आज यमपुरी को भी चली जाएँ, फिर भी वह कृष्ण
वञ्चना रूप परिहास का परित्याग नहीं करेगा । हाय ! बुद्धिमति राधे ! इस

अस्मिन्सपुटिते गभीरकपटैराभोरपल्लीविटे

हा मेघाविनि राधिके तव कथ प्रेमा गरीयानभूत् ? ॥१२४॥३७॥

(इति रोदिति)

मधुमङ्गल—अइ मुढे, सजलसत्यविसारओ जस्स अम्हारितो अमझो होइ सो वि कि एइ धम्म अविकम्भस्सिदि । ता अल वणरुदिदेण । [अयि मुग्घे, सकलशास्त्रविशारदो यस्यास्मादृशोऽमात्यो भवति, सोऽपि किमिद धर्मेनतिक्रमिष्यति ? तदल वनरुदितेन ।] ॥१२५॥

विशाखा—(स्वगतम्) रा राहीए गुञ्जाअलिअ कण्हस्स बेन्ती ह इत्तिद लखेमि । [एना राधाया गुञ्जावली कृष्णाय ददती अहमिद्धित लक्षयामि ।] (प्रकाशम् सस्कृतेन) ॥१२६॥

उदीर्णरागेण करम्बितान्तरा परिस्फुरत्कृष्णमुखी गुणाञ्चिता ।

गुञ्जावली मञ्जुतरावलम्बिता साराधिकेय तव कण्ठसगमम् ॥१२७॥३८॥

महान कपटी गोपिका वामुव कृष्ण मे तुम्हारा इतना अधिक प्रेम क्यों बढ गया है ? ॥१२४॥३७॥

(इतना कहकर ललिता रौने लगी)

मधुमङ्गल—अरी मुग्घे । हम जैसा समस्त शास्त्र विशारद जिसका मन्त्री है, वह (कृष्ण) कैसे धर्म का त्याग कर सकता है ? इस लिए इस अरण्य-रोदन को (जिसे सुनने वाला कोई नहीं है) बन्द कर ॥१२५॥

विशाखा—(मन मे) श्रीराधा की यह गुञ्जामाला श्रीकृष्ण को देकर इनका अभिप्राय देगती हूँ । (स्पष्ट श्रवण से)— ॥१२६॥

हे कृष्ण ! जिस का सब भीतरी अङ्ग सान्न वर्ण का है और मुखनाग पद्म-गुणों से भूषित है, और जिसका गुम्फित करने वाला मूस अधिप सार विविध और मनोहर है, ऐसी गुञ्जामाला को तुम कण्ठ में धारण करो ।

[पश्चात्तर मे—हे कृष्ण ! जिसका चित्त अनुराग से परिपूर्ण है और मुग मे सदा कृष्ण-कृष्ण पुकारती रहती है, जो अनेक गुणों से गुम्फित और मन को हरने वाली है, ऐसी श्रीराधिका को तुम मन लगाओ] ॥१२७॥३८॥

(इति कृष्ण कण्ठे स्वयमपंपयति)

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा सकपटेर्ष्यम्)

रागिणमपि सुकठोरं सुवृत्तमपि मुहुर्दोर्णमालिन्यम् ।

'युवतोमामिव भाव त हि गुञ्जाहारमिच्छामि ॥१२८॥ ३६॥

(इत्यजानन्निव कण्ठादवतार्य रङ्गणमालिकामपंपयति)

विशाखा—(स्वगतम्) इमस्स भमो वि अम्हाणं मङ्गलो संवृत्तो ।

[एतस्य भ्रमोऽप्यस्माकं मङ्गलः संवृत्तः ।] (इति यस्त्रेण संवृणोति) १२९

ललिता—हला, गोविआकोडिभुअङ्गस्स इमस्स अवल्ललिदं अस्सरिअं वम्हचरिअं विट्ठिआ पअडोन्नम् । ता अम्हे वि गदुअ सं अत्थाणाणुराइणी राहिअं णिवट्ठावेम्ह । [हला, गोपिका कोटिभुअङ्गस्स एतस्यास्वलित-माश्रयं ब्रह्मचर्यं दिष्टया प्रकटीभूतम् । तदवामपि गत्वा तामस्थाना-नुरागिणी राधिकां निवर्त्तयावः ।] ॥१३०॥

(यह कहकर उस माला को वह स्वयं श्रीकृष्ण के गले में डालती है)

श्रीकृष्ण—(मुसकराते हुए कपट-ईर्ष्या सहित) लाल वर्ण होते हुए भी यह गुजामाला अति कठोर है, सुन्दर मालाकार में होते हुए भी अति मालिन्ययुक्त है । इसलिए युवति-भावमयी माला को मैं नहीं चाहता हूं ।

(अभिप्राय यह है कि अनुरागवती होकर भी अपने अनुराग को भीतर छिपाय रहती है, बाहर केवल कठोरता का ही प्रदर्शन करती है । इसलिए मैं ऐसी श्रीराधा को नहीं चाहता हूँ) ॥१२८॥३६॥

(इतना कहकर अजान की भांति गले की उस माला को उतार कर विशाखा के हाथ में दे देते हैं)

विशाखा—(मन में) इनका भ्रम भी हमारे मङ्गल के निमित्त है । (यह कह कर माला को कपड़े से ढक लेती है ॥१२९॥)

ललिता—विशाखा ! कोटि गोपिका-कामुक का अस्वलित आश्रय-मय ब्रह्मचर्य अब आखिरी के सामने है, चलो हम भी इसके प्रति अनुराग करने वाली राधिका को रोक दें ॥१३०॥

विशाला—सहि, जुक्तं मन्तेसि । [सखि, युक्तं मन्त्रयसि ।] ॥१३१॥

(इत्युभे परिक्रामनः)

ललिता—विशाहे, तुमं गदुअ इमाए, रङ्गणमालिआए पिअसहोँ आसासेहि । अहं बखु एदं वुत्तन्तं भअवदोए निवेदिस्सम् । [विशाहे, त्वं गत्वानया रङ्गणमालिकया प्रियसखीमाश्वसिहि । अहं खल्विद वृत्तान्तं भगवत्यै निवेदिष्यामि ।] ॥१३२॥

(इति निष्क्रान्ते)

मधुमङ्गलः—भो, वअस्स आदरिज्जन्तं वि अप्पाणं कीस आवरावेसि । इदं बखु पच्चादावपध्वदाहिरोहणस्स अहिरोहिणीणिम्माणं दाव । [भोः, वयस्य ! आद्रियमाणमप्यात्मानं कस्मादादरयसि ? इदं खलु पञ्चात्तापपर्वता-धिरोहणस्याधिरोहिणीनिर्माणं तावत् ।] ॥१३३॥

श्रीकृष्णः—सखे, सत्यं प्रवीयि । साहसिष्यं हसितेनैयानुष्ठितम् ॥१३४॥

मधुमङ्गलः—पेपेअ गोईजुअत्तं एोत्तपहं अदिकमिदम् । [पश्य, गोपीपुगल नेत्रपयमतिक्रान्तम् ।] ॥१३५॥

विशाला—सखि ! तुमने ठीक सलाह दी है । (यह कहकर दोनों चले पड़ती हैं) ॥१३१॥

ललिता—विशाला ! तू तो जाकर इस कुसुममाला से प्रिय सखी श्रीराधा को आश्वसन दे और मैं जाकर इस वृत्तान्त को भगवती पौर्णमासी को निवेदन करूँगी ॥१३२॥

[दोनों चली जाती हैं]

मधुमङ्गल—हे सने ! आदर को प्राप्त हुए तुम फिर किस लिए अधिक आदर चाहते हो ? यह बात निश्चय ही बाद में तुम्हारे लिए पञ्चात्ताप के पर्वत पर चढ़ने की सीढ़ी के समान बनेगी, (बाद में तुम्हें पञ्चात्ताप करना होगा) ॥१३३॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! तू मच बहता है । मैंने हंसी हंसी में ऐसा माहम किया है ॥१३४॥

मधुमङ्गल—देगो, दोनों गोपिकाएँ हमारी दृष्टि में दूर निकल गई हैं ॥

श्रीकृष्णः—(सानुतापम्)

श्रुत्वा निष्ठुरतां ममेन्दुवदना प्रेमाङ्कुरं भिन्दती
स्वान्ते शान्तिधुरां विधाय विधुरे प्रायः पराश्रिष्यति ।
किं वा पापमरकामकामुक्कपरित्रस्ता विमोक्षपत्यसूनु
हा मौग्ध्यात्फलिनो मनोरथलता मृद्वी मयोन्मूलिता ॥१३६॥४०

मधुमङ्गलः—दाणि किं एतस्य शरणम् ? [इदानीं किमत्र
शरणम् ?] ॥१३७॥

श्रीकृष्णः—सखे, प्रत्यनङ्गलेखं विना नान्यत्पश्यामि शरणम् ॥१३८॥

मधुमङ्गलः—किं एतस्य सेहसाहणम् । [किमत्र लेखसाधनम् ।] ॥१३९॥

श्रीकृष्णः—वशीकारक्रियाप्रशस्तो रागवान् अवानिर्मासः ॥१४०॥

मधुमङ्गल—एहि उड्डमहाड्डमण्डितं नातिदूरे पवस्वन्दनतिथ्यं गच्छेन्हा
[एहि, उड्डमहाड्डमण्डितं नातिदूरे प्रस्कन्दनतीर्थं गच्छावः ।] ॥१४१॥

(इति निष्क्रान्तौ)

(ततः प्रविशति विद्यालया प्रबोध्यमाना राधा)

श्रीकृष्ण—(अनुताप पूर्वक) हाय ! वह चन्द्रमुखी राधा मेरी
निष्ठुरता को सुनकर प्रेमाङ्कुर को छेदन कर अपने हृदय में धीरज पूर्वक
विरह में निश्चय ही दुखी होगी, अथवा पापी कामदेव की धनुष टंकोर से
भयभीत होकर प्राणों को छोड़ देगी । हा ! हा ! मैंने मूर्खता से कोमल
फलवती मनोरथ-लता को जड़ से उखाड़ डाला है ॥१३६॥४०॥

मधुमङ्गल—अब उपाय ही क्या है ? ॥१३७॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! प्रेम-पक्ष के प्रत्युत्तर देने के सिवा और कोई
उपाय नहीं दीखता है ॥१३८॥

मधुमङ्गल—यहां लिखने का क्या साधन है ? ॥१३९॥

श्रीकृष्ण—वशीकरण कार्य में लोहित जवा पुष्प का रस प्रसिद्ध है ?

मधुमङ्गल—आओ ! जवा पुष्पों से मण्डित प्रस्कन्दन तीर्थ नजदीक
ही है, वहा चलते हैं ॥१४१॥

[दोनों चले जाते हैं]

राधिका—(सखेद सस्कृतेन)

यस्मोत्सङ्गसुखाशया शिथिलिता गुर्वी गुरुभ्यस्त्रया
प्राणोभ्योऽपि मुहुत्तया सखि तथा यूय परिवलेशिता ।
धर्मं सोऽपि महान्मया न गणितः साध्वीभिरध्यासितो
धिग्धैर्यं तदुपेक्षितापि यदहं जीवामि पापीयसी ॥१४२॥१४१

विशाखा—(ससभ्रमम्) सहि, समस्सस समस्सस । [सखि, समा-
श्वसिहि समाश्वसिहि ।] (इति रङ्गणमाला घ्राणोऽप्यति) ॥१४३॥

राधिका—(सज्ञा लब्ध्वा) हला, कि एदं अञ्जरिअं जं समोहणं
वि पवोदेहि । [हला, किमिदमाश्रयं यत्समोहनमपि प्रबोधयति ।] ॥१४४॥

विशाखा—(मात्य निवेद्य सस्कृतेन) :

अङ्गोत्तीर्णं विलेपनं सखि रुमाकृष्टिप्रियाया मणि-
मन्त्रो हन्त मुहुर्वशीकृतिविधौ नामास्य वशीपते ।

(इसके बाद विशाखा के द्वारा चेतना में लाई हुई श्रीराधा प्रवेश करती हैं)—

श्रीराधा—(खेद पूर्वक)—हे सखि ! जिन श्रीकृष्ण ने आलिङ्गन-
सुख की आशा में मैंने गुरुजनो की भारी लज्जा को भी त्याग कर दिया है,
प्राणों से भी अधिक प्रिय तुम सखियों को जिनके लिए अत्यन्त कष्ट दिया है
और साध्वी स्त्रियों से सेवित उस प्रसिद्ध पातिव्रत्य धर्म को भी जिनके लिए
मैंने कुछ भी नहीं गिना, उन्हीं श्रीकृष्ण ने मेरी उपेक्षा कर दी है, फिर
भी मैं पापिनी जीवित हूँ, मेरे ऐसे धर्म को धिक्कार है । (इतना कहकर
मूर्च्छित हो जाती हैं) ॥१४२॥१४१॥

विशाखा—(सम्भावते हुए) सखि ! धीरज धरो, स्थिर होओ ॥१४३॥
(इस प्रकार कहते हुए विशाखा उस पुष्प माला को श्रीराधा की
नासिका के आगे धरती है)

श्रीराधिका—(चेतना पाकर) हा सखि ! यह कैसी आश्चर्यमय
वस्तु ! जो मूर्च्छित को भी चेतन कर रही है ? ॥१४४॥

विशाखा—(माला बोधती हुई) राधे ! वशीधारी श्रीकृष्ण के
अङ्गों से उत्तर च दन-नेसर आकर्षण प्रिया में मणि के सदृश है, उनका

निर्मल्यस्त्रगियं महोपधिरिह स्वान्तस्य संमोहने

नासां कस्तिस्त्रां गृणाति परमाचिन्त्यां प्रभावावलीम् ॥१४५॥४२

राधिका — (स्वगतम्) एध्वंगुरेण इमिणा उवेक्खिदं वि णं हदसरीरं कधं अज्जवि णिल्लज्जाहं धारेमि । ता कालिमहदपवेशोवाअं अणुसरिस्सम् । (प्रकाशम्) विसाहे, विण्णवेहि गुत्तअणं जं चारहाइच्चतित्त्यं गदुअ सूरं अस्सिदुकामम्हि । [एव गुणेनानेनोपेक्षितमपि इदं हतशरीरं कथमद्यापि निर्लज्जाहं धारयामि ? तत्कालियहृदप्रवेशोपायमनुसरिष्यामि । विशाखे, विज्ञापय गुरुजनं यद्द्वादशादित्यतीर्थं गत्वा सूर्यमर्चयितुकामास्मि ।] ॥१४६॥

विशाखा—साहु सुमराइदं पिअसहीए जं अज्जाए जडिलाए वि इदं जेख्य दाणि आदिट्ठम्हि । ता एहि । [साधु स्मारितं प्रियसत्त्वा यदार्यया जटिलयापि इदमेवेदानीमादिष्टास्मि । तदेहि ।] ॥१४७॥

(इत्युभे परिक्रामत)

राधिका—(सव्यामोहम्)

म परिहरइ मुउन्दो तहवि दुरात्ता विरोहिणी इहई ।

मह सहि गहीरणीरा सगणं बहिणी किदन्तस्स ॥

नाम वशीभूत करने में मन्त्र के समान है, और यह उनके गले की माला मन के मोहित हो जाने में महा औषधि स्वरूप है, इसलिए हे सखि ! मणि मन्त्र एवं महापधि—इन तीनों के परम आश्रयमय प्रभाव का तू क्यों नहीं गान करती है ? ॥१४५॥४२॥

श्रीराधिका—(मन में) ऐसे गुणवान द्वारा उपेक्षित दुर्भागि शरीर को भी मैं आज तक कैंसी निर्लज्ज होकर धारण कर रही हूँ ? अब मैं कालिय-हृद में प्रवेश कर इस शरीर को त्यागने का उपाय करूंगी । (स्पष्ट कहती हैं) —विशाखा ! तुम गुरुजनो को जाकर जना दो कि मैं द्वादश-आदित्य तीर्थ पर जाकर सूर्य की आराधना करना चाहती हूँ ॥१४६॥

विशाखा—प्रिय सखि ! तुम ने अच्छा याद किया, क्योंकि आर्या जटिला ने भी आज मुझे यही आदेश दिया, तब आओ चले (इतना कह कर दोनों चल पड़ती हैं) ॥१४७॥

श्रीराधिका—(मोह सहित) विशाखा ! श्रीकृष्ण ने मुझे त्याग कर

[मा परिहरति मुकुन्दस्तथपि दुराशा विरोधिनी दहति ।

मम सखि गभीरनीरा शरणं भगिनी कृतान्तस्य] ॥१४८॥१४९॥

विशाखा—हला, पेख पत्थारो मङ्गलसूअणाईं सउणाईं । ता एवं मा भण । [हला, पथ्य प्रस्थाने, मङ्गलसूचनानि शकुनानि । तदेवं मा भण ॥१४९॥

राधिका—(पुरो दृष्ट्वा) हला, कथमेता पुखदिसामुहे आआलिआ ता दीसइ । [हला, कथमेता पूर्वदिशामुखे आकालिकी सध्या दृश्यते ।]

विशाखा—ण यखु संज्ञा । पेख पक्कन्दरो सूरस्स वल्लहा परिफुल्लिदा उडुराइ रेहइ । ता इमस्स अर्घं काडुं ए अवचिण्हइ । [न खलु सध्या पद्म प्रस्कन्दतीर्थं मूर्धस्य वल्लभा प्रफुल्लिता प्रफुल्लिता उडुराजी राजति । तदस्या अर्घ्यं कर्तुं मेतदवचिन्व ।] ॥१५१॥

(इत्युभे सया कुरुतः)

(ततः प्रविशति बटुना सह कृष्णः)

श्रीकृष्णः—सखे, सेयं राधाघरकान्तितत्स्करी जवाराजि । ॥१५२॥

दिया है, तो भी विरोधिनी दुराशा मुझे जला रही है । अब सखि ! गम्भीर जलशानिनी यम-भगिनी यमुना ही एक मास मेरा आश्रम है ॥१४८॥

विशाखा—हे राधे ! ऐसी बात मत कहो, देखो तुम्हारे चलते में मङ्गल सूचक दाखुन हो रहे हैं ॥१४९॥

श्रीराधिका—(सामने देखकर) सखि ! देखना, पूर्व दिशा में यह कैसे असमय में सध्या दीख रही है ? ॥१५०॥

विशाखा—राधे ! यह सध्या नहीं है । देखो, प्रस्कन्द तीर्थ पर मूर्ध-प्रिय जया पुंसुम ही प्रफुल्लित होकर शोभित हो रहे हैं । मूर्ध देव के अर्घ्य के निम्न इन्दी को चल कर चयन करें । (इतना कहकर दोनों पुंसुम चयन करने जाती हैं) ॥१५१॥

[तब मधुमङ्गल सहित श्रीकृष्ण वहा प्रवेश करते हैं]

श्रीकृष्ण—मित्र ! राधा की अघर कान्ति को हरण करने वाली यही जवा-पुमुमावनी है ॥१५२॥

मधुमङ्गलः—अबो एं निप्पोडिअ निम्माहि पच्चणङ्गनेहम् । [अत एतन्निप्पोड्य निर्माहि प्रत्यनङ्गलेखम् ।] ॥१५३॥

श्रीकृष्णः—(परिक्रम्य सविस्मयम्)

एया नान्तिकर्वातिनी सुरगिरेरंसावृती हन्त भू-
रग्रे किं कलयामि काञ्चनरुचामुद्गारगौरीदिशः ।
आं ज्ञातं मणिनूपुरध्वनिभरादालीजनालंकृता
कान्तीनां कुलदेवता विलसितुं वृन्दाटवीं विन्दति ॥१५४॥४४॥

मधुमङ्गलः—हन्त भो, मणिज्जन्तम्मि वाउरासाहरो कुरङ्गी सअं
हत्थं गदा । [हन्त भो., मृग्यमाणो वागुरासाघने कुरङ्गी स्वयं हस्तं गता] १५५

श्रीकृष्णः—(सानन्दम्) सखे, साधु विज्ञातम् । तदत्र वृक्षान्तरितौ
शृणुवः किमसौ प्रस्तौति ॥१५६॥

(इति तथा स्थितौ)

राधिका—(विशाखामालम्ब्य सखम्) हला, एसो जणो कधापसङ्गे

मधुमङ्गलः—अब इनको निबोड़ कर तुम प्रेम पत्र का प्रत्युत्तर
तैयार करो ॥१५३॥

श्रीकृष्ण—(धूमकर विस्मय पूर्वक) —सखे ! यह सुमेरु के निकटवर्ती
इलावर्त वर्ण की भूमि नहीं है, फिर, यह सामने की दिशा में स्वर्ण कान्ति
प्रकाशित करने वाला गौर वर्ण में कैसे देख रहा हूँ ? ओ मणिमय नूपुर
ध्वनि आ रही है ! मैं जान गया कि अलंकृत सखियों के साथ समस्त
कान्तियों के कुल देवता विलास करने के लिए यहा वृन्दावन में पर्यटन कर
रहे हैं ॥१५४॥४४॥

मधुमङ्गलः—आहा मित्र ! अन्वेपण पूर्वक जाल विछाकर जिस
कुरङ्गी को फंसाने की इच्छा कर रहे थे, वह अपने आप ही हाथों में पड़
गयी ॥१५५॥

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक) सखे ! ठीक कहा है । तब यहा वृक्ष की
ओट में हम दोनों चलकर सुनें, यह क्या कहती है । (यह कहकर दोनों
वहा ठहर जाते हैं) ॥१५६॥

श्रीराधिका—(विशाखा के कन्वे पर हाथ रखकर नेत्रों से अध्रु,

सज' सुमरिदब्धो । [हला, एष जनः कथाप्रसङ्गे स्वयं स्मारितव्यः ।] १५७

विशाखा—(सवाप्सम्) सहि, अच्छेणधीरत्तेणादिगुणा भणिज्जसि ।
ता किति एध्वं उध्वग्गासि । [सखि, अक्षीणधीरत्त्वादिगुणा भण्यसे ।
तत्किमित्येवमुद्विग्नासि ।] ॥१५८॥

राधिका—सहि, निग्गुणीकिदम्हि तेण धुत्तेण । [सखि, निर्गुणी-
कृतास्मि तेन धूर्तेन ।] (इति संस्कृतेन) ।

तस्योरस्तटमण्डलं धृतिनदीरोधक्रियापण्डितं
वक्रेन्दुः कुलधर्मपङ्कजवनीसंकोचदीक्षाव्रती ।
दोयू पो नितरामुवञ्चितचिरस्रीडाभिचाराध्वरो
हा कष्टं निखिलंगिला सखि दृशोर्मङ्गीभुजङ्गी तु सा ॥१५९॥१४५

श्रीकृष्णः—प्रिये, त्वन्माधुर्येण माधवश्च जडीकृत्य निर्गुणामवस्थां
नीतोऽयम् ॥१६०॥

प्रवाहित करती हुई) विशाखा ! कभी वातालोप में मुझे अभागिनी को भी
तुम याद कर लिया करना ॥१५७॥

विशाखा—(अध्रुवहाते हुए) सखि ! तुम्हें सब लोग अधुष्ण-धैर्य-
गुण धारण करने वाली कहते हैं, फिर तुम इस प्रकार क्यों परेशान हो
रही हो ? ॥१५८॥

श्रीराधिका—विशाखा ! उस धूर्त ने मुझे गुणहीन कर दिया है,

सखि ! जिसका विशाल वक्षस्थल कुलीन स्त्रियों की धैर्यरूपी नदी
को रोकने में चतुर है, जिस के मुख चन्द्र ने कुल धर्म रूप कमलों के वन
को मंगुचित करने के लिए दीक्षा पूर्वक व्रत ले रखा है, और जिसकी
भुजा अतिशय चिरलज्जा को विनष्ट करने के लिए अभिचार रूप यज्ञ के
रूप सदृश है (यज्ञ पशु को वाग्धने के सूँटा विनोप को यूप कहते हैं ।) हाय
अति कष्ट ! हे विशाखा ! उसकी सोचन भङ्गी रूप सर्प ने कुलीन स्त्रियों
के समस्त धर्मों को निगल लिया है ॥१५९॥१४५॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! तुम्हारे माधुर्य ने माधव को भी जड़ीभूत कर
निर्गुण अवस्था प्राप्त करा दी है ॥१६०॥

राधिका—(आकाशे अञ्जलि वदध्वा । सस्कृतेन) हन्त भो वकीहन्त ,
गृहान्त खेलन्त्यो निजसहजबाल्यस्य बलना-
दभद्रं भद्रं वा किमपि नहि जानीमहि मनाक् ।
वयं नेतुं युक्ता कथमशरणां कामपि वशां
कथं वा न्याय्या ते प्रथयितुमुदासीनपदवीम् ॥१६१॥४६॥

श्रीकृष्ण—प्रिये, क खलु जिजीविषुर्जीवातुघ्नताया सिद्धौषधि-
लतायामुदास्ते ॥१६२॥

राधिका—(निःश्वस्य) हला एसा पिआ मे एकावली तुए अप्पणो
कण्ठे धारणिज्जा । [सखि, एसा प्रिया मे एकावली त्वया आरमन कण्ठे
धारणीया ।] (इति कण्ठादेकावलीमुत्तारयति) ॥१६३॥

विशाखा—(हठान्निवार्यं) हला, एव्व अणुचिद्वन्ती किंति मड्हसि
ज सल्लिद पडिक्खिअ णिरुज्जमम्हि । [हला, एवमनुतिष्ठन्ती विमिति मा
वहसि यल्ललिता प्रतीक्ष्य निरुद्यमास्मि ।] (इति रोदिति) ॥१६४॥

श्रीराधिका—(आकाश की ओर हाथ जोड़कर) हाय रे पूतना
घाति ! (बालक पन से ही स्त्रियों का सहार करने वाले !) हम तो अपने
बाल्य स्वभाव से घरों में ही खेलती रहती हैं, भला बुरा कुछ नहीं जानती ।
हमें इस प्रकार की आश्रय शून्य अवस्था प्राप्त कराना—निराश्रय करना
क्या तुम्हें उचित है और तुम्हारा हमारे प्रति इस प्रकार उदासीन भाव—
उपेक्षा भाव दिखाना क्या न्याय सङ्गत है ? ॥१६१॥४६॥

श्रीकृष्ण—प्रिये ! जीने की इच्छा करने वाला कौन व्यक्ति है जो
सिद्ध जीवन-औषधि लता की उपेक्षा करेगा ? ॥१६२॥

श्रीराधिका—(लम्बी सास छोड़कर) हे सखि ! मेरे इस प्रियमत
मुक्ता हार को तुम अपने गले में पहन लो । (इतना कहकर गते से मुक्ता
हार को उतारती है) ॥१६३॥

विशाखा—(बल पूर्वक रोकते हुए) राधे ! तुम ऐसा काम कर मुझे
क्या जलाती हो, मैं तो ललिता की इन्तजार में ही निरखुम (प्रयत्न हीन)
हो रही हूँ । (इतना कहकर रोने लगती है) ॥१६४॥

राधिका—(सस्कृतेन)

अकारुण्यं कृष्णो यदि मयि तवाग. कथमिदं
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम् ।
तमालस्य स्कन्धे विनिहितभुजावल्लरिरिय
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनु ॥१६५॥४६॥

श्रीकृष्ण —(सास्त्रम्) सखे, दृष्टानुरागस्य साधिष्ठता ॥१६६॥

राधिका—(स्वगतम्) तुवराखेदि म काधि घणुवकण्ठा । (प्रकाशम्)
हला, सूरमस्मिन् किं पि अगमस्यिदुकामास्मि । ता जाव सिणाण कदुअ
णिघुत्ता भये ताव तुम एत्थ पुप्फ अवचिणेहि । (इति तीर्थाभिमुख द्वित्राणि
पदानि गत्वा पुनरात्मगतम्) हन्त, सो तिल्लोकमोहनो मुखचन्दो पुणो मए
ण विट्ठो । (इति सोत्कण्ठ निवृत्य प्रकाशम्) हला, पसीव पसीव, वसेहि त
पडिच्छन्दअम् । [त्वरयति मा कापि घनोत्कण्ठा । हला, सूर्यमर्चयित्वा
विमप्यम्यर्थयितुकामास्मि । तथावत्स्नानं कृत्वा निवृत्ता भवेय तावत्त्वमत्र
पुष्पमवचिनु । हन्त, स त्रैलोक्यमोहनो मुखचन्द्र पुनर्मया न दृष्ट । हला,
प्रसीद प्रसीद । दर्शय एन प्रतिच्छन्दम् ।] ॥१६७॥

श्रीराधिका—सखि ! श्रीकृष्ण यदि मेरे प्रति निष्ठुर हो रहे हैं तो
तुम्हारा क्या दोष है ? अब वृथा रोवो मत । वस, तुम मेरी अन्त्येष्टि क्रिया
इस प्रकार कर देना कि तमाल वृक्ष की शाखा से मेरी भुजाओं को बांध
कर मुझे लटका देना, जिससे वृन्दावन में ही अविचल भाव से मेरा यह
शरीर धीरे काल पर्यन्त रहा आवे ॥१६५॥

श्रीकृष्ण—(अश्रु बहाते हुए) मधुमङ्गल ! देखो तुमने अनुराग की
पराकाष्ठा ? ॥१६६॥

श्रीराधिका—(मन में) यमुना में प्रवेश करने की गाँठ उत्पन्ना
मुझे उतावली पर रही है । (स्पष्ट कहती है) सखि ! सूर्यदेव की पूजा करने
जिस मनोवाञ्छित की कामना करनी है, उसके लिए जब तर में
रना करने न आऊँ, तब तब तुम पून चुनो । (इतना कहकर यमुना
की ओर दो तीन कदम जाकर फिर मन में सोचती है) हाय ! हाय !
यह त्रिभुवन-मोहा मुग्ध-चन्द्र मैं एक बार भी फिर न देख सकी । (यह
सोचकर उत्पन्ना पूर्ववत् सौट कर कहती है)—सखि ! प्रसन्न होवो, आनन्दित
होवो, एक बार और मुझ तम चित्र-गट के दर्शन करा दो ॥१६७॥

विशाखा—सहि, णत्थि एत्थ चित्तफलमम् । [सखि, नास्त्यत्र चित्रफलकम् ।] ॥१६८॥

राधिका—(सव्ययम्) तदो पणिहाणेण णं पञ्चबलीकरिस्सम् । [तत् प्रणिधानेनैव प्रत्यक्षीकरिष्यामि ।] (इति ध्यान नाटयति ॥१६९॥

श्रीकृष्ण—सखे, पीतमपीतपूर्वमुन्मादक श्रोत्रमाध्वीकम् । तव प्रतो गच्छाम ॥१७०॥

(इत्युभौ तथा कुरुत)

विशाखा—(विलोक्य सानन्द ससभ्रमम्) सहि, दिट्ठिमा तुज्झ सुहज्झाणेण फलिदम् । ता झत्ति उग्धाडेहि लोअणम् । [सखि, विष्टया तव सुखध्यानेन फलिनम् । तज्झटिति उद्धाटय लोचनम् ।] ॥१७१॥

(राधिका दृश दरोन्मील्य चमत्कार नाटयति)

विशाखा—(सस्कृतेन)

यदयं सकीर्णं पतसि हतकन्दर्पकवने

मृदु वा दुर्वारे ज्वलयसि तनु प्रेमदहने ।

अखण्डेनापीड सखि नवशिखण्डेन कलय-

न्विलासी सोऽय ते स्फुरति पुरतो जीवितपति ॥१७२॥४८

विशाखा—राधे ! वह चित्र यहा तो नही है ॥१६८॥

श्रीराधिका—(दुख पूर्वक) तब तो उसका ध्यान कर उसे प्रत्यक्ष करूंगी । (इतना कहकर ध्यान मुद्रा में जुड जाती हैं) ॥१६९॥

श्रीकृष्ण—सखे ! अभूतपूर्व कर्ण रसायन सुधा का पान कर लिया है तो, आओ आगे चले ॥१७०॥

(इतना कहकर दोनों आगे चलते हैं) ।

विशाखा—(दोनों को देखकर आनन्द उद्रेक के साथ) राधे ! कैसा सौभाग्य ! तुम्हारा शुभ ध्यान सफल हुआ है, झट नेत्रों को खोलो ॥१७१॥

(श्रीराधिका नेत्रों को थोड़ा सा खोलकर चमत्कृत हो उठती है)

विशाखा—राधे ! हाय ! जिसके लिए तू अतिशय कन्दर्प पीडा भोग रही थी, अब दुर्नवार प्रेमान्नि में जिसके लिए तुम्हारा कोमल शरीर जला जा रहा था, वह अखण्ड नव मोर मुकुटधारी, वृन्दावन विहारी तुम्हारा प्राणनाथ तुम्हारे आगे खड़ा है ॥१७२॥ ४८॥

राधिका—अम्महे सिविणस्स माहुरी । [अहो स्वप्नस्य माधुरी ।] १७३

विशाखा—अविसद्वे, एसो दे अपुव्वो सिविणो जो णिदाए विणा वि णिप्पणो । [अविश्रब्धे एष तेऽपूर्वं स्वप्नो यो निद्रया विनापि निष्यन्न ।]

श्रीकृष्ण —

असौ दृग्भङ्गीभिः कुसुमशरमङ्गीकृतशर
सृजन्ती वन्तीन्द्रक्रमणकमनीयालसगति ।
अदूरे रम्भोरुरिह वदनबिम्बस्य सुपमा
समास्मावम्भोरुहमधुरिमाणं वमयति ॥१७५॥ ४६॥

राधिका—(कृष्ण दृगन्तं नर्तयन्ती स्वगतम् साधु रे हिअअ, साधु विट्ठिआ महुहा विलम्बिदम् । [साधु रे हृदय, साधु । विट्ठया मुहूर्तं विलम्बितम् ।] ॥१७६॥

श्रीकृष्ण —(स्मिरत्वा) धूर्ते विशाखिके, समन्तान्मृग्यमाणा विट्ठया त्वमत्र दृष्टासि । यदद्य भवत्या कपसादृश्यादपाकिमगुञ्जाहारेण मा प्रतापं दुर्लभा मे रङ्गणमालिकापनीता ॥१७७॥

मधुमङ्गल —भो, ज राहीए कण्ठादो बीसन्तीं अप्पणो रङ्गणमालिअ

श्रीराधिका—आहा ! स्वप्न की क्या आश्चर्यमय माधुरी है ? ॥१७३॥

विशाखा—अविश्वासिनि ! यह तेरा कैसा अपूर्व स्वप्न है जो बिना नींद के देख रहा है ? ॥१७४॥

श्रीकृष्ण—अहो ! दूर से ही यह विशाल नितम्बिनी अपनी सुन्दर गति से मतवाले हाथी की गति को लज्जित करती हुई अपनी नयन मङ्गी से कामदेव के बाणों को छोड़ रही है और अपने मुख की छटा शोभा द्वारा प्रफुल्लित कमल की मधुरिमा को निन्दित कर रही है ॥१७५॥ ४६॥

श्रीराधिका—(श्रीकृष्ण पर दृगकटाक्ष करती हुई अपने मन ही मन में)—ठीक है रे हृदय ! ठीक है, तू ने सौभाग्य वश क्षण भर की देर कर दी है ॥१७६॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) अरी धूर्त विशाखा ! चारों तरफ दूढ़ते हुए सौभाग्य वश तू यहाँ देखी है । तू आज अपने रस के सदृश अपवध गुञ्जाहार से मुझे ढगकर मेरी दुर्लभ रङ्गण-माला को उठा लाई है ? ॥१७७॥

मधुमङ्गल—सखे ! तुम्हारी वह रङ्गण माला तो राधा के गले में

सअं जेद्व आअडिअ गेण्ह । [भो, एना राधायाः कण्ठतो दृश्यमानामात्मनो रङ्गणमालिका स्वयमेवाकृष्य गृहाण ।] ॥१७८॥

श्रीकृष्ण—सखे, जानतापि भवता किमिदमन्याय्यमुपन्यस्तम् । न खलु स्वप्नेऽपि मया कामिनीस्पर्शः स्मर्यते ॥१७९॥

राधिका—(स्वगतम्) इमस्स परिहासो वि एसो संकिदाए मम सञ्चो पडिभादि । [एतस्य परिहासोऽप्येव शङ्किताया मम सत्यः प्रतिभाति ।]

विशाखा—(विहस्य) अयि वराङ्गनातरङ्गिणीणं महासागर, चिट्ठ चिट्ठ । दाणिं वि इमाइं दीसन्ति सुज्ज अङ्गेसु ताणं चिण्हाइं । [अयि वराङ्गनातरङ्गिणीना महासागर, तिष्ठ तिष्ठ । इदानीमपीमानि दृश्यन्ते तव अङ्गेषु तासां चिह्नानि ।] (इति सस्कृतेन) ॥१८१॥

आकृष्टानि कटाक्षभङ्गिभिरनं गोपाङ्गनानां त्वया रक्तान्यत्र मनांसि यानि निमियो-मुक्तानि तेषां यपि ।
तान्येसानि भवान्नवाङ्गनतनो गुञ्जावलीनां छला-
त्पिच्छानां च सदा प्रसाधनधिया सधारयन्नन्वसि ॥१८२॥१८०

दीख रही है, तू स्वयं खींचकर ले ले न ॥१७८॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! तू जान-भूझ कर भी क्यों ऐसा अन्याय करने की बात कहता है ? मैं तो स्वप्न में भी कभी कामिन के स्पर्श का स्मरण नहीं करता हूँ ॥१७९॥

श्रीराधिका—(मन में) इसका परिहास भी शङ्का के मारे मुझे तो सच्चा लगता है ॥१८०॥

विशाखा—(हस कर) अरी वराङ्गना-तरङ्गिणियों की महा सागर ! जरा ठहर, अभी तुम्हारे अङ्गों में उन कामिनियों के सब चिह्न दीखने लगेंगे ॥१८१॥

—हे नवाङ्गनगात ! (नवीन कञ्जल की भाँति श्यामवर्ण कृष्ण !)
तुमने नेत्र कटाक्ष अङ्गी से गोपाङ्गनाओं के अनुरक्त मन और पलकरहित नेत्रों को आकर्षण कर लिया है और गुञ्जावली एवं मोर पुच्छ को मन एवं नेत्रों के आकर्षण करने का साधन समझ कर तुम इन दोनों को धारण करते हुए सुख पूर्वक विचरते हो ॥१८२॥१८०॥

श्रीकृष्णः—(सहर्षमात्मगतम्)

प्रमदरसतरङ्गस्मेरगण्डस्थलायाः

स्मरधनुरनुबन्धिभ्रू लतालास्यभाजः ।

मदकलचलभृङ्गीभ्रान्तिभङ्गी दधानो

हृदयमिदमदाडक्षोत्पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षः ॥१८३॥५१॥

(नेपथ्ये)

जतिणि विसाहे । [नप्ति विशाखे ।]

श्रीकृष्णः—कथमकाण्डे जरापाण्डुरेयं जटिला ॥१८४॥

(प्रविश्य)

जटिला—(पुरो दृष्ट्वा स्वगतम्) कहं एतय कण्हो । (प्रकाशम्) विसाहे,
किति इमाहं धूअगन्धरत्तचन्दनाहं सुए विमुमरिवाहं । [कथमस्य कृष्णः ।
विशाखे, किमिरयेतानि धूपगन्धरत्तचन्दनानि त्वया यि स्मृतानि ।] ॥१८५॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्)

चन्द्रिकां चन्द्रलेखायाश्चकोरे पातुमुद्यते ।

पिधानं विदधे हन्त शरदम्भोघरावली ॥१८६॥५२॥

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक मन मे) आनन्द रस के कारण मुसकान से जिसके गण्डस्थल प्रफुलित हो रहे हैं, जिसकी भृकुटि कन्दर्प धनुष के समान नाच रही है, उन्मत्तावश भंवरे की भ्रान्ति पैदा करने वाले श्रीराधा के कटाक्षों ने मेरे हृदय को घायल कर दिया है ॥१८३॥५१॥

[पर्दे के पीछे से आवाज आती है—हे नातिनी विशाखे !]

श्रीकृष्ण—यह जरापाण्डु वर्णा (वृद्धावस्था के कारण पीले रंग वाली) जटिला असमय मे यहा कैसे ? ॥१८४॥

(जटिला प्रवेश करती है)

जटिला—(सामने देखकर मन ही मन मे) यहां कृष्ण कैसे ? (स्पष्ट कहती है) विशाखा ! यह धूप अग्रवत्ती और लाल चन्दन तुम कैसे भूल आई ? ॥१८५॥

श्रीकृष्ण—(मन मन में) हाये चकोर के चन्द्र कला की चन्द्रका पान करने लगते ही शरद ऋतु की सफेद मेघ माला ने आकर चन्द्र को ढक दिया । (स्पष्ट कहते हैं)—मामी मां ! प्रणाम है ॥१८६॥५२॥

(प्रकाशम्) मातुर्मातुलानि, प्रणमामि ।

जटिला—मोहन, घत्सर्गकिशोरीकुले अवद्धविट्ठी होहि । [मोहन बहवकिशोरीकुले अवक्रट्टिर्भव ।] ॥१८७॥

मधुमङ्गल.—(विहस्य) भो दधीचिहृदककंशे, एसो सध्वदो उदारविट्ठी च्चेअ मज्झ पिअवअस्सो । तुमं बधु केअरच्छी । ता अप्पणं आससेहि । [भो दधीच्यस्थिककंशे, एए सर्वदोदारदृष्टिरेव मम प्रियवयस्य । त्व खलु केकरासी । तदा आत्मानमाशिषय ।] ॥१८८॥

जटिला—भो किशोरी भुजङ्ग, कोस तुम आअदोसि । [भो किशोरी भुजङ्ग, कस्मात्त्वमागतोऽसि ।] ॥१८९॥

श्रीकृष्ण—आर्ये, लोकोत्तरानुरागचमत्कारिणीयं मुजवालक्ष्मी कं वा नाकर्पति ॥१९०॥

जटिला—(स्वगतम्) जूणं भअवदीए विज्जापहावसंभाविवा इमस्स एत्थ उवसत्ती । (प्रकाशम्) मोहन, ज्ञात्ति इदो गच्छेहि । [नून भगवत्या विद्याप्रभावसमाविता अरयात्रोपसति । मोहन, ज्ञात्ति इतो गच्छ ।] १९१

जटिला—मोहन ! गोपकिशोरियो की तरफ तुम्हारी सीधी निगाह हो

मधुमङ्गल—(हसकर) हे दधीची-अस्थी कंकशे ! (दधीची ऋपि की अस्थियो से भी अधिक कठोर !) यह मेरा प्रिय सला तो सदा उदार दृष्टि है । तुम निश्चय ही वक्रदृष्टि हो, इसलिए अपने को ही ऐसा आशीर्वाद करो ॥१९८॥

जटिला—हे किशोरी-कामुक ! तुम यहाँ किस लिए आए हो ? ॥१९९॥

श्रीकृष्ण—हे आर्ये ! लोकातीत रक्त वर्णशाली जवा कुसुमो की मनोहर शोभा किस व्यक्ति को नहीं आकर्षण करती है ?

(पक्षान्तर मे—लोकातीत अनुरागवती यश-प्रकाशक जव-चिह्न धारण करने वाली लक्ष्मी स्वरूपा यह राधा किस को नहीं आकर्षण करती है ?) ॥२००॥

जटिला—(मन मे) निश्चय ही ऐसा ज्ञात होता है, कि भगवती पौर्ण-मासी के विद्याप्रभाव से इसका यहा आना हुआ है । (स्पष्ट रूप मे) मोहन ! शीघ्र यहा से तुम चले जाओ ॥२०१॥

श्रीकृष्णः—अयि जल्पाकि वृद्धे किमित्याकुलासि । स्वच्छन्दतो गच्छेयम् ॥१६२॥

जटिला—(कुटिलं विलोक्य संस्कृतेन)

निधोतानां निखिलधरणीमाधुरीणां धुरीणा

कल्याणी मे निवसति वधूः पश्य पश्य नवोढा ।

अन्तर्गोष्ठे चटुल नटयस्त्र नेत्रत्रिभागं

निःशङ्कस्त्वं भ्रमसि भविता नाकुलत्वं कुतो मे ॥१६३॥१६३॥

श्रीकृष्णः—मृपाशङ्किनि वृद्धे मा प्रलापं कृयाः । यावदेतां ते वधू-
माकर्णयं तावन्मान्सां भावयामि ॥१६४॥

जटिला—विसाहे किं ति एसिअ धिलम्बितासि । [विशाखे,
किमित्येतावद्विलम्बितासि ।] ॥१६५॥

विशाखा—(स्मित्वा) अज्जे, एणं दुल्ललितं कुरङ्गं पवयन्ती विस्मि-
यन्हि । [आयं, एतं दुल्ललितं कुरङ्गं पवयन्ती विस्मितास्मि ।] (इति
सहस्रिषेपम्-॥१६६॥)

श्रीकृष्ण—अरी वाचाल वृद्धी ! तू क्यों व्याकुल है रहो हो, मैं अपनी
इच्छा से जाऊंगा ॥१६७॥

जटिला—(टेढ़ी निगाह से देखती हुई) अरे कृष्ण ! देख, जिसके
रूप माधुर्य ने त्रिभुवन की मधुग्ता को तिरस्कृत कर रखा है, वह नवविवा-
हिता वधू मेरे पास खड़ी है और तुम भी इस गोकुल में मनोहर नैस
प्रान्तों को नचाते हुए यहां निर्भय होकर घूम रहे हो, तो क्या मैं व्याकुल न
होऊं ? ॥१६८॥१६८॥

श्रीकृष्ण—भूँठी शब्दां करने वाली वृद्धी ! वृथा प्रलाप मत कर ।
जब से मैं ने सुना है कि यह तुम्हारी वधू है, तब से मैं इस का आदर
करता हूँ ॥१६९॥

जटिला—विशाखा ! तू ने इतनी देर क्यों कर रखी है ? ॥१७०॥

विशाखा—(मुसकराते हुए) आर्ये ! मैं दुर्दान्त कुरङ्ग को सामने
देख कर विस्मित हो रही हूँ ।

(पश्चान्तर में—कुत्सित रङ्गशील कृष्ण को देखकर विस्मित हो
रही हूँ) ॥१७१॥

शकरुण मुषिकम चङ्ग कुरङ्ग पेम्मेण सगद हरिणीम् ।

विहल कूटणचटुलो तुम वणादो वण भमसि ॥

[अकरुण त्यक्त्वा चङ्ग कुरङ्ग प्रेम्णा सगता हरिणीम् ।

विफल वृन्दनचटुलस्त्वे वनाद्वन भ्रमसि ॥] ॥१६७॥१४॥

जटिला—अह अत्याणदुग्गहे, मुञ्च कुरङ्गकोदूहलम् । [अयि अस्थान दुर्गहे, मुञ्च कुरङ्गकोतुक्म् ।] ॥१६८॥

मधुमङ्गल—पिअवअस्स, येक्ख । एसो सत्तिण्णो वि कोरजुआणो ण महुर दाडिमी ण प्रडिज्जइ । [प्रियवयस्य, पश्य । एष सतृष्णोऽपि कोरयुवा इमा मधुरा दाडिमी न प्रतिपद्यते ।] ॥१६९॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा)

हुदि तारितोऽपि दाडिमि सुमनोरोगेण ते रुचि बहता ।

पदिमरसासि कि वा नेति शुक् शेङ्गयोवास्ते ॥२००॥ ५५॥

(विशाखा सहस्रभङ्ग राधिकामवलोकते)

। (इतना कहकर दृष्टि निक्षेप करते हुए। अरे अकरुण कुरङ्ग ! प्रेम पूर्वक निकट आई हुई मनोहरा कुरङ्गी को त्याग कर तू वृथा ही मनोहर छलांग मारता हुआ वन वन में भटक रहा है ।

(पक्षान्तर में— अरे करुणा—रहित, कृष्ण ! अनुराग पूर्वक निकट आई हुई सुन्दरी श्रीराधा की उपेक्षा कर गमन भङ्गी दिखाते हुए तुम वृथा ही वन वन में भ्रमण कर रहे हो । इसे अङ्गीकार करो ।) ॥१६७॥

जटिला—अरी अनुचित बात में आग्रहशीला विशाखे ! कुरङ्ग के कोतूहल को तू अब छोड़ ॥१६८॥

मधुमङ्गल—प्रिय मित्र ! देख तो, युवक शुक पक्षी तृष्णावन्त होकर भी इस मधुरा दाडिमी को ग्रहण नहीं कर रहा है ॥१६९॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर)—हे दाडिमी ! तुम्हारे मनोहर वांछित युक्त वसुधो के देखकर ही शुक का चित्त बशीभूत हो रहा है, किन्तु तुम्हारी रस परिपाक दशा प्राप्त हुई है कि नहीं, शुक इस की विवेचना में उदासीन हो रहा है ॥२००॥

(विशाखा नेत्र भङ्गि सहित श्रीराधा को देखती है)

राधिका—(स्वगतम्) हिअब, सगत्सस समत्सस । [हृदय, समा-
श्वसिहि समाश्वसिहि ।] (इति सखेदमपवायं । सस्कृतेन) ॥२०१॥

पोते न चागमृतमत्र हरेरशङ्कं न्यस्तं मयास्य वदने न दृगञ्जलं च ।
रम्पे चिरादवसरे सखि लग्नमात्रे हा दुर्विधिरुद्धे जरतीच्छले न ॥२०२॥१५६

जटिला—(स्वगतम्) अम्हहे कण्हदिट्टणो माहम्भं, जं बहुए सो उव-
सगो तह णत्थि (प्रकाशम्) विसाहे, पेक्ख । अदिक्कमदि मज्झण्हो । ता तुरिर्व
सूरमण्डपं पविसम्ह । [अहो कृष्णदृष्टेर्माहात्म्यम्, यद्वधाः स उपसर्गस्तथा
नास्ति । विसाखे, पश्य । अतिक्रमते मध्याह्नः । तत्स्वरित सूर्यमण्डप
प्रविशाम ।] ॥२०३॥

(इति तिस्रो निष्क्रान्ताः)

श्रीकृष्णः—सखे, कौमुदीयं पौर्णमासीमनुवर्तते । तदेहि । तामेव
प्रतिपद्येवहि ॥२०४॥

(इति निष्क्रान्ती)

इति मन्मथलेखो नाम द्वितीयोऽङ्कः ।

श्रीराधिका—(मन मे) अरे मन ! आश्वस्त हो, आश्वस्त हो । (इतना
कहकर खेद पूर्वक हाथ फा आबरण करके)—मैं ने कभी भी श्रीकृष्ण के
वाम्य अमृत का कानभर कर पान नहीं किया है और न ही निस्तब्धोच
मन से उनके मुख कमल को नेत्र भर कर देख पाई हूँ । हे सखि ! बहुत
काल पीछे आज सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ था । किन्तु हाय ! अभागो
विधाता ने वृद्धा के बहाने आकर रोड़ा अटका दिया ॥२०१॥

जटिला—(मन मे) अहो ! श्रीकृष्ण दर्शन की कैसी आश्चर्यमय महिमा
है ? कि मेरी वधू उपस्थित विपत्ति को नहीं देख रही है । (स्पष्ट रूप से
विशाखा ! देख, दोपहर का समय निकल गया है इसलिए हम शीघ्र ही
सूर्य मण्डप में चलें । (इतना कहकर तीनों चली जाती है) ॥२०२॥१५६॥

श्रीकृष्ण—यह कौमुदी (चान्दनी) पौर्णमासी का अनुगमन कर रही
है, अतएव आओ हम उसके पीछे चलते हैं । (इतना कहकर वे भी चले
जाते हैं) ॥२०३॥

[इस प्रकार सब चले जाते हैं]

इस प्रकार श्रीश्यामदासानुवादित श्रीविदग्धमाधव नाटक का

मन्मथ लेख नामक द्वितीय अंक समाप्त हुआ ॥२॥



तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति ललितयानुगम्यमाना पौर्णमासी)

पौर्णमासी—वत्से, नूनं मत्तस्त्रपमाणो नाभिनन्दति नन्दकुमारस्ते
खीसंगमम् ॥१॥)

ललिता—भगवति, दुर्वोधः खलु लोकोत्तराणां चित्तं न भवति विभ-
सति । [भगवति, दुर्वोधः खलु लोकोत्तराणां चित्तं न भवति विकसति ।] ॥२॥

पौर्णमासी—(पुरोऽवलोक्य) वत्से, पश्य कदम्बवाटिकायां मधुमङ्गलेन
सार्धं समङ्गलं वर्धते मधुमर्चन । (पुननिरूप्य) ॥३॥

परामृष्टाङ्गुष्ठप्रयमसितरत्नैरभयतो

बहन्ती सक्तीणी मणिभिररुणैस्तत्परिसरी ।

तृतीय अंक

[ततः ललिता के बाद पौर्णमासी प्रवेश करती है]

पौर्णमासी—ललिता । मैं कहते हुए लज्जा महमूस करती हूँ कि
श्रीनन्दकुमार तुम्हारी सखी श्रीराधा के सङ्ग का अभिनन्दन नहीं
करता है ॥१॥

ललिता—भगवति । सोकातीत व्यक्तियों के दिल की बात दुर्वोध
होती है, सहज में प्रकाशित नहीं होती ॥२॥

पौर्णमासी—(सामने देखकर) बेटी । देख, देख कदम्ब वाटिका में
मधुमङ्गल के साथ मधुसूदन आनन्द पूर्वक विचर रहे हैं ॥३॥

(फिर निरूपण करके कहती है)—

कल्याणमय केलि मुखी श्रीकृष्ण के हाथों में क्षोभित हो रही है,

तयोर्मध्ये हीरोज्ज्वलविमलजाम्बूनदमयी
करे कल्याणीयं विहरति हरेः केलिमुखी ॥४॥१
(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्ट कृष्णः)

कृष्णः—(सानुतापम्)

अपया नितरां पराङ्मुखी संहसा स्मेरसखीधृताञ्चला ।
गमिताद्य हठेन राधिका न कथं हन्त मया भुजान्तरम् ॥५॥२

(निःश्वस्य) सखे मधुमङ्गल, खञ्जरीटदृशः सा वित्तासमञ्जरी घोरपति
मे चित्तचञ्चरीकम् ॥६॥ (इत्यौत्सुक्यं नाटयन् ।)

छिन्नः प्रियो मणिसरः सखि मौक्तिकानि
वृत्तान्यहं विचिन्तयामिति कंठवेन ।
मुग्धं विवृत्य मयि हन्त दृगन्तभङ्गी
राधा गुरोरपि पुरः-प्रणयाद्यतानीत ॥७॥३

पौर्णमासी—(दूरत एव कृष्णं निर्वर्ण्य साशङ्कम्)

उस मुरली के मुख की ओर का और पिछले सिरे का तीन तीन अगुल भाग
इन्द्रनीलमणि से खचित और लाल वर्ण की मणियों द्वारा चारों ओर से घिरा
हुआ है तथा दोनों भागों के बीच का भाग उज्ज्वल हीरे और निर्मल स्वर्ण
से सुशोभित हो रहा है ॥४॥१॥

(उस के बाद यथा निरूपित स्वरूप से श्रीकृष्ण वहाँ प्रवेश करते हैं)

श्रीकृष्ण—(अनुताप पूर्वक) श्रीराधा अत्यन्त क्षमति एवं मुसकराते
हुए हंसती हुई विशाखा का अञ्चल जब पकड़ रही थी, हाय ! आज मैं ने
उसे जवरदस्ती अपनी भुजाओं में क्यों न भर लिया ? ॥५॥२॥

(लम्बी सांस छोड़कर) मित्र मधुमङ्गल ! खञ्जनाक्षी वह विलास-
मञ्जरी श्रीराधा मेरे चित्त भ्रमर को चुरा रही है ॥६॥

(इतना कहकर उत्सुकता दिखाते हुए)—“सखि ! मेरा प्रिय मणिहाय
टूट गया है, इसलिए पृथ्वी पर पड़े हुए मोतियों को चुने लेती हूँ”—ऐसा
कहकर छल पूर्वक श्रीराधा ने अपने गुरुजनों के सामने भी अनुराग वश
मेरे प्रति मनोहर बटास भङ्गि निक्षेप की थी ॥७॥३॥

अक्ष्णोर्द्वन्द्वं प्रसरति दरोद्धृण्तरं मुरारे
 श्वासाः बलूतां किल विचकिलैर्मलिकां स्तापयन्ति।
 केयं धन्या यसति रमणी गोकुले क्षिप्रमेतां
 नीतस्तोत्रामयमपि यया कामपि ध्याननिष्ठाम् ॥

अथवा कृतं संदेहेन । वत्साः, राधिकं च सत्त्वत्र कारणम् ॥८॥४

श्रीकृष्णः—(पीणमासी पश्यन् पसृत्य) भगवति, प्रणमामि ॥६॥

पीणमासी—नागर, गोपीस्तनतटीष्वलंपटीभव ॥१०॥

श्रीकृष्णः—(किञ्चिद्विहस्य) कृतं पिष्टपेषिणीभिरासीर्मियं दहमेव
 गोपीति प्रसिद्धां श्यामां दत्तोमपि न पाणिपल्लवेन स्पृशामि ॥११॥

मधुमङ्गलः—(विहस्य) भोः, किं अम्हाणं सामए, गौरी ज्जेव्व
 मग्गिज्जइ । भोः, किमस्माकं श्यामया, गोरीव मृग्यते ।] ॥१२॥

पीणमासा—(सनमंस्मितम्)

६०

पीणमासी—(दूर से ही श्रीकृष्ण को देख शङ्का करते हुए) श्रीकृष्ण
 के दोनों नेत्र घूर्णति से दीख रहे हैं और इसके लम्बे लम्बे साँस मल्लिका
 माला को मुरझाए दे रहे हैं । इस गोकुल में ऐसी महाभागा कौन सी
 रमणी रहती है, जिसके गहरे ध्यान में यह कृष्ण भी अतिशय मग्न हो
 रहे हैं ?—परन्तु इस में कुछ सन्देह की बात नहीं है, ! निश्चय ही बेटी
 राधा इसका कारण है ॥८॥४॥

श्रीकृष्ण—(पीणमासी को देखकर उसके निकट जाकर) भगवति !
 प्रणाम करता हूँ ॥६॥

पीणमासी—नागर ! गोपी-वसोंजो के लम्पट मत बनो ॥१०॥

श्रीकृष्ण—(कुछ हँसते हुए) यह पिष्टपेष आसीर्बाद निरर्थक है
 (अर्थात् एक ही अक्ष को बार बार कहना व्यर्थ है) क्योंकि मैं तो गोपी
 नाम से प्रसिद्ध श्याम वर्ण की लता को भी हाथ से नहीं छूता हूँ ॥११॥

मधुमङ्गल—(हँस कर) हमें श्यामा (श्याम वर्ण वाली) से क्या
 प्रयोजन है, हम तो गोरी (गौर वर्ण वाली) को ढूँढ़ रहे हैं ॥१२॥

गोपेश्वरस्य , तनयोऽसि - नयोपपन्नः
 . स्थातस्तथा व्रजकुले भुजपोर्बलेन ।
 लोलाशतेस्तदपि किं कुलपोषितस्त्व-
 मुन्मादमुद्रहसि माधव राधिकायाः ॥१३॥५

मधुमङ्गलः—अह विचरोदवादिणि बुद्धि ए चिद् चिद् । [अयि
 विपरोतवादिनि वृद्धे तिष्ठ तिष्ठ ।] ।

तुज्झ राहिआए ज्जेन्न एसो अम्ह पिअवअस्सो उम्मादिओ ।
 जं सेहरसिङ्गवेत्ताइ दाणि कहि विभट्टाइ ति ण जानादि ॥

[तव राधिकयैव एपोऽस्मत्प्रियवयस्य उन्मादितः ।

यस्माच्छेखरशृङ्गवेष्मणीदानी कस्मिन्विभ्रष्टानीति नं जानाति] ॥१४॥६

श्रीकृष्णः—(सलजम्) आर्ये, वाचाटोऽयं वटुर्मुंघा जल्पति । किं तु
 निश्चितं ते व्याहरामि । न तामु मच्चित्तरागस्यदगोपीषु । तदत्र तत्त्वतः
 पृच्छयतामयम् ॥१५

।

मधुमङ्गलः—अज्जे, सच्चं सच्चम् । अम्हपिअवअस्सहिअअस्स अज्जवि
 राओ तुम्हगोइआणं अज्जेसु ण मए दिट्ठोत्थि । पत्थुद तांसां अज्जराओ

पौर्णमासी—(परिहास युक्त हसते हुए)—हे माधव ! तुम गोपराज
 के पुत्र हो एवं न्याय परायण हो और शत शत लीलाओं का विस्तार कर
 अपनी भुजाओं के बल में इस गोकुल में मगहूर हो, फिर तुम कुल-
 रमणी श्रीराधा को क्यों उन्मादित कर रहे हो ? ॥१३॥५

मधुमङ्गल—अरी विपरीतवादिनी वृद्धे ! ठहर जा, ठहर जा, तेरी
 श्रीराधिका ने ही मेरे प्रिय मित्र को उन्मात्ता कर रखा है, इसके मुकुट,
 शृंग, वेत कहा गिर पड़े है, यह कुछ नहीं जानता ॥१४॥६॥

श्रीकृष्ण—(लज्जा के साथ) आर्ये ! यह वाचात ब्राह्मण पुत्र मिथ्या
 कहना है, किन्तु मैं तुम से सब कहता हूँ कि तुम्हारी गोपियों के प्रति मेरे
 चित्त का अनुराग नहीं है । इसलिए यह बात सत्य है या भूँठ, तुम मधुमङ्गल
 से पूछो ॥१५॥

मधुमङ्गल—आर्ये ! यह बात सत्य है । मैं ने अपने प्रिय मित्र के
 हृदय का कस्तूरी-कुङ्कुमादि राग आज तक तुम्हारी गोपियों के अङ्गों में

ज्जेव्य इमस्स हिमये दीसइ । [आर्ये, सत्यं सत्यम् । अस्मत्प्रियवयस्यहृदयस्य
अद्यापि रागो मुष्यद्गोपिकानामङ्गेषु न मया दृष्टोऽस्ति । प्रत्युत तासा-
मङ्गराग एवास्य हृदये दृश्यते ॥१६॥

श्रीकृष्णः—(सप्रणयरोपम्) चिह्नमूर्खं, विश्रम्भादाहतोऽपि जिह्मतां
न जहासि ॥१७॥

पोर्णमासी—सत्यमाह यदुः । तथाहि ।

कामं सद्गुणमण्डसाधयतया तन्वन्महिष्ठां रक्षि
वैचित्र्योभरभावसदा शुभदशाश्वेषोन्निवामास्पदम् ।
यंसीहुं कृतिलोलया शिथिलतामेणीदृशां गीयते
यासः कंसनिपूदनाद्य भयता देहेषु मेहेष्वपि ॥१८॥७

मधुमङ्गलः—अज्जे, किं वि जाणासि जं वंसीहुं किदिलीलाएत्ति
भणासि । दिट्ठं तर्हि दिअहे कण्णम्राणं सीरट्ठिवाइं अम्भराइं अप्पणो
हत्थेण उक्खिअविअ इमिणा वल्लन्धे णिविच्छताइं । [आर्ये, किमपि न जानासि

कभी नहीं देखा बल्कि उनका अङ्ग राग (कस्तूरी-केशरादि) ही इसके
हृदय पर दीखता है ॥१६॥

श्रीकृष्ण—(प्रणय क्रोध के साथ) मूर्ख तुम्हें धिक्कार है, विश्वास
पूर्वक आदर करने पर भी तू कुटिलता को नहीं छोड़ता ? ॥१७॥

पोर्णमासी—मधुमङ्गल ने ठीक कहा है, देख—

हे कंस नाशन ! जो समस्त मृगनैनी गोपियों के परिधेय वस्त्र शोभा
गुणों के आधरूप से महान कान्ति का विस्तार करने वाले थे, और जो
भवन धन-धान्यादि सम्पत्ति व कुलीनतादि गुणों से शोभित हो रहे थे, तुमने
आज अपनी वशीध्वनि से वे सब देहवास (परिधान वसन) तथा
गृहराम दोनों शिथिल कर दिये हैं अर्थात् तुम्हारी वशीध्वनि सुनकर कुलीन
रमणियों के परिधान वस्त्र ढीले पड़ गये हैं और वह अब घरों में भी नहीं
रह पाती हैं—उनके दोनों सुख शिथिल पड़ गए हैं ॥१८॥७ ।

मधुमङ्गल—भगवति ! क्या तुम कुछ भी नहीं जानती हो ? उस
दिन मैं ने अपनी आँखों से देखा है, कृष्ण ने ब्रज कुमारियों के यमुना तट

यद्व शोहुकृतिलीना इति भणसि । दृष्ट तस्मिन्दिवसे कन्यकाज्ञा तीरस्थिता-
न्यम्बराण्यात्मनो हस्तेनोत्क्षिप्यानेन स्कन्धे निक्षिप्तानि ।] ॥१६

श्रीकृष्ण—(सभ्रूमङ्गल बटुमावार्य) आर्य, हुंकारादपि तथाभावाद्भव-
द्गोपीनामभिध्यक्त साध्वीभावप्रभाव ॥२०

ललिता—(संस्कृतेन)

केनापि धूर्तपतिना खलु शिक्षितोऽसि

मन्त्र वशीकरणकारणमौपध या ।

पुण्योज्ज्वलान्यखिलगोपिलासिनीना

येन स्वया गृहमुखानि विलुण्ठितानि ॥२१॥

मधुमङ्गल—सचच कहैवि ललिता । अण्णधा मन्तादिमन्तरेण
पव्ववुत्तुङ्गा महादानवा णविन्दीवरादोवि सोम्मसीअलपइदिणा कध
इमिणा सहरिण्णजन्ति । [सत्य कथयति ललिता । अन्यथा मन्त्रादिमन्तरेण
पर्वतोत्तुङ्गा महादानवा नवेन्दीवरादपि सोम्यशीतलप्रवृत्त्या कथमनन
सहियन्ते ।] ॥२२

ललिता—अज्ज जस्से सुमरण वि तथा संतायण त एद अप्पणो
वअस्स ना वधु सीअल भण । [आर्य, 'यस्य स्मरणमपि तथा सतापन

पर रखे हुए वस्त्र अपने हाथों से ही उठाकर 'कदम्बवृक्ष की शाखाओं पर
फेंक दिये थे ॥१६॥

श्रीकृष्ण—(नेत्रों के इशारे से मधुमङ्गल को रोकते हुए) आर्य !
तुम्हारी हामी भरने से तुम्हारी गोपिकाओं के साध्वी भाव की महिमा
ही प्रकट हो रही है ॥२०॥

ललिता—हे कृष्ण ! तुमने किस धूर्तनायक से वशीकरण का
मन्त्र अथवा औपधि की शिक्षा प्राप्त की है ? जिससे तुमने समस्त पुण्यवान
निर्मल गोपियों के गृह सुख को मिट्टी में मिला दिया है ॥२१॥

मधुमङ्गल—ललिते ! तू सच कहती है, नहीं तो मन्त्रादि के बल
बिना नवइन्दीवर से भी कोमल शीतल स्वभाव इस कृष्ण के द्वारा पर्वतों
के समान महान दानवों का सहार कैसे सम्भव होता ? ॥२२॥

ललिता—अरे मधुमङ्गल ! जिसका स्मरण भी सन्ताप स्वल्प है,

तमेतमात्मनो वयस्यं मा खलु शीतलं भण ।] ॥२३

मधुमङ्गलः—भो वयस्य. पद्मेदिसीअलो वि तुमं गोइआहि उण्होत्ति भणिज्जति । ता प्पसिअ जाणिससम् । (इति कृष्णवक्षसि हस्तं न्यस्य ससंभ्रमम् अहो. सच्चं ज्जेव्व कहेदि ललिदा । (क्षणं विमृश्य) ललिदे, विण्णावं विण्णादम् । तुअ राआ च्चेअ णूणं उण्णा जाए हिअअवट्ठिणोए चन्दकोटिसीअलो वि एस उण्णोकिदो । [भो वयस्य, प्रकृतिशीतलोऽपि त्वं गोपिकाभिरुष्ण इति भण्यसे । तत्स्पृष्ट्वा ज्ञास्यामि । अहो, सत्यमेव कथयति ललिता ललिते, विज्ञातं विज्ञातम् । तव राधिकं नूनमुष्णा यया हृदय-वतिन्या चन्द्रकोटिशीतलोऽप्येव उष्णीकृतः ।] ॥२४

ललिता—अज्ज, एत्थ राअपट्ठपत्थरहअए ताए दुरन्तपेम्मसोकु-मज्जहदाए महसहीए कुदो पवेसो संभायीअदि । [आर्य अत्र राजपट्टप्रस्तर-हृदये तस्या दुरन्तप्रेमसोकुमार्यंहताया मत्सस्याः कुतः प्रवेशः संभाव्यते ।] २५

मधुमङ्गलः—(सरोपम्) चपले, अम्हवअस्सो तदो वि तुम्हसहीवो णिभरं सिरोहफोमलो ज एसो वञ्चिदनिन्दो जोइन्दो विअ एक्कंगचित्तो णं ज्जेव्व सम्बदा छिन्तेइ । [चपले, मम वयस्यस्ततोऽपि तव मखीतो निर्भर स्नेहकोमलो यस्मादेव वञ्चितनिद्रो योगीन्द्र इव एकाग्रचित्त एनामेव सर्वदा

इस अपने प्रिय मित्र कृष्ण को शीतल मत कहो ॥२३॥

मधुमङ्गल—हे मित्र ! तुम स्वभाव से शीतल हो, फिर भी सब गोपिकाएँ तुम्हें गरम कहती हैं । इसलिए तुम्हें स्पर्श करके देखूँ । (इतना कहकर श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर हाथ धर कर सहसा बहता है) अहो ! ललिता सत्य ही कहती है । हे ललिते । मैं जान गया, जान गया । तुम्हारी राधिका ही निश्चय बड़ी गरम है, जिसने हृदय में प्रवेश कर कोटि चन्द्रो के समान शीतल इस कृष्ण को भी उत्तप्त कर दिया है ॥२४॥

ललिता—आर्य ! इस विराट्-देशीय पत्थर के समान (विराट् देश के हीरे के समान सुन्दर) हृदय में दुरन्त प्रेम-सुकुमारिता से घायल हुई हमारी सखी का प्रवेश अला कंसे सम्भव हो सकता है ? ॥२५॥

मधुमङ्गल—(क्रोध में भर कर) अरी चपले ! मेरा सखा तुम्हारी सखी के स्नेह से भरा अतिशय सुकोमल है, क्योंकि यह नीद को छोड़कर

चिन्तयति ।] ॥२६

श्रीकृष्ण — (सापन्नम्) धिम्बालिशा, कृतमसीकेन नर्मपुञ्जेन ॥२७

ललिता — (स्वगतम्) दिट्टिआ बडुदि पिअसही । [दिट्टिया बधंते प्रियसखी ।] ॥२८॥

पौर्णमासी — सुन्दर, विश्राम्यतु नर्ममुद्रा । समाकर्णय मद्विवक्षितम् ॥२९

हित्वा दूरे पथि घवतरोन्तिक धर्मसेनो-

भङ्गोदया गुरुशिखरिणं रहसा लङ्घयन्ती ।

लेभे कृष्णार्णय नवरसा राधिकावाहिनी त्वां

वाग्धोचोभि किमिव विमुखोभावमस्या करोयि ? ॥३०॥३॥

मधुमङ्गल — अइ, शुद्धबुद्धिए अज्जवि एव सुअ पुच्छसि । पेवळ

कूजताणं हवकोकिलाणं वित्तासणत्थ मए एव पुप्फकोदण्ड णिम्विदम् ।

-योगेन्द्र को तरह एकाग्र चित्त होकर सदा श्रीराधा का ही चिन्तन किया करता है ॥२६॥

श्रीकृष्ण — (शर्माकर) मूर्ख धिक्कार है तुम्हे निराधार परिहासों का क्या प्रयोजन ? ॥२७॥

ललिता — मन-मन (मे) भाग्यवश प्रिय सखी राधा की बढोतरी हो रही है ॥२८॥

पौर्णमासी — हे सुन्दर ! अत्र परिहास को मन्द करो, मैं जो कहती हूँ उसे सुनो —

हे कहरासागर ! धर्म सेतु को तोड़ने में समर्थ नवरस वाहिनी राधा-नदी घब * (पति रूप) वृक्ष को बड़ी दूर परित्याग कर अपने वेग से गुरुजन रूप पर्वत को लाघकर तुम्हारे पास पहुँची है, फिर तुम क्यों वचन रूप तरङ्गों से उसे विमुखो कर रहे हो-अर्थात् उसे क्यों दुरा रहे हो ? ॥३०॥

मधुमङ्गल — अरी शुद्ध बुद्धे ! अभी तक तुम यही पूछ रही हो ? देख कृदु-तृदु शब्द करने वाली अभागिनी कोकिलाओं को डराने के लिए

* यव एक प्रकार का वृक्ष है, जहाँ बह रहा है, नदी उसने निकट कभी नहीं जाती, बल्कि नगसे बहुत दूरवर बहा करती है ।

[अयि, शुद्धबुद्धभाद्यापीदमेव पृच्छसि । पश्य कूजतां हतकोकिलानां विनास-
नार्थं मयेदं पुष्पकोदण्डं निमित्तम् ।] ॥३१॥

पौर्णमासी—चन्द्रानन, सापि वत्सा—

आलीनां प्रतिहाररोधनविधौ वीक्ष्य प्रयत्नावलीं
बाला तर्कितमाधवीपदिमलस्फूर्तिर्भण्डपते ।
किंचालोद्य सुधांशुकान्तसलिलस्पन्दानलिनदे क्षणा-
देशाङ्कोदयशङ्खिनी विकलतामातन्वती मूर्च्छति ॥३२॥१०॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) हन्त, कठोरोऽयं दशाविवर्तः ॥३३॥

पौर्णमासी—सुन्दर,

प्रणयिषु मिलितेषु प्रेममाजामुपेक्षा
घटयति कटुपाकान्पुच्छकैर्दूषणानि ।
दिनमणिरनुरागी प्रोक्ष्य संध्यां हिरक्तां
तमसि निखिलमुप्रे मज्जयत्येष लोकम् ॥३४॥११॥

(कृष्णः सलज्जं सानन्दं नम्रीभवति)

पौर्णमासी—(पुनर्निभात्य सानन्दं स्वगतम्) विष्टयायं स्मितालि-

में ने यह पुष्प धनुष बनाया है ॥३१॥

पौर्णमासी—चन्द्रवदन ! वह वत्सा है, सखियों के रास्ता रोकने
में अतिशय यत्न को देखकर वह कलिका माधवी के प्रसरणशील सौरभ
के मारे कम्पित होती है और चान्दनी को देखकर चन्द्रकान्त मणि से जल
झरते हुए देखकर चन्द्रोदय की आशङ्का में व्याकुल होकर मूर्छित हो
जाती है ॥३२॥१०॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) हाय ! यह कठोरता की पराकाष्ठा है ॥३३॥

पौर्णमासी—हे सुन्दर ! प्रेमियों के मिलने पर प्रेमी व्यक्ति की
जो उपेक्षा है वह कठोरता की परम काष्ठा है, जो भारी दोषों को पैदा कर
सकती है । देखो, सूर्य रक्त अनुरागिणी सन्ध्या को त्यागता है तो समस्त
लोकों को घोर अन्धकार में डाल देता है ॥३४॥११॥

(श्रीकृष्ण शर्मकर नीचा मुहँ कर लेते हैं।)

पौर्णमासी—(फिर देखकर आनन्द सहित अपने मन ही मन में)

ङ्गितमङ्गोकुवन्दसिण न्यमोलयवोक्षणम् । (प्रकाशम्) गोकुलानन्द, पुरस्तादिय,
माकन्दवेदो स्वयमलकृतंभ्या निमोलति हेलिबिम्बे सख्योरेकतरा त्वामभीष्ट,
देश प्रापयति ॥३५॥

श्रीकृष्ण — (सापन्नम्) यथाह भगवतो । (इति सवयस्यो निष्क्रान्त)

पौर्णमासी—पुत्रि सलिते, काम निवृत्तास्मि । तदेहि । राधाम-
नुसराम ॥३७॥

(इत्युभे परिक्रामत)

(ततः प्रविशति विशाखाया सह सकथयन्ती राधा)

राधिका—(संस्कृतेन)

सखि क्षणितनारिकेलनीर स्मितकर्पूरवृत्त हरेर्निपीय ।

तनुसङ्गमुष्ठा विना न तस्य स्तपिताह गरलेन, जीवितास्मि ॥३८॥१२

विशाखा—अइ अबिण्णादणिजनाहादम्ये, ताविसो तुह राअस्स गरिमा

बड़ा सौभाग्य है कि इसने मुसकान भरे इशारे से दायाँ तयन को झपकाया है । (स्पष्ट कहती है) हे गोकुलानन्द ! सामने वाली आम्नवेदिका को तुम अलङ्कृत करो—अर्थात् उस पर बैठो । सूर्य प्रकाश अस्त होने पर ललिता-विशाखा मे से कोई एक आकर तुम्हें अभीष्ट स्थान पर ले जाएगा ॥३५॥

। श्रीकृष्ण—(लज्जा सहित) भगवति, जो—आज्ञा । (इतना, कहकर आम्न वेदिका की ओर मधुमङ्गल के साथ चल देते हैं) ॥३६॥

। पौर्णमासी—पुत्रि सलिते ! यथेष्ट रूप से निश्चिन्त हो गई हूँ । आओ राधा के पास चल ॥३७॥

(इस प्रकार कह दोनों चली जाती है) ।

[तत्पश्चात् विशाखा के साथ वात चीत करते करते श्रीराधा प्रवेश करती है]

श्रीराधिका—विशाखा ! श्रीकृष्ण वचन नारियल के जल के समान है और उसकी मुसकान कपूर सदृश । इन दोनों को एक साथ पानकर मैं अब विपकी ज्वाला में जली जा रही हूँ, अब उनके श्रीअङ्गसङ्ग-अमृत के बिना यह जीवन नहीं बच सकता ॥३८॥१२॥

विशाखा—राधे ! तू अपनी महिमा को नहीं जानती है—तुम्हारे

जेण सो वल्लु सामसुन्दरो वि वाढ । रत्तीकिदो तथा वि अप्पणो मालिण्ण
सङ्कुसि । [अय्यविज्ञातनिजमाहात्म्ये, तादृशस्तव गारस्य गरिमा येन स खलु
श्यामसुन्दराऽपि वाढ रत्तीकृतस्तथाप्यात्मनो मालिन्य शङ्कुसे ।] ॥३६॥

राधिका—(पुन सस्कृतेन)

नात्तीकिर्नो निशि धनोत्कलिकामशङ्कु-

क्षिप्त्वा वृत्तोरतनुवन्त्यगज क्षुणत्ति ।

अभ्रानुरागिणि चिराद्बुद्धितेऽपि भानी

हा हन्त किं सखि सुखं नविता वरावया ॥४०॥१३॥

पौणमासी—(पुरो राधा दृष्ट्वा) पुत्रि ललिते, सख्यास्तव प्रेमी
क्तिमुद्रामुद्रादयितुमुत्कण्ठितास्मि । तद्भूयत्या तूष्णीमेव भवितव्यम् ॥४१॥

ललिता—ज आणवेदि तरयहोदु । [यद्विज्ञापयति तद्भवतु ।] ॥४२॥

पौणमासी—(राधामुपेत्य । सर्वतवविपादम्)

भवदङ्गसङ्गविषये प्रियाक्तिभि

भुङ्हरयितोऽपि मविराक्षि माधव ।

अनुराग की ऐसी गरिमा है कि वह श्यामसुन्दर भी अतिशय अनुरक्त हो
रहे हैं परन्तु फिर भी तुम अपने मे दोषों की आशका कर रही हो ॥३६॥

श्रीराधिका—सखि ! अध प्रफुल्लित कमलिनी को रात्रि में यदि
उखाड़ कर बलवान हाथी निभय होकर चूण चूणकर डालता है तो कमलिनी
का अनुरागी सूर्य प्रभात में उदित होकर उस अभागिनी कमलिनी को क्या
सुख देगा ? ॥४०॥१३॥

पौर्णमासी—(सामने श्रीराधा को देखकर) पुत्रि ललिते ! तुम्हारी
सखी श्रीराधा के द्वारा प्रेमोक्ति मुद्रा को स्पष्ट कराने के लिए मैं उत्कण्ठित
हो रही हूँ । अतः तुम जरा चुप रहना ॥४१॥

ललिता—जैसी आज्ञा वैसे ही करूंगी ॥४२॥

पौर्णमासी—(श्रीराधा के निकट आकर छल पूवक दुख के साथ)
हे खज्जनाक्षि ! तुम्हारे अङ्गसङ्ग के लिए मधुर मधुरवाणी से मैं ने श्रीमाधव
को बहुत प्रार्थना की है, परन्तु वह तो जरा भी सहमत नहीं हुआ । इसलिए

मनुते मनापि न हीति हृदया-

प्रतिकारयुक्तिरपरा विधीयताम् ॥४३॥१४॥

राधिका—(सव्यामोहम्) अलं एत्य लज्जितेन । [अलमत्र लज्जितेन ।]
(इत्यञ्जलिं बध्वा) ।

अहमंलिहन्ति डहणे णडहं रङ्गणलदं लिहन्तमिह ।

का पडिआरे जुंति भुविकअ सामलघणुल्लासम् ॥

[अभ्रालेहे बहने कोमला रङ्गणलता लिहति ।

का प्रतिकारे युक्तिस्त्यक्त्वा श्यामलघनोल्लासम्] ॥४४॥

पीणमासी—

जरत्थास्त्वं नप्ती स तु कमलया सालितपदः

कथकार तस्मै मुहुरमुलभाय स्पृहयति ।

प्रसीद व्याहारे मम रचय चेतो विविचर

गृहीतुं पाणिभ्यां विधुमहहमा भूत्कुतुकिनी ॥४५॥१५॥

राधिका—(सगद्गदम् सत्कुतेन)

मया ते निर्वन्धान्मुरजपिनि रागः परिहृतो

मयि स्निग्धे कितु प्रयय परमाशीस्ततिमिमाम् ।

अपनी हृदय व्याया का कोई दूसरा इलाज सोचो ॥४३॥१४॥

श्रीराधिका—(दुःख पूर्वक) इस विषय में लज्जित होने का कोई प्रयोजन नहीं है, (इतना कहते हुए हाथ जोड़कर) कोमल रगणलता को जलाने के लिए यदि आकाश व्यापी अग्नि जल उठे तो घड़े के पानी से क्या उसे बुझाया जा सकता है ? दयाम-मेघ द्वारा भारी वर्षा के बिना उसे बुझाने का और कोई उपाय नहीं ॥४४

पीणमासी—राधे ! तू मुझ बुद्धिया की दोहत्री है और तूझी उसके चरणों की सेवा करती है । फिर तू मेरे उस दुर्लभ वस्तु (श्रीकृष्ण) को पाने की इच्छा करती हो ? इसलिए तू मेरे वचनों की चिरा में प्रमत्तता पूर्वक धारण करो । आकाश के चन्द्र को हाथों से पकड़ने का बीजुष करने वाली मत बनो ॥४५॥१५॥

श्रीराधिका—(गद्गद वाणी से)—भगवति ! मैं ने तुम्हारे आग्रह में कृष्ण के प्रति अनुराग को छोट दिया । परन्तु तू मेरे लिए यह

मुखामोदोद्गारग्रहितमतिरघं च हि यत्
प्रदोषारम्भे स्या विमलवनमालामधुकरी ॥४६॥१६॥

(इति वैवश्य नाटयति)

विशाखा—भगवति परित्ताहि परित्ताहि । इअ उ णिदणेत्ता
कपि दाहणं दसाब्बिसेस सहेवि राही । [भगवति, परित्राहि परित्ताहि ।
इयमुत्तानितनेत्रा कमपि दाहण दशाब्बिसेष लभते राधा ।] ॥४७॥

पौर्णमासी—(सावेगम्) हा धिक् । केय बलादाकृष्टा महाविभक्तकाल-
सर्पौ । (इति सदय राधामालिङ्ग्य) वस्से, समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।
भावाभिव्यक्तये प्रोत्थापितासि । तदिदं ययार्थमाकर्ण्यताम् ॥४८॥

अमितविभवा यस्य प्रेक्षालवाय भवादयो
भुवनगुरवोऽप्युत्कृष्टाभिस्तपासि, वितन्वते ।
अहह गहनादृष्टानां ते फल किमभिप्युवे
सुतनु स तनुर्जज्ञे कृष्णस्तवेक्षणतुष्णया ॥४९॥१७॥

आशीर्वाद करो कि मैं आज सन्ध्या होते ही उनके वचनो मे मन लगाकर
उन की निर्मल वनमाला की मधुकरी बन जाऊ—(अर्थात् इस शरीर को
त्यागकर उनकी वनमाला की मधुकरी बन जाऊ) ॥४६॥१६॥

(इतना कहकर वेसुध हो जाती है)

विशाखा—भगवति ! रक्षा करो, रक्षा करो देखो राधा के नेत्र
ठहर गए हैं, कैसी इसकी दाहण दशा हो रही है ? ॥४७॥

पौर्णमासी—(उद्वेग पूर्वक)—हाय ! धिक्कार ! मैं ने हठात् महा
विपद रूप काल सर्पिणी को क्यों बुला लिया ? (इतना कहकर दया
पूर्वक श्रीराधा को आलिंगन करके) पुत्रि ! धीरज धरो, धीरज धरो, मैं ने
तुम्हारे भावो को जानने के लिए परिहास किया था, अब ययार्थ बात
सुनो ॥४८॥

हे सुन्दरि ! जिनके लेशमात्र दर्शन प्राप्त करने के लिए त्रिभुवन
पति शकरादि श्री उत्कृष्टा सहित तपस्या किया करते हैं वह श्रीकृष्ण
तुम्हारे दर्शनों की लालसा से अति क्षीण हो रहे हैं । तुम्हारे महान भाग्यो
की मैं और क्या सराहना करू ? ॥४९॥१७॥

ललिता—(संस्कृतेन)

त्वद्वार्तोत्तरगीतगुम्फितमुखो वेणुः समन्तादभू-
स्त्वद्वेशोचितशिल्पकल्पनमयी सर्वा बभूव क्रिया ।

त्वन्नामानि बभूवुरस्य सुरभौवृन्दानि वृन्दाटवी

राधे त्वन्मयवल्गिमण्डलघना जाताद्य कंसद्विषः ॥५०॥१८॥

राधिका—(समाश्रय्य स्वगतम्) चञ्चल हे चित्त, अज्जवि ण
पत्तिआएसि । [चञ्चल हे चित्त, अद्यापि न प्रत्याययसि ।] ॥५१॥

पौर्णमासी—पुत्रि ललिते, बाढं प्रगल्भासि । तद्विशाखा याव-
न्माकन्दमूलान्मुकुन्देन सह प्रत्यायतंते तावदत्र संकेतिते कर्णिकारकुञ्जे
गोपय त्व गोपालिकाभ्यो राधिकाम् । मया तु स्वकृत्याय गन्तव्यम् ॥५२॥

(इति तिस्रोऽपि निष्क्रान्ताः)

विशाखा—(दूरं परिक्रम्य) सो माकन्दो एसो पुरो दीसइ जत्थ
वण्हो । [स माकन्द एष पुरो दृश्यते यत्र कृष्णः ।] ॥५३॥

ललिता—हे राधे ! श्रीकृष्ण की वंशी सदा तुम्हारे ही चरित का
गान करती रहती है, वे तुम्हारी वेश-रचना के योग्य ही समस्त शिल्प
क्रिया करते रहते हैं, समस्त गौएं तुम्हारे नाम की हो रही हैं अथात् गौओं
को बुलाते समय वे राधे राधे ही उच्चारण करते हैं । हे सुन्दरि ! श्रीकृष्ण
के लिए लतासमूह मण्डल यह श्रीवृन्दावन इस समय राधामय ही हो रहा
है—सर्वत्र उन्हें तुम्हारा ही स्वरूप स्फुरित होता है ॥५०॥१८॥

श्रीराधिका—(धैर्य पूर्वक मन-मन मे) अरे चञ्चल चित्त ! अब भी
तू विश्वास नहीं करता है ॥५१॥

पौर्णमासी—पुत्रि ललिते ! तू अति चतुर है, इसलिए जब तक
विशाखा आम वृक्ष के नीचे बैठे श्रीकृष्ण को लेकर लौट नहीं आती, तब
तक तू इस निश्चित कर्णिका-कुञ्ज में राधा को गोपवधूओं से छिपा के रस ।
मैं अपने काम के लिए जा रही हूँ ॥५२॥

(इतना कहकर तीनों चली जाती हैं)

विशाखा—(वृक्ष दूर जाकर) सामने यह बड़ी आम वृक्ष दीसता
है, जहा श्रीकृष्ण बैठे है ॥५३॥

(ततः प्रविशति कृष्णः)

श्रीकृष्णः—(सोत्कण्ठ प्रतीचीमवलोक्य)

सद्यात्तमहिरण्यपिण्डमधुरं चण्डद्विषो मण्डलं
सङ्गं हन्त तरङ्गिणीरतिगुरोरङ्गीचकाराम्भसि ।
द्रागेतान्यपि यूकनेत्रपटलोसिद्धाञ्जनक्षोदतां
विभ्रन्ति द्विषविभ्रमाणि रुधुर्ध्वानि घृन्दावनम् ॥५४॥१६॥

(सोत्सुक्य पन्थानमुदीक्ष्य) कथमद्यापि सखी काचिक्षेत्राध्वनि मे नावततार ।
(इति परावृत्य प्राचीं पश्यन्) ।

साम्ना सुमकुमुदतोकुलवधूनिद्राभिदाकोविदाः
कुर्वाणा कसुपश्रियं परिभवातङ्केन पङ्केजिनीम् ।
सरम्भादभिसारिकाभिरसकृद्याक्रुण्माणाम्गमा-
भास शीतकरस्य हन्त हरितं पूर्वां परिष्कुर्वते ॥५५॥१२०॥

(इति वैयाघ्र नाटयति)

ध्यात्वा धर्मं धृतिमुदयिनीं किं बबन्धाद्य राधा
तीव्राक्षेपैः किमुत गुरुभिलम्बिता वा निवृत्तिम् ।

(तत्र श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं)

श्रीकृष्ण—(उत्कण्ठा सहित पश्चिम की ओर देखते हुए) हाय !
अब तो तप्त स्वर्णपिण्ड की तरह उज्ज्वल प्रचण्ड सूर्य मण्डल समुद्र जल
से मिलने लगा है, इसलिए पेचक नेत्रों के सिद्ध अजन-चूर्ण को प्राप्तकर
अन्धकार ने हाथियों के समूह का भ्रम पैदा करते हुए वृन्दावन को घेर
लिया है ॥५४॥१६॥

(उत्कण्ठासहित रास्ते को देखते हुए) कोई भी सखी अभी तक आती
दिखाई नहीं दे रही है । जाने क्यों ? (इतना कहकर पीछे घूमकर पूर्व
दिशा की ओर देखते हुए) आहा ! सोती हुई कुमुदिनी रूप कुलाञ्जनाओं
की निद्रा भङ्ग करने में चतुर यह चान्दनी, सूर्य अस्त होने के कारण
सकुचित कमलिनीयों की शोभा को मलिन करते हुए तथा क्रोधित अभि-
सारिकाओं से तिरस्कृत हो पूर्व दिशा को अलङ्कृत कर रही है ॥५५॥१२०॥

(यह कहकर व्याकुलता दिखाते हैं)

क्या राधा धर्म का विचार कर धीरज से बैठ गई है ? अथवा गुरु-

किं वा कष्टमभजत दशां तामविस्पन्दमन्दा-

मिन्दो विन्दत्युदयमपि यन्नाजगामाद्य दूतो ॥५६॥२१॥

विशाखा—(लतान्तरे सोढीविक्रम) एसो णूणं उक्कण्ठाए महज्जेव पअर्थो विलोएदि कण्हो । ता वल्लणं परिहसिस्सम् । [एव- नूनमुत्कण्ठया ममेव पदवीं विलोकयति कृष्णः । तस्मात्सङ्गं परिहासं करिष्ये ।] ॥५७॥

श्रीकृष्णः—(सानन्दम्) इयं विशाखापि चञ्चलपञ्चशाखासखी मिलिता । (इत्युपसृत्य)-सखि, तवोपलम्भात्तामेश रम्भोरं लब्धामप्येति यद्विशाखाराधयोरद्वैतम् ॥५८॥

(विशाखा मुखमानमय्य मौनमालम्ब्यते)

श्रीकृष्णः—सखि, किमत्र तूष्णीमसि ॥५९॥

विशाखा—चन्द्रमुख, मन्दभागिनी स्मिह । ता किं विष्णुविस्तम् । [चन्द्रमुख, मन्दभागिनी स्मि । तस्मार्तिक विज्ञापयिष्ये ।] ॥६०॥

श्रीकृष्णः—(सशङ्कम्) किमयंमिदम् ॥६१॥

जनों द्वारा कठोर आशेषों के भय से रुक गई हैं ? या वह अचेतन होकर किसी कष्ट अथवा में पड़ी हुई है, कुछ भा हा, चन्द्र तो उदित हो गया है किन्तु अभी तक कोई दूती भी नहीं आई ॥५६॥२१॥

विशाखा—(लता के पीछे से गर्दन ऊंची करके उत्कण्ठा पूर्वक सोचती है) निश्चय ही यह श्रीकृष्ण मेरी राह देख रहे हैं, इसलिए एक क्षण काल के लिए इनसे परिहास करूं ॥५७॥

श्रीकृष्ण—(मानन्द पूर्वक) राधा की सखी ही विशाखा हाथ हिलाती हुई आ रही है । (निकट आकर) सखि ! मैं तुम्हारे आने को रम्भोर राधा के आगमन समान समझता हूं, क्योंकि तुम में और राधा में कोई भेद नहीं है ॥५८॥

(विशाखा मुख को नीचे झुका कर चुप पड़ी रहती है)

श्रीकृष्ण—विशाने ! तुम कैसे चुप पड़ी हो ? ॥५९॥

विशाखा—हे चन्द्रवदन ! मैं मन्दभागिनी हूं, इसलिए ओर गया यत्ताज ? ॥६०॥

श्रीकृष्ण—(गंजा महिन) इसका अभिप्राय ? ॥६१॥

विशाखा—सुन्दर, 'ण मे सरस्सइ निस्सरदि । होदु । तथा वि संवरिदुं ण जुत्तेमिदम् ।' (इति मुखवैकृत्यमभिनीय) भो भट्टिदारक, सा पिअसही अहिमण्णुणा हतासेण महुरापत्ताणम्मि—[सुन्दर, न मे सरस्वती नि.सरति । भवतु तथापि गोपायितुं न युक्तमिदम् । भो भट्टिदारक सा प्रियसखी अभिमन्युना हताशेन मथुरागतने—।] (इत्यर्धोक्ते शुष्क रोदिति) ॥६२॥

श्रीकृष्ण—(सव्ययम्) कदा नाम नीता ॥६३॥

विशाखा—जदा भगवदी तुम्ह सभासं लद्धा । [यदा भगवती तव सकाश लब्धा ।] ॥६४॥

श्रीकृष्णः—(सखेदम्) विशाखे, कथकारं नीता ॥६५॥

विशाखा—तुअम्मि भाअं तविकअं । [त्वयि भावै तर्कयित्वा ।] ॥६६॥

श्रीकृष्ण.—कथं स तर्कितः ॥६७॥

विशाखा—लोओत्तरीहोन्तो अत्थो ण कस्सं तक्कणिज्जो होइ । [लोकोत्तरोभवन्नर्थो न कस्य तर्कणीयो भवति ।] ॥६८॥

श्रीकृष्ण—ग्लपयति वपुर्दुर्लालो मे बलान्मलयानिलो
विकिरति करैरिन्दु शोभ तुषाग्निभवं श्या।

विशाखा—हे सुन्दर । मेरे मुहँ से बात नहीं निकल पा रही, है फिर भो चुप रहना उचित नहीं है (इतना कहकर मुहँ बनाते हुए) हे राजकुमार । अभिमन्यु हताश होकर राधा को मथुरा नगरी में—(इतना आधा वाक्य कहकर विशाखा सूखा रोना रोती है) ॥६२॥

श्रीकृष्ण—(दुःख सहित) कब ले गया ? ॥६३॥

विशाखा—जब पौर्णमासी तुम्हारे पास आई थी ॥६४॥

श्रीकृष्ण—(खेद सहित) क्यों ले गया है ? ॥६५॥

विशाखा—तुम्हारे मे भाव की आशका करके ॥६६॥

श्रीकृष्ण—(दुःख पूर्वक) उसे कैसे शका पैदा हुई ॥६७॥

विशाखा—तुम्हारे लोकोत्तर भावो को देखकर किसको शका नहीं होती है ? ॥६८॥

श्रीकृष्ण—एक तो दुःशील मलयाचल की पवन बल पूर्वक मेरे शरीर

मदनहतकस्तर्जयेष स्फुटंरलितुं कृतं-
 स्फुटिरपि विना राधां नेतु मया न हि शक्यते ॥६६॥२२॥

(इति व्यामोह नाटयति ।)

विशाखा—(सखेद ससभ्रमम्) गोउलानन्द, समासस समासस ।
 मए षषु परिहसिषम् । सा तवस्तिणो ताए रङ्गणमालिआए रविखदपराणत्थि।
 [गोकुलानन्द, समाश्रसिहि समाश्रसिहि । मया खलु परिहसितम् । सा
 तपस्विनी तथा रङ्गणमालिकया रक्षितप्राणास्ति ।] ॥७०॥

श्रीकृष्ण—(समाश्रस्य) धूर्त, भद्रेण कर्दपितोऽस्मि ॥७१॥

विशाखा—अप्पणो गुण ण सुमरसि । [आत्मनो गुण न स्मरसि] ७२

श्रीकृष्ण—सखि, वर्ण्यता प्रेम्णामङ्क प्रियाया । ७३॥

विशाखा—(सस्कृतेन) ।

दूरादप्यनुपङ्गत धृतिमिते स्वप्नामघेयाक्षरे
 सोऽमाद मदिरक्षणा विस्वतो धरो मुहुर्वपधुम् ।

को मुरझाय दे रही है, दूतरे चन्द्र कोधित होकर अग्नि जूँ की तरह
 तुषार बरसा रहा है, और फिर नीच कामदेव सबरो के द्वारा स्पष्ट रूप से
 भर्त्सना कर रहा है हाय । मैं श्रीराधा के विना एक क्षण भी नहीं रह
 सकता हूँ ॥६६॥२२॥

(इतना कहकर अचेतन हो गिर पड़ते हैं)

विशाखा—(सिंद पूर्वक घबरा कर) हे गोकुलानन्द ! धीरज धरो,
 धीरज धरो, मैंने परिहास किया है, वह तपस्विनी श्रीराधा तुम्हारी
 रणमाला से अपनी प्राण रक्षा कर रही है ॥७०॥

श्रीकृष्ण—(धर्म धारण कर) अरी धूर्त ! तुमने अच्छी पीडा दी । ७१

विशाखा—अपने गुणों को याद नहीं करते हो ? ॥७२॥

श्रीकृष्ण—सखि ! प्रिया के प्रेम-चिह्नों का तो वर्णन कर ॥७३॥

विशाखा—हे कृष्ण ! प्रसन्नवदन दूर से ही तुम्हारे नामाक्षर के
 जानों में पड़ते ही यह राजन नयनी राधा उन्मत्त होकर भीत्वार पड़ते

आः किं वा कथनीयमन्यदपि ते देवाद्वराम्भोधरे
दृष्टे तं परिरब्धुमुत्सुकमतिः पक्षद्वयोमिच्छति ॥७४॥२३॥

श्रीकृष्णः—तदेहि । सत्वरमेव प्रेयसो प्रेक्षावहि ॥७५॥

(इति परिक्रामतः)

(ततः प्रविशति ललितयाराध्यमाना राधा)

राधा—(सन्वेदम् सस्मृतेन)

प्रत्यूहेन पराहता नु किमभूद्गन्तुं सखी न क्षमा
तस्याः किं तु निषेधितेन हि हरिविधम्भमस्याययौ ।
हा हन्त प्रतिकूलतां मयि गतः किं वा विधिर्विष्णो
यद्दूराद्वनमालिकापरिमलोऽप्यद्यापि नासाद्यते ॥७६॥२४॥

विशाखा—(पुरोऽनुसृत्य-सस्मृतेन)

नञ्चोक्त्य शिरो मुहुस्तर्कवृतामालोकते वर्तनी-
मृत्याय क्षणमासनतपुनरहो भ्राता निषीदत्यसौ ।

करते कापने लगती है । हाय ! और अधिक क्या बताऊँ दैवयोग से यदि वह कृष्ण वर्ण नवीन मेघ को देख ले तो उत्कण्ठित चित्त से उसे आलिंगन करने के लिए पक्ष लगाकर उड़ना चाहती है ॥७४॥२३॥

श्रीकृष्ण—तव आभो शीघ्र चलकर श्रीराधा को देखे ॥७५॥

(इतना कहकर दोनों लौट जाते हैं । तब ललिता द्वारा आराधित श्रीराधा प्रवेश करती है)

श्रीराधा—(खेद पूर्वक) ऐसा लगता है कोई विघ्न पड़ जाने से विशाखा श्रीकृष्ण तक नहीं जा सकी है, अथवा उन्हें निवेदन करने पर उन्होंने उस पर विश्वास नहीं किया है । हाय ! या तो कठोर विघाता ही मेरे प्रतिकूल हो गया है, नहीं तो दूर से अभी तक वनमाला की सौरभ क्यों नहीं आ रही ? ॥७६॥२४॥

विशाखा—(आगे बढ़कर) हे कृष्ण ! देखो, सामने श्रीराधा मस्तक झुकाकर बारम्बार वृक्षों से घिरे मार्ग को देख रही है, भ्रान्त होकर एक क्षण में आसन से उठ खड़ी होती है, दूसरे क्षण में फिर बैठ जाती है एव दो

द्वित्राण्येत्य पदानि वीक्ष्य ललितां भुयः परावर्तते
पश्याग्रे तव संगमोत्सुकतया राधा परिबलाम्यति ॥७७॥२५॥

श्रीकृष्णः—

वदनदोतिविधूतत्रिघट्टया कुमुदघोमधुरामधुरस्मिता ।

नखजितोद्धरिणं हरिण्येक्षणा तृणयति क्षणदामुखमाधुरीम् ॥७८॥२६॥

राधिका—(सकातर्यम् सस्कृतेन) ।

हृग्भङ्गोनां किमु परिमलं प्रेयसीमनिच्छदः

किं वा स्वैरी मयि विहिन्वानुद्धतायामुपेक्षाम्

हा चान्द्रीमिच्छांतिमिरभितो प्रस्यमाण्येऽपि लोके

प्राप्तो नाय यदि हलतिकामन्बिरे मन्दसूनुः ॥७९॥२७॥

श्रीकृष्णः—(पुरोऽनुसृत्य) अहो, साधीयान्प्रसादः पौर्णमास्याः,
यदियमामोदयति कौमुदी ॥८०॥

तीन कदम चलकर फिर ललिता को देखकर वापस लौट जाती है । हाय !
आपके मिलने के लिए उत्कण्ठित होकर वह अतिशय कष्ट पा रही हैं ॥७७॥

श्रीकृष्ण—आहा ! श्रीराधा के मुख की कान्ति देखकर चन्द्रोदय से भी
घृणा होती है । इसकी मधुर मुमकान कुमोदनियों की शोभा का घर है एवं
यह अपने नखों की कान्ति द्वारा तारागणों को पराजित कर रही है, मृग-
नयनी इस श्रीराधा के आश्चर्यमय मधुर्य ने प्रशोष वालीन मधुरिमा को
तिनके के समान कर डाला है ॥७८॥२६॥

श्रीराधिका—(ध्याकुलता सहित) हाय ! प्रेमसीपण ने क्या नेत्र भङ्गी
से श्रीकृष्ण को रोक लिया है, किंवा वे स्वेच्छाचारी हैं, क्या उन्होंने मेरी
उद्धता को देखकर मेरी उपेक्षा कर दी है ? हाय ! अब चन्द्र की निरणों
से गमस्त जगत् परिपूर्ण हो रहा है, परन्तु नता मन्दिर से अभी तब तो
श्रीनन्दनन्दन नहीं आए ॥७९॥२७॥

श्रीकृष्ण—(आगे बढ़कर) आहा ! पौर्णमासी को वैसे अति उत्कृष्ट
प्रगटना है कि जिससे कौमुदी अति गुण दे रही है ।

(पश्याग्र मे—पौर्णमासी देवी की वंसी महान कृपा है कि जिससे
यह चन्द्र कान्ति श्रीराधा अति आनन्द प्रदान करने लगी है) ॥८०॥

राधिका—(चमत्कृतिमभिनीय स्वगतं) हं, एतिअ भागधे-
आएँवि भाअएँ संयुक्तो एस जणो । [अहो, एतांगद्वागधेयानां अपि भाजन
संयुक्त एष जनः ।] (इति वैवक्ष्यमालम्बते) ॥८१॥

विशाखा—(संस्कृतेन)

अहो धन्या गोप्यः कलितनवनर्मोक्तिभिर्ल
विलासैरानन्दं वधति मधुरैर्या मधुभिः ।
धिगस्तु स्वं भाग्यं मम यदिह राधा प्रिमसखी
पुरस्तस्मिन्प्राप्ते निविडजडिमाङ्गी विलुठति ॥८२॥८३॥

ललिता—अइ लज्जानुए राहिए, अगवो एसो दे भाणसहंसहरो
णाअरो । ता मा बडु सज्जसेण बिह्वला होहि, जं पगधवा जेव अज्ज
कज्जसाहिणी । [अयि लज्जालुके राधिके । अग्रत एष ते मानसहंसहरो
नागरः । तन्मा खलु साध्वसेन बिह्वला भव । यस्मात्प्रगल्भतैवाद्य कार्य—
साधिनी ।] (इति राधिकाः वलादिवाक्य कृष्णान्तिकसामाद्य च संस्कृतेन) ।

बिकूरादालोषय प्रबलतरतृष्णातरलितः
सखीचेतोहंसस्तव वदनपद्मे निपतितः ।

श्रीराधिका—(विस्मित होकर मन ही मन में) आहा ! मुझ जैसे नारी
का क्या ऐसा भाग्य उदय हुआ है ? (इतना कहकर बेसुध हो जाती हैं) ॥८१॥

विशाखा—आहा ! ये सब गोपीगण मधुर विलास युक्त नवीन
नर्मोक्तियों द्वारा श्रीकृष्ण का अतिशय आनन्द-विधान कर रही हैं, ये धन्य
हैं । किन्तु मेरे भाग्यों को धिक्कार है कि श्रीकृष्ण के सामने आते ही मेरी
प्रिय सखी श्रीराधा बिल्कुल बेसुध होकर पृथ्वी पर गिर गई है ॥८२॥८३॥

ललिता—अरी ओ लज्जाशील राधे ! देख, तेरे मानस हंस को चुराने
वाला नागर तेरे सामने उपस्थित है । इसलिए इसे देखकर अब तू भय से
व्याकुल मत हो, चतुरता ही आज कार्य साधित करेगी ॥८३॥

(इतना कहकर बल पूर्वक श्रीराधा को खींचकर श्रीकृष्ण के निकट
लाकर कहती है) ।

हे कृष्ण ! दूर से ही तुम्हें देखकर हमारी प्रिय सखी राधा का चित्त
रूपी हंस प्रबलतर तृष्णा से व्याकुल होकर तुम्हारे मुख कमल पर जा गिरा

अमद्भूपाशाभ्यां कितव समबध्नादिह भवान्
किमस्मात्तु न्याय्या व्यवसितिरियन्ते विसदृशी ? ॥८४॥२६॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा) सलिते, मद्विधा खल्ववतार्यहारिणो न भवन्ति ॥८५॥

विशाखा—धम्मिय, सच्चं सच्चम् । भद्रकालीतीर्थकसम्बो ज्जेव
अत्थ पमाणम् । [धार्मिक, सत्य सत्यम् । भद्रकालीतीर्थकदम्ब एवात्र
प्रमाणम् ।] ॥८६॥

श्रीकृष्णः—सखि ललिते, मद्विशुद्धौ कथं वः प्रतीतिः ? ॥८७॥

ललिता—छद्मस्त परिवर्त्ताविहासेण । [विदग्ध परीक्षाविधानेन ।] ८८

श्रीकृष्णः—वामे, कामं कथ्यतां परीक्षा । मम आजिष्युरप्य कीर्ति-
शुभ्रांशुर्न मया फलङ्कीकृतुं शक्यते ॥८९॥

ललिता—(संस्कृतेन)

त्वमुभद्रे राधास्तनकनककुम्भान्तरमितं-
स्तनूजालीकालोरगपुवतिमूर्धप्रणयिनि ।

है । तुमने उसे अपनी अकुटि-पाक्षी से नहीं बान्ध लिया ? हे कितव !
हमारे प्रति यह तुम्हारा उलटा भाव क्या न्याय संगत है ? ॥८४॥२६॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) ललिते ! मुझ जैसे व्यक्ति कभी भी
अवला सम्पत्ति का हरण नहीं करते हैं ॥८५॥

विशाखा—हे धार्मिक ! सत्य है सत्य, 'भद्रकाली तीर्थस्थ बृद्धम्ब
वृक्ष इस विषय मे साक्षी है (अर्थात् कात्यायनी पूजा स्थल पर जो बृद्धम्ब
का वृक्ष है वह आपकी इस बात का साक्षी है । हम अवलाओं के चीर चुरा-
बर आप ही तो उस बृद्धम्ब पर चढ़ गए थे ।) ॥८६॥

श्रीकृष्ण—सखि ललिते ! मेरी निर्दोषता मे आप को कैसे विश्वास
हो ? ॥८७॥

ललिता—हे विदग्ध ! परीक्षा करने पर १८८॥

श्रीकृष्ण—हे वक्रचित्ते ! जो इच्छा हो वह परीक्षा वह दे । निर्मल
यज्ञ रूपी बन्द को भूँटा बनवित नहीं कर पाओगी ॥८९॥

ललिता—हे कृष्ण ! श्रीराधा-वदोज रूप बनव-मुम्भो के मध्य
स्थित उस की नाभि से उत्पन्न होने वाली सोमावली रूप जो वाली नागिन

यदि क्षोभोन्मुक्तः कल्येयसि करं नायकमणौ
ततस्ते ध्वस्ताङ्कुः प्रचरेन्ति यशोमण्डलशशी ॥६०॥३०॥

श्रीकृष्णः—(कृत्रिमत्रासमेभिनीय) हन्त निठुरे, नाम्नेव ललितासि,
ददत्पीयसि तावेदये गरीयसी सर्पघटाख्यां परीक्षांमुपक्षिपसि ॥६१॥

राधिका—(सप्रणयेर्यम्) ललिते, चिट्टु चिट्टु । [ललिते, तिष्ठ तिष्ठ ।]
(इति सभ्रूभङ्गमवदोक्ते) ॥६२॥

ललिता—विशाखे, णट्टघण्टेसमारिणीं मं कीस-तज्जदि राहिमा ?
[विशाखे, नष्टघनोद्देशकारिणी मां कस्मात्तज्जयति राधिका ?] ॥६३॥

विशाखा—ललिते, इमाए हिमअट्टिदं आठ्ठदं मेए जाणीअदि ।
[ललिते, अस्या हृत्स्थितमाकृत मया ज्ञायते ।] ॥६४॥

विशाखा—तं कघेहि । सुणिस्सम् । [तत्कथय, श्रोष्यामि ।] ॥६५॥

विशाखा—(संस्कृतमाश्रित्य)

स्पृशन्तं यो मेघानघमनघकर्मा तमवधी—

द्विषज्वालाजालोन्मदमदमयत्कालियमहिम् ।

है उसके मस्तक में जो नायक मणि विराजमान है, यदि तुम अक्षोभचित्त
से उसमें हाथ लगा सको, तभी तुम्हारा यश चन्द्र अकलंकित विख्यात हो
सकता है । ६० ३०॥

श्रीकृष्ण—(बनावटी भय प्रकाश करते हुए) हाय ! तू बड़ी निठुर है ।
नाम से तू ललिता है । किन्तु अति छोटे से काम के लिए तू इतनी बड़ी
सर्पघट नामक परीक्षा करना चाहती है ? ॥६१॥

श्रीराधा—(प्रणय ईर्ष्या पूर्वक) ललिते ! चुप रहो ॥६२॥

(इतना कहकर नेत्र कटाक्ष करते हुए देखने लगती है),

ललिता—विशाखे ! खोये हुए घनको प्राप्त करने का मैं यत्न कर
रही हूँ फिर श्रीराधा मुझे क्यों फटकार रही है ? । ६३॥

विशाखा—ललिते ! मैं श्रीराधा के मन की बात को जान गई हूँ ॥६४॥

ललिता—बता वह क्या है ? मैं तो मुनूँ ॥६५॥

विशाखा—सखि ! जिसने गगन स्पर्शी अघासुर का सहार कर
दिया अब विषज्वाला उगलते हुए कालियनाग का दमन कर दिया था, जिसके

अकार्षीदगोपेन्द्रद्रुहमजगरं दिव्यपुरुषं
भुजङ्गाचार्येऽस्मिन्किमिव घटते पन्नगघटः ? ॥६६॥३१॥

ललिता—(विहस्य) हला राहि, अप्पणो परिअरहूवाए ण जानासि माहप्पं इमाए रोमाअलोभुअगोए ? वेवख । तह हि । [सखि राधे, आत्मनः परिकररूपाया न जानासि माहात्म्यस्याः रोमावलीभुजग्याः ? पश्य, तथा हि] ॥

अत्रि गरुडस्स सिहामणिमुरगवहूगम्भहारिविहदस्स ।
पहवइ सहि मोहेदुं तुह णअरोमाअलोभुअगो ॥

[अपि गरुडस्य शिखामणिमुरगवधूगम्भहारिविहदस्य ।
प्रभवति सखि मोहयितुं तव नवरोमावलीभुजगी] ॥६७॥३२॥

राधिका—(सप्रणयरोपम्) अइ घिट्टे ललिते ! एत्थ आणावअ मं विडम्बेसि । ता गदुअ बुद्धिआणं गोईएणं विण्णविस्तम् । [अयि घूटे ललिते ! अशानीय मां विडम्बयसि । तद्गत्वा वृद्धानां गोपीनां विज्ञापयिष्यामि ।]
(इति गन्तुमिच्छति) ॥६८॥

ललिता—अइ मुद्धे एणं साधुं चोरं वा जाणिअ जाहि । [अयि मुग्धे, एनं साधुं चोरं वा ज्ञात्वा याहि ।] (इति पटाञ्चलमादधाति) ॥६९॥

स्पर्श से नन्दराज को घास करने वाला अजगर सुदर्शन नामक दिव्य पुरुष मे बदल गया था, उस भुजङ्गाचार्य के लिए यह सपंघटं परीक्षा क्या करेगी ॥

ललिता—(हमंकर) राधे ! तू अपनी परिवर-स्वरूपा रोमावली नागिन की महिमा क्या नहीं जानती है ? देख, मैं तुम्हें बताऊँ :—

जिसकी आवाज से सपं वधूओं के गर्भ पात हो जाते हैं, उस गरुड के शीश पर भी विराजमान होने वाले इन श्रीकृष्ण को तुम्हारी नवीन रोमावली रूप नागिन मोहित कर देने वाली है ॥६७॥३२॥

श्रीराधिका—(प्रणय रोप सहित) अरो दोठ ललिते ! तू मुझे यहाँ लाकर मेरा मजाक उठाना चाहती है । मैं घर चल कर बड़ी-बूढ़ी गोपियों को सब बतादूंगी ॥६८॥

(इतना कहकर जाना चाहती हैं)

ललिता—अरो मुग्धे ! यह माधु है या चोर, यह तो पता लगा कर जाना उचित है ॥६९॥

श्रीकृष्णः—चण्डि ललिते, यद्यतो दुराग्रहाघ्नं विधोन्तासि, ततः करवाणि परीक्षाम् । (इति राधामनुमर्पति) ॥१००॥

ललिता—(विलोक्य) छइल्ल, चिट्टु चिट्टु । विण्ण, वं विण्णाम् । [विदग्ध, तिष्ठ तिष्ठ । विजातं विजासम् ।] (इति संस्कृतेन) ।

प्रारब्धे पुरतः परीक्षणविधौ प्रासानुविद्धस्य ते
खिशोऽयं करपल्लवस्तरसतां कम्पोद्गमः— पुष्टति ।
रोमाञ्चं शिखिपिच्छबूडनिविडं मूर्तिश्च घरो ततो
ज्ञातस्त्वं ननु पश्यतोहरपुरीसाभ्राज्यधीरेयकः ॥१०१॥३३॥

श्रीकृष्णः—(सकुचप्रप्रीभूय) हस्त, धीगौरवं गौरीणां यदहमेव
चौरीकृतोऽस्मि ॥१०२॥

ललिता—छइल्ल, विट्ठिआ अप्पणो मुहेण अङ्गीरिंदम् । [विदग्ध !
विदग्धा आत्मनो मुखेनाङ्गीकृतम्] ॥१०३॥

(यह कहकर श्रीराधा का वस्त्राचल पकड़ लेती है) -

श्रीकृष्ण—अरी प्रचण्डस्वभावा ललिते ! यदि अब भी तू अपने
दुराग्रह को बन्द नहीं करती है तो परीक्षा कर ले ॥१००॥

(इतना कहकर श्रीराधा के निकट जाते हैं)

ललिता—(यह देखकर) हूँ ओ नागर ! ठहर जा । ठहर जा । जान
गई मैं जान गई—

ओ मोर पुच्छधारि ! परीक्षा आरम्भ करने से पहले ही डरके मारे
तुम्हारे करपल्लव पसीना पसीना हो गए हैं और काम्पने लगे हैं । तुम्हारे सारे
शरीर पर ही अतिशय रोमांच हो उठा है । इसलिये यह सब देखकर मैं जान
गई हूँ कि तुम चोरो की नगरी के सम्राट-अधीश्वर हो ॥१०१॥३३॥

श्रीकृष्ण—(संकोच बस झुककर) अहो ! इन गौराङ्गियों के गौरव
हो तो देखो, इन्होंने मुझे चोर ही ठहरा लिया है ॥१०२॥

ललिता—अरे विदग्ध ! बड़े सौभाग्य है, तुमने अपने मुख से यह
स्वीकार किया है ॥१०३॥

श्रीकृष्ण—सखि, सौहृदेनोपदिश्यतां मे श्रेयसं पन्था, येनाह-
मपराधीभवन्न व्रजामि ॥१०४॥

ललिता—(सस्कृतमाश्रित्य)

गतानां राधाया स्तनगिरितटे योगमभितो
विविक्ते मुक्तानां त्वमिह तरलीभूय तरसा ।
विशुद्धानां मध्ये प्रविश शरणार्थी सहृदया
भजन्ते साद्गुण्यादपि पृथुलदोष हि पुरुषम् ॥१०५॥३४॥

श्रीकृष्ण—सखि ! साधूपदिष्टं त्वया । (इति सानन्दमुपसृत्य पाणो
राधा दधाति) ॥१०६॥

१ राधिका—(सगदगदम्) सुन्दर ! अजुत तुझ एदम् । [सुन्दर !
अयुक्त तवे-म् ।] (इति पाणिमाच्छिद्य शाखिना तिरोदधाति) । १०७॥

श्रीकृष्ण—(राधामप्रेक्ष्य सशङ्कम् हन्त । सस्यो ! क्व वा प्रियसखी !

उभे—मोहन ! गिरुखिम भजिस्सम्ह । (इति शाखिपृष्ठमासाद्य)
हला राहि ! जम्मसील कण्ह परिहसिदु-लदो ओसरो । ता कखण सावहित्था

श्रीकृष्ण—सखि ! सहृद-भाव से मुझे मङ्गल-पथ की राय दो जिससे
मैं निरपराधी होकर चला जाऊँ ॥१०४॥

ललिता—कृष्ण ! जो समस्त विशुद्ध स्वभाव वाले मुक्तपुरुष श्रीराधा-
स्तनगिरि के निर्जन प्रदेश में सर्वभाव से योग में लीन होकर अवस्थान
करते हैं, तुम शरणार्थी होकर शीघ्र उन्हीं में जाकर प्रवेश करो, तभी
निर्दोषी होवोगे, क्योंकि सहृदय व्यक्ति सद्गुणों को देखकर अत्यन्त दोष
युक्त पुरुष को भी अङ्गीकार कर लेते हैं ॥१०५॥३४॥

श्रीकृष्ण—ललिते ! तुमने ठीक कहा है ॥१०६॥

(इतना कहकर आनन्द पूर्वक जाकर श्रीराधा का हाथ पकड़ते हैं)

श्रीराधा—(गदगद स्वर में) हे सुन्दर ! यह तुम्हारी अयुक्त बात है ।
(ऐसे कहकर हाथ छुड़ाकर श्रीराधा एक वृक्ष के पीछे छुप जाती है)

श्रीकृष्ण—(श्रीराधा को न देखकर शका सहित) सखियों ! तुम्हारी
प्रिय सखि कहा गई ? ॥१०८॥

ललिता—विशाला—मोहन ! देखकर बताती हैं । (इतना कहकर

होहि । [मोहन ! निरूप्य भणिप्याव । सखि राधे ! नर्मशील कृष्ण परि-
हसितु लब्धोऽवसर, तत्क्षण सावहित्या भव ।] ॥१०६॥

राधिका—(सव्याज भ्रुवो विभुज्य) ललिदे, परिहसितु ति कि
भणसि । ज ईरिस ण साहस वखु मारिसोए जुत्तम् । ता पतियदहिम्ह ।
[ललिते । परिहसितुमिति कि भणसि ? यदीदृश साहस न खलु मादृश्या
युक्तम् । तत्प्रस्थितास्मि ।] ॥११०॥

ललिता—(कृष्णमभ्युपेत्य) चन्द्राणण ! अम्हहिअसही किपि
विष्णविदुक्तामावि भाएदि । [चन्द्रानन ! अस्मत्प्रियसखी किमपि विज्ञाप-
यितुकामापि विभेति ।] ॥१११॥

श्रीकृष्ण—सखि, न खल्वत्र वशवर्तिनि जने भीतिरवकाश लभते ।
तन्निकाममाज्ञापयतु । ॥११२॥

ललिता—(सस्कृतमाधित्य)

चेतस्ताम्यति मे भयोमिभिरल पाणिद्वय कम्पते
कण्ठ सज्जति हन्त घूर्णति शिर स्विद्यन्ति गात्राण्यपि ।

वृक्ष के पीछे जाती हैं) हे राधे ! नर्म-शील श्रीकृष्ण के साथ परिहास करने
का यही अवसर है, इसलिये कुछ देर छिपी रही आबो ॥१०६॥

श्रीराधिका—(छल पूर्वक भ्रुकुटि टेढ़ीकर) ललिते ! परिहास करने
की बात क्यों कहती हो ? इस प्रकार का साहस मुझ जैसी के लिए
उपयुक्त नहीं है, इसलिये मैं तो जा रही हूँ ॥११०॥

ललिता—(श्रीकृष्ण के निकट आकर) हे चन्द्रानन ! हमारी प्रिय
सखी कुछ बात बतलाने में डर रही है ॥१११॥

श्रीकृष्ण—सखि ! वशवर्ती व्यक्ति से डरने का कोई अवकाश नहीं,
होता, अत इच्छानुरूप आज्ञा करें ॥११२॥

ललिता—हे कृष्ण ! अतिशय भय से मेरा चित्त स्तब्ध हो रहा है,
दोनों हाथ काँप रहे हैं, गला रुँधा जाता है, शिर घूम रहा है सारा शरीर
पसीना से तरबतर हो रहा है अत हे गोष्ठेन्द्र ! मैं इस भारी साहस को
करने में समर्थ नहीं हूँ, मैं ने रात्रि काल में आप की जो इतनी दू से

गोष्ठाखण्डल, चण्डसाहसविधौ तेनास्मि - नाह क्षमा -

यद्दूरादभिसारितो निशि, भवानेतन्मम - क्षाम्यतु ॥११३॥३५॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) न जाने नर्मतो घर्मतो वायं गिरां गरिमा ११४

राधिका—(किंचिदाविर्भूय) सहि ! तूर्णं पस्यावेहि णम् । जाव कोवि ण पेक्खदि । [सखि ! तूर्णं प्रस्थापयैनम् । यावत्कोऽपि न पश्यति ॥११५

श्रीकृष्णः—(सखेदमात्मगतम्) अपलप्रेमाणो हि बाला रमण्यः । तत्किमिवासंभाष्यं नाम ? (प्रकाशम्) ॥११६॥

स्वयाहूतः पार्श्वोऽप्रणयनिकुरम्बेण । रभसा-

दसिद्धार्थो राधे भवितुमिह युक्तः कथमहम् ?

धियाकृष्टः कृष्णायसमगिरयस्कान्तशिला-

स्फुट-तामस्पृष्टा भजति- किमदूरे स्थगितताम् ॥११७॥३६॥

ललिता—गोकुलानन्द ! राहिमं कीस उवाल्हेसि ? हां घम्महवमं च्चेम उवाल्हेहि, जो बलु हदासो दोणं निम्भरागुरत्ताण-अन्तरे, पडिबन्धीहोवि । [गोकुलानन्द ! राधिका कस्मादुपालम्भसे ? एन घर्महतकमेवोपालम्भस्व, यः खलु हताशो द्वयोर्निर्मरानुरक्तयोरन्तरे प्रतिबन्धीभवति ।] ॥११८॥

अभिसार-कट्या-है, मेरे इस अपराध को आप क्षमा क्रीजिये ॥११३॥३५॥ --

श्रीकृष्ण—(मन मे) मैं नहीं जान सका हूं, परिहासमयी इस वाणी की गम्भीरता को ॥११४॥

श्रीराधिका—(बुद्ध सामने आकर) ! शीघ्र ही यहां से चलो, कोई हमें देख न ले ॥११५॥

श्रीकृष्ण—(वेद पूर्वक मन मे) युवति रमणियों का प्रेम बड़ा अपल होता है । उनके लिए-कुछ असम्भव नहीं है ॥११६॥

(स्पष्ट कहते हैं) हे राधे ! तुमने अतिशय अनुराग से मुझे अपने पास बुलाया है, फिर मेरी अर्थ सिद्धि न होना कैसे उचित है ? देखो, चुम्बक-मणि अपने शोभन गुण से जब लोहमणि को आवृष्ट करती है, तब वह क्या उसे स्पर्श न करके दूर रह सकती है ? ॥११७॥३६॥

ललिता—गोकुलानन्द ! तुम राधिका का क्यों तिरस्कार कर रहे हो ? उम अमाये घर्म का ही तिरस्कार करो, जो आशा-विरहित घर्म निश्रय ही परस्पर गाढ प्रेम करने वाले दो व्यक्तियों के बीच प्रतिबन्ध बनता है ॥११८॥

श्रीकृष्णः—पश्य पश्य,

सखि ! निर्भरमनुरक्ताः प्रणयिनमनुयान्ति धर्ममपि हित्वा ।

इयमतिरागा प्राचो चुम्बति विधुमिन्द्रनाथापि ॥११६॥३७॥

ललिता—तुम्हाणं उत्तरपउत्तरे को नाम पहवदि । ता इदो विजयेन्तु
सामिपादाओ । [युष्माकमुत्तरप्रत्युत्तरे को नाम प्रभवति । तस्मादितो
विजयन्ता स्वामिपादाः ।] ॥१२०॥

राधिका—(साकूतमनुसृत्य) ललिदे, अप्पणो भुहेण किपि विण्णविअ
णं णिवट्ठावइस्सम् । [ललिते, आत्मनो मुखेन किमपि विज्ञाप्येन निवर्त-
यिष्ये ।] (इति ललितामवेक्ष्य संस्कृतेन) ॥१२१॥

समन्तान्मे कीर्तिमुं खरितसतीमण्डलमुखा

कलङ्केनोन्मुक्तं कुसमविकलश्रीरपि पतिः ।

चलच्चित्पत्नीलीलाजितमदनधन्वोद्धतिरयं

तदस्मिन्नारम्भे हृदयमफलं विफलवधति ॥१२२॥३८॥

श्रीकृष्णः—(राधा निरूप्य सोच्छ्वासमात्मगतम्)

श्रीकृष्ण—देखो, देखो—सखि ! अनन्त प्रेमी जन धर्म को भी त्याग
कर प्रेमास्वाद के पीछे चले जाते हैं, जैसे पूर्वदिशा अग्ने पति इन्द्र के रहते
हुए भी चन्द्र का चुम्बन किया करती है ॥११६॥३७॥

ललिता—तुम्हारी बातों का प्रत्युत्तर देने में कौन समर्थ हो सकता
है ? इसलिए अब आप दोनों पधारो ॥१२०॥

श्रीराधिका—(अभिप्राय सहित निकट जाकर) ललिते ! तुम अपने
वचनों से कुछ निवेदन कर इन्हे रवाना करो ॥१२१॥

(इस प्रकार कह ललिता को देखते हुए) देखो सखि ! समस्त सती-
स्त्रीगण मेरी कीर्ति गान करती रहती हैं, मेरे पितृकुल तथा पतिकुल दोनों
निष्कलङ्क है, और पति भी मेरा सुन्दर है, फिर यह (श्रीकृष्ण) मेरे प्रति
काम धनुष की चञ्चलता को जय करने वाले अपने चञ्चल कटाक्षों को,
निक्षेप कर अपने को वृथा क्यों दुखी कर रहे है ? ॥१२२॥३८॥

श्रीकृष्ण—(श्रीराधा को देखकर निश्वास छोड़ते हुए मन ही मन में)

धावन्त्याः क्षुत्तिशङ्कुलीपरिसरं सङ्गादपाङ्गधिषो
घत्ते हीरककुण्डलं मरकतोत्तंसद्युतिं सुभ्रुवः ।
वागन्तः स्मितभाग्विभाति तदिदं शङ्खे सखीशिक्षया
वैमुह्यं किल कृत्रिमे विलसति कलान्ति मनो मा स्म गाः ॥१२३॥

ललिता—(कृष्णमुखमालोक्य जनान्तिवम्) विसाहे ! इङ्गिदेण लवखेमि
जण्णोव इमिणा अम्हाणं रहस्सम् । [विशाखे ! इङ्गितेन लक्ष्यामि उग्रीतम-
नेनास्माक रहस्यम् ।] ॥१२४॥

विशाखा—अध इम् । [अय किम् ।] २२५॥

श्रीकृष्ण—(सस्मितम्) ललिते, कृतमत्र वञ्चनचातुरीप्रपञ्चेन ।
नहि सूसया प्रसारितास्तन्तवो गन्धसिन्धुरस्य बन्धनाय प्रभवन्ति ॥१२६॥

विशाखा—सहिं राहि ! निष्फलं विलम्बसि । इति किदन्तीकुण
अप्पणो पिअजणम् । [सखि राधे, निष्फल विलम्बसे । इति कृतार्थी-
कुर्वात्मनः प्रियजनम् ।] ॥१२७॥

श्रीकृष्ण—(सानुरागम्)

ओहा ! श्रीराधा के कान पर्यन्त नेल कटाक्षो की शोभा पाकर हीरे
के (स्फेद) कुण्डल मरकत मणि रचित (काले) कर्ण भूषणो की कान्ति
धारण कर रहे हैं, इसके वचनों में भी मुसकरान भंरी है, इसलिये जान
पड़ता है कि सखियों की सिखाई हुई यह प्रतिकूलता दिखा रही है । कुछ भी
हो, अरे मन ! तू अब वृथा दुख मत पा ॥१२३॥३६॥

ललिता—(श्रीकृष्ण मुख को देखकर हाथ की ओट करके) विशाखे !
इनके इशारों से लगता है कि ये हमारे रहस्य को समझ गए हैं ॥१२४॥

विशाखा—वह क्या ? ॥१२५॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) ललिते ! यहा वचन-चातुरी का फैलाना
वृथा है । मछुवा (माहीगीर) का सूत जाल कभी उन्मत्त हाथी को नहीं बाध
सकता है ॥१२६॥

विशाखा—सखि राधे ! व्यर्थ समय गँवा रही हो । शीघ्र ही अपने
प्रेमीजन को कृतार्थ कर ॥१२७॥

कर्णद्वन्द्वमिदं स्तैरिह कुहूकण्ठस्य कुण्ठीकृत
सद्यः कोमलभारतोपरिमलेनोत्लाघय श्लाघया ।
निशङ्कं किल शीतलोकुरु परीरम्भेण रम्भोरु मे
गम्भीरस्मरवह्नितापलहरीपात्राणि गात्राण्यपि ॥१२८॥४०॥

विशाखा—सुन्दर ! ऐसा भगवती, लज्जा, उज्ज्वल राह्याख्येण
उदिष्णा । ता जाव ण चादुवन्धेण समुहोऽदुम समप्येह्वाव भवन्तेण
सोम्यसीअलवृत्तिणा होदव्वम् । [सुन्दर, एषा भगवती लज्जा राधिका-
रूपेणावतीर्णा । तस्माद्यावदेना चादुवन्धेन समुलोक्तवा समर्पयामि, ताव-
द्भवता सोम्यशीतलवृत्तिना भवितव्यम् ।] ॥१२९॥

श्रीकृष्ण—(सादरम्)

अयमत्र निसर्गशीतल सखि । राधाकुचयोरवस्थितिम् ।

नवकाञ्चनकुम्भयोरह स्फुरदिन्दवीरवामवद्भुजे ॥१३०॥४१॥

(इति मन्द मन्द राधामुपसर्पति)

राधिका—(किंचिदपसृत्य) सहि विसाहे । सुदृढ भीदम्भि, ता किति
म उवेष्वसि ? [सखि विशाखे ! सुप्लुभीतास्मि, तत्किमिति मामुपेक्षसे ?]

श्रीकृष्ण—(अनुराग सहित) हे राधे ! कोकिलो के कूह-कूह शब्द से
मेरे दोनों कान कुण्ठित हो गए हैं, अब तुम अपने कोमल वचनों के सौरभ
से मेरे कानों की पीड़ा को दूर करो । मेरे समस्त अङ्ग गम्भीर कन्दर्पानिल
ताप की लपटों से जले जा रहे हैं । इसलिए हे रम्भोरु । तुम निशक होकर
अपने अवलिगन द्वारा इन्हे शीतल करो ॥१३०॥४०॥

विशाखा—हे सुन्दर ! भगवती की लज्जा ही राधिका रूप से अवतीर्ण
हुई है । अतः जब तक मैं वचन रूपी बन्धन से इसको सम्मत कर तुम की
समर्पण नहीं करती हूँ, तब तक तुम सोम्य-शीतल भाव धारण करो ॥१२९॥

श्रीकृष्ण—(आदर सहित) सखि ! मैं तो स्वभाव से ही शीतल हूँ ।
इसलिए राधा के नवकाञ्चन सदृश कुच युगल में कमल की नाल के समान
मैं अवस्थित रहूँगा ॥१३०॥४१॥

(इतना कहकर धीरे-धीरे श्रीराधा के निकट आते हैं)

श्रीराधिका—(थोड़ी दूर होकर) सखि विशाखे ! मैं अतिशय डर
रही हूँ, तुम मेरी क्यों उपेक्षा कर रही हो ? ॥१३१॥

ललिता—राहे ! ऐसा विसाहेति विषखीदा, कथं तुमं पच्छादिअ रविखटुं पहवदु ? ता रक्खणवखमंणं जेव भजेहि जं ऐसा आअडिदशिलीमुहा दोसइ । [राधे, एया विशाखेति विरयोता कथं त्वां प्रच्छाद्य रक्षितुं प्रभवतु ? तद्रक्षणक्षमामेनां वनमालामेव भज, यदेपाकृष्टशिलीमुखा दृश्यते ।] ॥१३२॥

राधिका—(सप्रणयरोपम्) अइ दुम्मुहि ललिते ! सिद्धा च्चेअ तुम्ह मनोरहा, तधावि ॥ एिबुत्तासि । [अयि दुम्मुखि ललिते, सिद्धा एव तव मनोरया । तथापि न निवृत्तासि ।] ॥१३३॥

विशाखा—हला राहि ! सव्वाणं गोडलजणाणं अभयदानसत्ते दोषिखदो कण्हो । ता इदो किति भाएसि । [हला राधे ! सर्वेषां गोकुलजनानां अभयदानसत्ते दोषितः कृष्णः, तस्मादितः किमिति भीतासि ?] ॥१३४॥

श्रीकृष्णः—सुन्दरि राधे ! त्वमेव सुष्ठु बलिष्ठासि, ततः कथं मयास्तव भीतिः ? तथा हि साम्प्रतम्—

अहीनो भ्रूगुच्छ, कुटिलबलनैर्वैपृयति मां
खरस्ते नेप्राप्तो मयि वितनुते ताडनविधिम् ।

ललिता—राधे ! यह विशाखा नाम से प्रसिद्ध है (अर्थात् यह क्षाया रहित है) तब यह किस प्रकार तुम्हें आच्छादित कर तुम्हारी रक्षा कर सकेगी ? इसलिए रक्षा करने में समर्थ इस वनमाली की ही धारण लो । यह भ्रमरगण को आकर्षण करते हुए दीक्ष रहे हैं (पक्षान्तर में—हे राधे ! तुम वनमाली अर्थात् वनसमूह का आश्रय करो । जिसमें भ्रमरगण आकृष्ट हो रहे हैं—वहा तुम्हें कोई देख नहीं पायेगा) ॥१३२॥

श्रीराधिका—(प्रणयरोप सहित) अरी दुम्मुखि ललिते ! तुम्हारे सम्प मनोरय पूर्ण हो गए हैं फिर भी तू निवृत्त क्यों नहीं हो रही है ? ॥१३३॥

विशाखा—हे राधे ! सब गोकुल वासियों को अभयदान देने के लिए यग में श्रीकृष्ण दीक्षित हुए हैं, फिर तू इनमें डर क्यों रही है ? ॥१३४॥

श्रीकृष्ण—सुन्दरि राधे ! तुम तो मुझ से भी अधिक बलवती हो । फिर तुम्हें मुझ से क्या डर है ? देखो न, जिन वानुजों को मैं ने पहले पराजित कर दिया था, वही अब तुम्हारे आश्रित होकर अपना बदला ले रहे हैं । पानियनाग तुम्हारी भ्रूगुच्छ रूप बटाशों द्वारा मुझे सगेद

प्रलम्बः केशान्नो हरति हठवृत्त्या मम बलं ।

भजद्भिस्त्वाभेतैरहमिह जितैरस्मि विजितः ॥१३५॥४२॥

ललिता—कण्ह, कुदो इभाए बलिद्वत्तणं जं अप्पणो धणं तुअत्तो मोआविदुं ण समत्था ? [कृष्ण ! कुत एतस्या बलिष्ठत्व, यदात्मनो धन त्वत्तो मोचयितुं न समर्था ?] ॥१३६॥

विशाखा—(संस्कृतेन)

विधत्ते कंसारिः सखि ! परमहंसालिपु रतिं

मनोहसेन्द्रं ते कथमपि न निर्मोक्षयति तत् ।

बघानाम् सद्यस्त्वमपि भुजवल्लीविलसितः

शठे कः क्षेमार्थो सुमुखि नहि शठ्यं घटयति ? ॥१३७॥४३॥

राधिका—(साम्यसूयम्) पाखे विसाहिए ! तुम बि ललिदाए विसल-
दाए माददेण बूसिदासि । [पापे विशाखे ! त्वमपि ललिताया मादत्तेन
दूषितासि ।] ॥१३८॥

श्रीकृष्णः—सखि ललिते, स्वप्रसादामृते काममदस्तावगाहनया
कथमद्यापि तदस्यौकृतीऽस्मि राधया ? ॥१३९॥

रहा है, धेनुकासुर तुम्हारे नेत्रों के कोने में रहकर मेरी ताड़ना कर रहा है
एव प्रलम्बासुर तुम्हारे केशों में स्थित होकर मेरे बल को हरण कर रहा
है । अतएव हे राधे ! तुम मुझ से अधिक बलवान हो ॥१३५॥४२॥

ललिता—कृष्ण ! यह तुम से अधिक बलवान कैसे है ? क्योंकि
यह तुम से अपना मन रूपी धन छुड़ा लेने में समर्थ नहीं हो रही है ॥१३६॥

विशाखा—ललिते ! श्रीकृष्ण परम हंस कुलों को भी रति देने वाले
हैं, तब तुम्हारे मानस हंस को कैसे न छोड़ेंगे ? तुम इन्हें अब अपनी भूज-
वल्लियों के विनाश द्वारा बाध लो । देखो, हे सखि ! अपना हित चाहने
वाला कौन व्यक्ति है जो शठ के प्रति शठता का व्यवहार नहीं करता ? ॥१३७॥

श्रीराधिका—(असूया सहित) हे पार्ष्णि विशाखे ! तू भी ललिता
रूपी विपलता की बायू पाकर दूषित हो रही है ॥१३८॥

श्रीकृष्ण—सखि ललिते ! अपनी प्रसन्नता रूप अमृत में यथेष्ट रूप से
अवगाहन कराने से अभी तक राधा ने मुझे क्यों वञ्चित कर रखा है ? ॥१३९॥

ललिता—कृष्ण, मुञ्च वयणें चातुरीवित्थारं । न खु चन्दावली
विअ झत्ति वाअमेत्तण्णें सुलहप्पसोदा अम्हपिअसही । [कृष्ण । मुञ्च वचन
चातुरीविस्तार, न खलु चन्दावलीव झटिनि वाड् मासकेण सुलभप्रसादा-
स्मत्प्रियसखी ।] ॥१४०॥

श्रीकृष्ण—कथ सुलभस्ते सखीप्रसाद ? ॥१४१॥

ललिता—सेआसताण्णेण । [सेवासतानेन] ॥१४२॥

श्रीकृष्ण—(सानन्द राधा पश्यन्) ।

किं चन्दनेन कुचयो रचयामि चित्र-
भुक्तसयामि कबरीं तव किं प्रसूनै ।
अङ्गानि सङ्गिमतराङ्गि करेण किं वा
सवाहयाम्यतनुखेदकरम्बितानि ॥१४३॥१४४॥

राधिका—(सलीलमपक्रम्य साङ्गुलितुर्जनम्) पामरि, सुमरिस्सत्ति
ओसरे । ता एसा घर गच्छन्ती जिम्हाण तुम्हाण हत्थादो अप्पाए मोआव
इस्सम् । पामरि ! स्मरिष्यस्यवसरे । तदेपागृह गच्छन्ती जिक्काणा गुप्ताक
हस्तादात्मान मोचयिप्पामि ।] ॥१४४॥

ललिता—कृष्ण ! वचन-चातुरी के विस्तार को छोड़ो, हमारी प्रिय
सखि श्रीराधा की प्रसन्नता चन्दावली की तरह केवल वचन मात्र से सुलभ
नही है। ॥१४०॥

श्रीकृष्ण—तुम्हारी सखी की प्रसन्नता कैसे सुलभ है ? ॥१४१॥

ललिता—निरन्तर सेवा करने से ॥१४२॥

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक श्रीराधा को देखते हुए) हे अनुराग-
तरङ्गिणि राधे ! मैं चन्दन से क्या तुम्हारे कुचयुगल पर चित्रकारी कर
दू ? या फूलों से तुम्हारी घेणी गूथ दू अथवा कन्दर्प पीडित तुम्हारे समस्त
अङ्गों को अपने हाथों से सम्बाहन कर दू ? ॥१४३॥१४४॥

(इतना बहकर श्रीकृष्ण आगे बढ़ते हैं)

श्रीराधिका—लीला प्रकाश पूर्वक अंगुनी से संजन करती हुई
अरी दुष्ट ललिते ! यह अवसर याद रखना । अब घर जाकर हो तुम जैसे
मृटिल व्यक्तियों के हाथों से मैं छुटकारा पाऊंगी । १४४॥

सलिता—(पटाञ्चलमोकृष्य)

सहिं राहि, याहि न घरं, परहस्ते पत्न्यदम्हि निमहसे ।

अइ बहिरे, हिरण्यं देसि कुदो अञ्चले गण्ठिम् ? ॥

[सखि राघे, याहि न गृह परहस्ते प्रत्पितास्मि निजहसे ।

अयि बधिरे, हिरण्यं ददासि वयमञ्चले ग्रन्थिम्] ॥१४५॥१४५॥

राधिका—मुञ्च मुञ्चाञ्चलम्, इदो गदुम अज्जिअ यिण्णविस्सम् ।

[मुञ्च मुञ्चाञ्चलम्, इतो गत्वायां विज्ञापयिष्यामि ।] ॥१४६॥

(नेपथ्ये)

हन्त नत्तिणि सल्लिदे, कहि दे पिअसही राहिआ ? [हन्त नत्ति
ललिते । कुत्र ते प्रियसखी राधिका ?] ॥१४७॥

नानिता—हन्त, ऐसा अज्जिआ मुहरा इध जेध्व आभच्छदि ।

[हन्त, एया आर्या मुखरा इत एव आगच्छति ।] ॥१४८॥

श्रीकृष्ण—(सशङ्कम्) ततो दवीयान् भवितास्मि (इति तथा स्थित) ।

(प्रविश्य)

मुखरा—(पुरो दृष्टि निक्षिप्य साशङ्कमात्मगतम्) ओ बन्धु दूरवो
कोवि नीलिमपुञ्जो मरणअत्यग्गं विग्म्वन्तो विट्ठि मे आभइइ, पूण सों

सलिता—(वस्त्राचल पकड़ कर) सखि राघे ! दूसरे के हाथ मे
अपना मानस-हस सौपकर घर मत जाओ । क्या आश्चर्य है ! सोने को बाहिर
फेंक कर कपडे मे गाठ लगा रही हो ? ॥१४५॥१४५॥

श्रीराधिका—छोड़ दो मेरे आचल को छोड़ दो, यहा से जाकर सब
बात मैं आर्या (मुखरा) को बताऊंगी ॥१४६॥

(पदों के पीछे से) हाय ! अरी नातिनि ललिते ! तुम्हारी प्रिय सखि
राधिका कहा गई है ? ॥१४७॥

सलिता—हाय ! यह तो आर्या मुखरा ही यहा आ रही है ॥१४८॥

श्रीकृष्ण—(शङ्का सहित) तब मैं तो दूर हो जाता हूँ ॥१४९॥

(इस प्रकार कहकर श्रीकृष्ण दूर खड़े हो जाते हैं)

मुखरा—(प्रवेश करते हुए—सामने देखकर शङ्का पूर्वक अपने
मन ही मन मे) यह दूर से नीलिमा पुञ्ज मरकत मणि स्तम्भ की विडे-

एतो कण्हो भवे, जं अगहब्बं किपि सोरम्भं पसप्पइ । [यः खलु दूरतः कोऽपि नीलिमपुञ्जो मरकतस्तम्भं विदम्बयन् दृष्टि मे आकर्षति, तूनं एष कृष्णो भवेत्, यदपूर्वं किमपि सौरभ्यं प्रसपेति ।] (इति कृष्णान्तिकमनुसर्पति) ॥१५०

श्रीकृष्णः—आर्ये ! (इत्यर्घोक्ते) ॥१५१॥

मुखरा—(सकपटाक्रोशम्) को बहुत अज्जे अज्जेति खुलखुलाएदि ? [कः खल्वार्ये आर्येत खुलखुलायते ?] ॥१५२॥

श्रीकृष्णः—आर्ये मुखरे ! सुखं वधसे ? ॥१५३॥

मुखरा—मोहन जाव तुह वंसिआए मुभत्ताए ण सुवुत्तां, ताव कुवो अम्हाए सुहम् ? [मोहन ! यावत्तव वंशिकाया मूकत्वं न सवृत्ता तावत्कुतो ऽस्माकं सुखम् ?] ॥१५४॥

श्रीकृष्णः—(सस्मितम्) आर्ये ! किं तेऽपराधमिति वंशी ? ॥१५५॥

मुखरा—पूच्छ इमाओ सध्वगोउलवाल्लिआओ जाओ कण्णसीमं पविसत्तम्मि वंसिआफुवकारारम्भे बारंवारं निवारिज्जन्तीओ वि वणे धावन्ति । [पूच्छ इमाः सर्वगोकुलवाल्लिका, याः कण्णसीमा प्रविशते वंशिका-फूत्कारारम्भे धारवारं निवार्यमाणा अपि वने धावन्ति ।] ॥१५६॥

म्बमा करते हुए कौन मेरी दृष्टि को आकर्षण कर रहा है ? निश्चय यह श्रीकृष्ण ही होगा, क्योंकि यहां अपूर्व सौरभ फैल रही है । (इतना-कहकर श्रीकृष्ण के निकट आती है) ॥१५०॥

श्रीकृष्ण—हे आर्ये ! (इतना आघा वाक्य बोझने पर) ॥१५१॥

मुखरा—(कपट-क्रोध सहित) कौन है आर्य, आर्ये' कहकर खुद-खुद कर रहा है ? ॥१५२॥

श्रीकृष्ण—आर्ये मुखरे ! सुख पूर्वक हो न ? ॥१५३॥

मुखरा—मोहन ! जब तक तुम्हारी वंशी मोन नहीं लेती है तब तक हमारा सुख कहा ? ॥१५४॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) आर्ये ! वंशी ने तुम्हारा क्या अपराध किया है ? ॥१५५॥

मुखरा—यह बात तू इन समस्त गोकुल बालिकाओ से पूछ, कण्छिद्रों में वंशी की आवाज पहुंचते ही बारंवार निवारण करने पर भी ये वन की ओर भाग खड़ी होती हैं ॥१५६॥

श्रीकृष्णः—(विहस्य) मुखरे ! सत्यं यथार्यनामासि ॥१५७॥

मुखरा—मोहन ! पदोसे तुज्ज एत्य पवेसो में सङ्काउलं करेदि ।
[मोहन ! प्रदोपे तवात्र प्रवेशो मा शङ्काकुर्ना करोति ।] ॥१५८॥

श्रीकृष्णः—मुखरे ! कृतमत्र शङ्कया, यदद्य पौर्णमास्या मे वर्णितं
'तवात्र चत्वरङ्गे घटक्रमीति काप्यहुना हरिणीति' ॥१५९॥

मुखरा—नागर ! पहावे पेच्छिस्ससि णं, दाणिं साहेहि । [नागर !
प्रभाते प्रेक्षिष्यसे एनामिदानीं साधय ।] ॥१६०॥

श्रीकृष्णः—हस्त, वृद्धे गह्वरविषाणकठोरे ! विश्वदग्धमास्थताम् ।
एषोऽहं वजामि । (इति शाखिनामन्तर्दधाति) ॥१६१॥

मुखरा—ललिदे ! सच्चं गदो कण्हो ? [ललिते, सत्यं गतः कृष्णः ?]

ललिता—अथ इधु । [अथ किम् ।] ॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) घूर्णाकुलेयं जरती, तदत्र तूष्णीमेत्य राधा-
पटाञ्चलमाकर्षयामि । (इति तथा करोति) ॥१६४॥

श्रीकृष्ण—(हस कर) मुखरे ! सच मुच तुम्हारा मुखरा नाम
यथार्य है ॥१५७॥

मुखरा—मोहन ! संध्या के समय तुम्हारा यहा आना मुझे शङ्का
पैदा कर रहा है ॥१५८॥

श्रीकृष्ण—मुखरे ! तुम्हारी शङ्का वृथा है, मुझे आज पौर्णमासी ने
बताया कि तुम्हारे आज्ञान मे एक अनिवर्चनीय हरिणी भ्रमण कर रही
है ॥१५९॥

मुखरा—नागर ! प्रभात मे आकर उसे देखना, अब जाओ ॥१६०॥

श्रीकृष्ण—हाय ! ओ मेघशृंग से भी कठोर मुखरे ! तुम विश्वास
करो । लो में जा रहा हूँ, (इतना कहकर वृक्ष की ओट मे हो जाते हैं) ॥१६१॥

मुखरा—ललिते ! क्या कृष्ण सचमुच चला गया है ? ॥१६२॥

ललिता—और क्या ॥१६३॥

श्रीकृष्ण—(अपने मन मे) यह वृद्धा चक्करा रही है । मैं चुपचाप
जाकर राधा के वस्त्राचल को खिंचूंगा । (यह कह वैसा ही करते हैं) ॥१६४॥

मुखरा—(चक्षुषी विकास्य साक्रोशम्) घिट्टि ललिते ! अगबो एसो दे पीदम्बरो कण्हो, राहोसाडिअञ्चलं आअडुन्तो विअं दीसह, ता कीस तुम रेपदासि म ? [घृष्टे ललिते ! अग्रत एप ते पीताम्बरः कृष्ण, राधाशाटिका-ञ्चलमाकपेन्निव दृश्यते, तत्कस्मात् त्व प्रतारयसि माम् ?] ॥१६५॥

कृष्णः सशङ्कं किञ्चिदपसर्पति)

ललिता—(स्वगतम्) रत्तिअन्धिअं णं धुट्टिअं वड्ढेमिं । [राभ्य-ग्धामेना वृद्धा वञ्चयामि ।] (प्रकाशम् संरम्भमभिनीय सस्कृतेन) ॥१६६॥

मुग्धा शङ्कान्धे जरति कुरपे यामुनतदे

तमालोऽयं चामोकरकसितमूलो निवसति ।

समीरप्रेङ्खोलावतिचेदुसंशांस्त्रामुजतया

वयस्याया येन स्तनवसनमास्फालितमभूत् ॥१६७॥१६८॥

मुखरा—(स्वगतम्) असच्चं ण कंहेईद, ललिता । (प्रकाशम्) वत्से, धुम्माउलम्हि, ता घरं गदुअ बुविस्सम् । [असत्यं न, कथयति ललिता । वत्से ! घूर्णाकुलास्मि, तस्माद्गृह गत्वा स्वप्स्यामि ।] (इति निष्क्रान्ता) ॥१६९॥

विशाखा—हेला राहि ! कण्हस्स ' मुहमण्डलुम्मीलिवं धम्मजल-

मुखरा—(बाख फारते हुए क्रोध सहित) अरी घृष्ट ललिते ! देख सामने मुझे तो पीताम्बर घारी कृष्ण राधा का वस्त्राञ्चल खींचता हुआ सा दीख रहा है, तू मुझे कैसे बहका रही है ? (कि कृष्ण चला गया है) ॥१६५॥

(श्रीकृष्ण कुछ शक्ति होकर दूर चले जाते हैं)

ललिता—(मन में) रात में न देख सकने वाली इस बूढ़ी की वञ्चना करूंगी । (क्रोध में भर कर कहती है) —॥१६६॥

हे अन्धी वृद्धे ! व्यर्थ शका कर रही है । यमुना तट पर यह तमाल वृक्ष खड़ा है, उसके मूल में स्वर्ण वेदिका सुशोभित हो रही है । वायु के वेग से उसकी छायाएँ हिली हैं, जिससे श्रीराधा का वस्त्राञ्चल लिखा है ॥१६७॥

मुखरा—(अपने मन में) ललिता झूठ नहीं बोलती है । (स्पष्ट कहती है) बेटी ! मुझे नींद आ रही है । मैं तो घर जाकर सोती हूँ । (इतना कहकर चली जाती है) ॥१६८॥

विशाखा—हे राधे ! श्रीकृष्ण का मुख मण्डल पसीना से तर-बतर

बिन्दुजाल निभसाद्विमञ्जलेण अवरोहि । [हला राधे । कृष्णस्य मुख-
मण्डलोन्मीलित घर्मेजलबिन्दुजाल निजशाटिकाञ्चलेनापनय ।] ॥१६६॥

राधिका—(सभ्रू भङ्गम्) विसाहे । तुम जेव् अवरोहि, जा खु
आकोमार इमस्ति ध्वदे गहोददिकखासि । [विशाखे, त्वमेवापनय, या
खत्वाकोमारमस्मिन्त्रते गृहीतदीक्षासि ।] ॥१७०॥

विशाखा—राधे । कण्ठस्थिता दे रङ्गणमालिमा भणादि । मा कुप्य,
तुम वि सत्य दिक्खानिहारो कौरिज्जन्तसकल्पासि । [राधे, कण्ठस्थिता ते
रङ्गणमाला भणति । मा कुप्य, त्वमपि तत्र दीक्षाविधाने कार्यमाण-
सकल्पासि ।] ॥१७१॥

श्रीकृष्ण—(रङ्गणमाला दृष्ट्वा सश्लाघम्)

शङ्कुं चिरात्किमपि रङ्गणपुष्पसङ्कु

पुष्पं पुरा परमतीर्थवरे व्यधत् ।

यस्मान्ममाप्यसुलभे मन्दराक्षि साक्षा-

दङ्गीधकार तव वक्षसि सङ्गसौख्यम् ॥१७२॥ ४७॥

राधिका—हला विसाहे । जा खु मह, कण्ठादी बलेण आअडिडअ
णीदा सुए अणग्घा गुञ्जामली सा वाणीं समप्पोअहु । एसा सुवजा अप्पणो
रङ्गणमालिमा गेण्हीअहु । [हला विशाखे । या खलु मम कण्ठतो बलना-

हो रहा है तुम अपनी साडी के आचल से पोछ दो न ॥१६६॥

श्रीराधिका—(भ्रू-भङ्गी सहित) विशाखे । तुम ही पोछ दो न ।
वचपन से तुम ने इस व्रत की दीक्षा ले रखी है ॥१७०॥

विशाखा—राधे । तुम्हारे गले में पड़ी हुई रगणमाला बता रही
है, गुस्सा मत करो । तुम ने भी इस व्रत में दीक्षा लेने का सङ्कल्प ले
रखा है ॥१७१॥

श्रीकृष्ण—(रगण माला को देखकर प्रशंसा करत हुए) हे खञ्जनाक्षि !
मालूम होता है इन सब रगण पुष्पो ने पहले जन्म में किसी प्रधान तीर्थ में
पुण्य उपाजन किया है तभी तो ये आपके वक्षस्थल के सङ्गसुख को प्राप्त
कर रहे हैं, परन्तु मैं उसे प्राप्त नहीं कर सका ॥१७२॥ ४७॥

श्रीराधिका—हे विशाखे । तू बलपूर्वक मेरे गले से जो अमूल्य
गुञ्जामाला उत्तार कर ले गई थी, उसे अब लौटा दे और इस अपनी सूखी

कुप्य नीता त्वयानर्था गुञ्जावली, सेदानी समर्प्यताम् । एषा शुष्का आत्मनो
रङ्गमालिका गृह्यताम् ।] ॥१७३॥

विशाखा—गोउलानन्द ! गुञ्जाहारकिन्हे मह कुप्यदि अप्पणो
पिअसही । [गोकुलानन्द ! गुञ्जाहारकृते मह्य कुप्यति आत्मन प्रियसखी ।]

श्रीकृष्ण—राधे ! सन्निधेहि । तव कण्ठे गुञ्जावलीमादधामि (इत्यु
पसर्पति) ॥१७४॥

ललिता—(सस्मितमात्मगतम्) गुञ्जाहारसमर्पणमिसेण राहिक-
ञ्जुअञ्चल पप्फवदि कण्हो । [गुञ्जाहारसमर्पणमिसेण राधाकञ्चुकाञ्चल
स्पृशति कृष्ण ।] ॥१७५॥

(राधिका सञ्चर विक्षेप परावर्त्तते)

विशाखा—हला राहि ! अ लद्धु उबकण्ठेसि, त कि बधु लब्धासि ?
[हला राधे ! य लब्धुमुत्कण्ठितासि, त कि खलु लब्धासि ?] ॥१७७॥

राधिका—(विम्बाधर सदस्य) चिट्ठे विसाहे ! चिट्ठ चिट्ठ । [घृष्टे
विशाखे ! तिष्ठ तिष्ठ ।] (इति लीलारविन्देन ताडयति) ॥१७८॥

विशाखा—(विहस्य) सभअसज्झिणि ! मा कुप्य । गुञ्जाहार पुच्छेमि ।

रगनमाला को ले ले ॥१७३॥

— विशाखा—गोकुलानन्द ! गुञ्जाहार के लिए मेरी प्रिय सखी मुझ पर
कोप कर रही है ॥१७४॥

श्रीकृष्ण—राधे ! मेरे पास आओ, तुम्हारे गले में गुञ्जाहार पहिनाऊ ।
(इतना कहकर निकट जाते हैं) ॥१७५॥

ललिता—(मुसकरा कर मन में ही) गुञ्जाहार पहराने के बहाने राधा
को अ गिया का स्पर्श करना चाहते हैं श्रीकृष्ण ॥१७६॥

(श्रीराधा भ्रू विक्षेप करते हुए पीछे हट जाती हैं)

विशाखा—हे राधे ! जिसे तू पाने के लिए उत्कण्ठित हो रही थी,
पा लिया उसे क्या ? ॥१७७॥

श्रीराधिका—(अधरा को चबाती हुई) घृष्ट विशाखे ! ठहर जा ठहर
जा ! (इतना कहकर लीला-वमन मारती हैं) ॥१७८॥

विशाखा—(हसकर) अपने आप दया करनेवाली ! मुपित मत हो, मैं

[स्वयमाशङ्किनि । मा कुप्य, गुञ्जाहार पृच्छामि ।] ॥१७६॥

श्रीकृष्ण — क्व तपस्तथा ममास्ते लीलाम्बुजहृतिमवाप्नुया येन ।
मां चञ्चलेन ताडय लोचनकमलाञ्चलेनापि ॥१८०॥१८॥

ललिता—हरिणो समप्यिअ तणुं किञ्चिणासि कथं दरावलोअम्मि ?
दिण्णे चिन्तारअणे ण सबुडम्मि आगहो जुतो ॥

[हरये समर्प्य तनु, कृपणासि कथं दरावलो ?
दत्ते चित्तारने न सपुटे आग्रहो युक्तः ॥] ॥१८१॥४६॥

राधिका—सलिते । एव जप्पन्ती गुरुलोएसु मा वपु इम जण
अवरद्ध करेहि । [ललिते । एव जत्पन्ती गुरुलोवेपु मा खल्विम जनम-
पराद्ध वुरु ।] ॥१८२॥

विशाखा—सहि । कीस सङ्गुसि ? ए भअवदी जेव्व एस्य समाहारो
दववा । [सखि । कस्मात् सङ्गसे ? नूनं भगवत्येवात्र समाधाने दक्षा ।] ॥१८३॥

ललिता—(सहर्षमात्मगतम्) दिट्ठिआ पिअसही हसितापाङ्गतरङ्गेण
कण्हं आलिङ्गदि । [दिट्ठिआ प्रियसखी हसितापाङ्गतरङ्गेण कृष्णमा-
लिङ्गति ।] ॥१८४॥

गुञ्जाहार का पूछ रही हू ॥१७६॥

श्रीकृष्ण—मेरी ऐसी तपस्या कहा जो लीला-कमल की ताड़ना प्राप्त
करू ? हे राधे ! मुझे ही लीला कमल मार दो, नहीं तो नेत्र-कमल के
कटाक्ष से ही ॥१८०॥१८॥

ललिता—सखि । श्रीकृष्ण को शरीर अर्पण कर दे । थोड़ा देखने
में क्यों कृपण हो रही है ? चिन्तारत्न का दान करने सम्पुट में आग्रह
करना उचित नहीं है ॥१८१॥

श्रीराधिका—ललिते । ऐसा कहकर गुरुजनो में मुझ को तू अपराधी
मत ठहराना ॥१८२॥

विशाखा—राधे । तुम शङ्का क्यों करती हो ? इस विषय में
समाधान करने को भगवती पीछेमासी बड़ी चतुर है ॥१८३॥

ललिता—(हर्ष पूर्वक अपने मन में) बड़ा सौभाग्य है कि प्रियसखी
राधा मुसकान युक्त कुटिल कटाक्ष करते हुए श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कर

विशाखा—(संस्कृतेन) ललिते ! पश्य पश्य,

शशो व्योमोत्सङ्गं शशिनमभितः कान्तिलहरी
 पुरो वृन्दारण्यं सुमुखि सहसा कान्तिलहरीम् ।
 हरिवृन्दारण्यं हरिमपि किलेयं तव सखी
 सख प्रेम्णः पुरो निजमुपमयामण्डयदयम् ॥१८५॥१८॥

ललिता—दृष्टी हृष्टी । विसाहे ! देखें ससिकान्तमणिपसूदेहि जल-
 प्ररेहि सूरपूजनवेदीपुरतो किदाहं विलुप्पीकान्ति आलेखनमण्डलाह । ता
 एहि, एणं पुष्पकेदारिकां येम्ह । [हा धिक्, हा विशाखे ! पश्य शशिकान्त-
 मणिप्रसूतैर्जलपूरैः सूर्यपूजनवेदीपुरतः कृतानि विलुप्यन्ते आलेखनमण्डलानि ।
 तदेहि, एन पुष्पकेदारिका नयामः ।] ॥१८६॥

[इत्युभे निष्क्रान्ते]

श्रीकृष्ण.—प्रिये ! नेदानोमपि वाम्पाद्विरामस्ते ? (इत्यञ्चल गृह्णाति)

रही है ॥१८४॥

-विशाखा—ललिते ! देख, देख—

आकाश से चन्द्र ने और चन्द्र को चन्द्रिका ने भूषित किया हुआ है ।
 चन्द्रिका को फिर श्रीवृन्दावन ने, हे सुमुखि ! शोभित कर रखा है ।
 श्रीवृन्दावन श्रीकृष्ण से शोभित है और श्रीकृष्ण तुम्हारी प्रियसखी श्रीराधा
 से शोभित हो रहे हैं । श्रीराधा को प्रेमराशि ने अपनी शोभा से सुमण्डित
 कर दिया है ॥१८५॥१८॥

ललिता—हाय धिक्कार है, धिक्कार है, विशाखे ! देख तो सही
 चन्द्रकान्तमणि से जल प्रवाहित होने से हमने सूर्य पूजा के लिए जो समस्त
 आलेखन व भूषण प्रस्तुत किए थे, विलुप्त हुए जा रहे हैं, इसलिए अभी
 इन्हे लेकर पुण्यवाटिका में चले ॥१८६॥

(इतना कहकर दोनों चली जाती हैं)

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! अब तक भी तुम्हारा वाम्य समाप्त नहीं हुआ
 है ? (इतना कहकर श्रीकृष्ण श्रीराधा का आचल पकड़ते हैं) ॥१८७॥

राधिका—मुञ्चेहि मुञ्चेहि, सहीओ मं आआरेन्ति । [मुञ्च मुञ्च, सख्यो मामाकारयन्ति ।] ॥१८८॥

श्रीकृष्णः—हन्त, कठोरे ! मय्यत्र नाङ्गीकुर्व भङ्गगुरताम् ॥१८९॥

राधिका—(सस्मितम्) देइ सरस्वति ! वन्दिज्जसि जं सस्सं ज्जेव पअडासि । [देवि सरस्वति ! वन्द्यसे, यत्सत्यमेव प्रकटयसि ।] ॥१९०॥

श्रीकृष्णः—(किञ्चिद्विहस्य)

पद्मिन्यास्ते सुमुखि ! परमप्रेमसौरभ्यपूरो
दूरोत्सर्पो मदवधि मुदा कृष्णमृङ्गेण भेजे ।
आकान्तोऽयं तव नवमुखाम्भोजमाध्वीकपान-
प्रत्याशाभिस्तदवधि ह्वयन्तंभ्रमी वम्भमीति ॥१९१॥५१॥

किञ्च-मुक्तानामुपसम्यमेव कुचयोः सातोष्यमालोष्य ते
हत्या संगमहं समस्तसुहृदां कंवक्ष्यमासेदिवान् ।

श्रीराधिका—छोड़ो, छोड़ो, मुझे सखीगुण खुला रही है ॥१८८॥

श्रीकृष्ण—अरी कठोर मेरे साथ तुम कुटिलता मत करो ॥१८९॥

श्रीराधिका—(मुसकरा कर) देवि सरस्वति ! तुझे नमस्कार है, जो तुम ने सत्य को प्रकट किया है ॥१९०॥ (ऊपर श्रीकृष्ण ने कहा था "अरी कठोर मेरे साथ"—कठोर शब्द को मेरे शब्द के साथ जोड़ने से अर्थ होता है, "अरी! मुझ कठोर के साथ"—इसी अर्थ को सक्ष्य कर श्रीराधा जी ने कहा—सरस्वती देवी ने 'तुम कठोर हो'—इस सत्य को प्रकाशित कर दिया है ।)

श्रीकृष्ण—(कुछ मुसकरा कर) हे सुमुखि ! तुम पद्मिनी हो, तुम्हारी दूर देश पर्यन्त फैलने वाली अतिशय सौरभ को जब से कृष्ण-भ्रमर ने पाया है, तब से तुम्हारे मुख कमल की नवीन मकरन्द को पान करने की आशा से व्याकुल होकर गुञ्जार करते हुए इधर-उधर भ्रमण कर रहा है ॥१९१॥

हे राधे ! मुक्ताओं को आपके वक्षस्थल के समीपवर्ती देखकर मैं ने भी उस की प्राप्ति की इच्छा से समस्त सुहृद गणों का त्याग कर एकान्त स्थान को प्राप्त किया है । आपके वक्षस्थल (उरोजद्वय) में तिल माल भी विषमता नहीं है । अतः हे कृशाङ्गि ! तुम उसके निबिड़ अमृत साव रूप

वैषम्यं तिलमप्यनाश्रितवतोः सान्द्रामृतस्यदिभि-
र्मा पूर्णं कुरु तन्वि ! तूर्णमनयोः सायुज्यदानोत्सवैः ॥१६२॥५२॥

(राधिका लज्जते)

श्रीकृष्णः—प्रिये ! पश्य पश्य,

अपां पश्य पुष्टीकरणरसपाक, कुमुदिनी-

कदम्बानामङ्गज्वरहरणशीतोपधिघटः ।

मृणाड्डोऽयं कोकीपरिपदभिचाराध्वरधुरा-

पुरोधाः कालिन्दीपरिमरपरिष्कारमकरोत् ॥१६३॥५३॥

तदेतां वासन्तिककान्तिमण्डलमण्डितमण्डलस्य चन्द्रमसश्चन्द्रिका-
चक्रचुम्बितां विचरावो निकुञ्जचन्द्रशालिकाम् । (इति निष्क्रान्ती) ॥१६४॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीविदग्धमाधवनाटके श्रीराधासङ्गमो नाम ।

तृतीयोऽङ्कः ॥३॥

सायुज्य (सङ्गम) दानोत्सव द्वारा मुझे पूर्ण करो ॥१६२॥

(श्रीराधिका सज्जा प्रकाश करती हैं)

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! देखो, देखो,

समुद्र के पुष्टीकरण का रस परिपाक विशेष, कुमुदिनियों के
अङ्गज्वर को हरण करने वाली शीतल औषधि के कलश सहस्र तथा घण्टी
की समाके अभिचार मंत्र का पुरोहित यह जो चन्द्र है, इसने कालिन्दी तट
प्रदेश को उज्ज्वल कर दिया है ॥१६३॥

—इसलिए हम वासन्त की कान्ति राशि से मण्डित एवं चन्द्र मण्डल
की चन्द्रिका राशि से सुतोमित निकुञ्ज के निमृत् स्थान में विचरण करेंगे
॥१६४॥ (इतना कहकर दोनों चले जाते हैं)

इस प्रकार सब प्रस्थान करते हैं ।

इस प्रकार श्रीराधासङ्गमनाटके संहित श्रीविदग्धमाधव नाटक का

राधासङ्गम नामक

तोसरा अङ्क समाप्त हुआ ॥३॥

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति नान्दीमुखी)

नान्दीमुखी—भणिदम्हि ललिदाए—‘हला नान्दीमुहि ! गोमण्डले गोठं पइठे एण्हि कण्हो तुवरन्तो गोमडुणाहिमुहं हत्थिदो । ता तुमं तत्थ गदुअ सुअलं विण्णवेहि, जघा एसो ओसरे निमवमस्सस्स राहिअं सुमरावेदि’ त्ति । (परिक्रम्य) कघं एत्थ पउमा आअच्छदि ? [भणितास्मि ललितया—‘सखि नान्दीमुखि ! गोमण्डले गोष्ठं प्रविष्टे इदानी कृष्णस्त्वरमाणो गोवर्धनाभिमुख प्रस्थितः । तत्त्वं तत्र गत्वा सुबलं विशापय, यथैषोऽवसरे निजवयस्यस्य राधिका स्मारयति’ इति । कथमत्र पद्या आगच्छति ?] ॥१॥

(प्रविश्य)

पद्या—हला नान्दीमुहि ! कामं कुसलासि ? ता कंवि उवाअं कतेहि

॥ श्रीगौराङ्गविधुर्जयति ॥

चतुर्थ-अंक

[तत्पश्चात् नान्दीमुखी प्रवेश करती है]

नान्दीमुखी—मुझ से ललिता ने कहा है कि हे सखि नान्दीमुखि ! सब गौओं के गोष्ठ में चले जाने पर अब श्रीकृष्ण शीघ्रता से गोवर्धन की ओर चले गए हैं । अतः तू अब वहाँ जाकर सुबल को बता कि वह इस समय अपने मित्र श्रीकृष्ण को श्रीराधिका की याद दिलाए । (धूमकर) पद्या यहाँ किस लिए आ रही है ? ॥१॥

(प्रवेश कर)

पद्या—सखि नान्दीमुखि ! कुशल पूर्वक हो न ? कोई एक ऐसा उपाय

जेण उद्विगांचन्दाबलीं आसासेमि । [सखि नान्दीमुखि ! कामं कुशलासि ? तत्कमप्युपायं कथय, येनोद्विग्नां चन्द्रावलीमाश्रासयामि ।] ॥२॥

नान्दीमुखी—किं ते उद्वेगकालणम् ? [किमस्या उद्वेग कारणम् ?] ।

पद्मा—हला, जाणासि जेत्वं तुमं, जघा पदोसे सत्वं बलु गोकुलं विव्रमेण कण्हो पञ्चहं रत्नोदि । [हला, जानास्येव त्वं, यथा प्रदोपे सर्वं बलु गोकुलं विव्रमेण कृष्णः प्रत्यहं रञ्जयति ।] ॥४॥

नान्दीमुखी—अथ इम् । [अथ किम्] ॥५॥

पद्मा—संपदं दाव एत्थ वविससो गोदुद्धे इमस्स गण्घो वि दुल्लहो । [सांप्रतं तावदत्र दक्षिणो गोष्ठार्धोऽस्य गन्धोऽपि दुर्लभः ।] ॥६॥

नान्दीमुखी—हला, मा दूरोहि । [हला, मा दूरस्व ।] (संस्कृतेन) ।

दृष्टं धिम्बितधातुचित्ररचनं शैल्या ललाटं मया
स्यामाकुन्तसचामरं च विलुठव्यसजोडामरम् ।
गुञ्जाहारलताधर्मञ्जुरधुना भद्राभुजान्तस्तथा
तथ्यं विद्धि स नागरीगुरुरस्रगोवर्धनस्यातिथिः ॥७॥१॥

(तेष्वप्ये)

यथाश्रो, जिससे मैं उद्विग्ना चन्द्रावली को सान्त्वना दे सकूँ ॥२॥

नान्दीमुखी—उसके उद्वेग का क्या कारण है ? ॥३॥

पद्मा—तू जानती तो है कि प्रतिदिन 'सन्ध्या समय धीकृष्ण सारे गोकुल को विलासमय हाव-भावों से अनुरक्त करता है ॥४॥

नान्दीमुखी—वह कैसे ? ॥५॥

पद्मा—अब तो गोकुल की दक्षिण पट्टी में उसकी गन्ध भी दुर्लभ है ।

नान्दीमुखी—दुल्ल मत मानो—मैं ने शैल्या के माथे पर (दृष्ट-सम्बन्धिनी) धातु-चित्र रचना देखी है, स्यामा के चामर सहदा वेशों में (धीकृष्ण की) गुन्दर बनमाना और भद्रा के गले में उनकी आधी गुञ्जामान के चित्त रोग रहे हैं । इसलिए तुम मेरी बात को यथार्थ जानना कि अब ये नागरी-गुरु श्रीकृष्ण गोवर्धन के अतिथि हो रहे हैं ॥७॥

[वेदगृह से कृष्ण की आवाज आती है]

कृत्वा वंशीमखिलजगतीगीतसंगीतभङ्गी-
साङ्गीमावप्रयमवसति सङ्गिर्नो यामपाणौ ।
एष प्रेम्णा व्रजति नयनानन्दनो नन्दसूनु-
मन्दं गोवर्धनशिखरिणः कन्दरामन्दिराय ॥८॥१॥

नान्दीमुखी—पउमे ! तुम इमिणा युत्तन्तेण चन्दाअलिअं सुहावेहि ।
अहं सुअलं अणुसरिस्सम् । [पद्ये ! त्वमनेन वृत्तातेन चन्द्रावली मुखय ।
अहं सुवलमनुसरिष्यामि ।] (इति निष्क्रान्ता) ॥९॥

पद्या—(पुनः पश्यन्ती) एसा करालाए अज्जिआए चित्तं अनुवृत्तंती
वणवेअदा वृद्धा चन्दाअलिअं सच्छलं निवारेदि । [एसा करालाया
आर्यायाश्चित्तमनुवर्तमाना वनदेवता वृन्दा चन्द्रावली सच्छलं निवारयति ।]
(नेपथ्ये)

किं राघवेव दुरन्तमिच्छसि बलादुग्मावमालम्बितुं
मुग्धे मा नय माननीयभरतीवाक्यं बहिर्मा व्रज ।
एष स्मेरयिलोचनाञ्चलरुचा चापत्यमुस्तासय-
न्नायाति व्रजसुन्दरीगणमनोमार्णिक्यहारी हरिः ॥११॥३॥

जो वंशी समस्त जगत् की संगीत तरङ्गों का सर्व प्रथम आधार है,
उसे बाये हाथ पर धारण कर वह नयनानन्द-दायी श्रीनन्दनन्दन प्रेम से
मन्द मन्द चाल से गोवर्धनगिरि के कन्दरा-मन्दिर में जा रहे हैं ॥८॥

नान्दीमुखी—पद्ये ! तू यह समाचार चन्द्रावली को देकर सुखी कर ।
मैं सुबल के पास जाती हूँ । (यह कहकर चली जाती है) ॥९॥

पद्या—(सामने देखती है) यह वन देवी वृन्दा कठोर आर्या (पीन-
मासी) के अमिप्राय अनुसार छल पूर्वक चन्द्रावली को रोक रही है ॥१०॥

[वेशभूषण से आवाज आती है]

हे मुग्धे ! क्या तुम भी राघवा की तरह जबरदस्ती दुरन्त उग्माद
को ग्रहण करना चाहती हो ? 'ऐसा मत करना' । पूजनीया वृद्धा के वचन
सुन । देख, व्रजसुन्दरियों के मन-मार्णिक्य को हरन करने वाला श्रीकृष्ण
मुसकराते हुए, नेत्र कटाक्षों से चञ्चलता का विस्तार करते हुए आ रहा
है, इसलिए तू बाहर मत जा ॥११॥

(प्रविश्य)

चन्द्रावली—(सौत्सुक्यं समन्तादवलोक्य) कथं वृन्दाए अलीअं विअ याहरोअदि. कुदो एत्थ कण्हो ? [कथं वृन्दयालीकमिव व्याहृत्यते । कुतोऽत्र कृष्णः ?] (इति खेदं नाटयति) ॥१२॥

पद्मा—(उपसृत्य संस्कृतेन)

न संतापं स्यान्तद्द्वयसि कथं दावविषमं
घनश्चासेः किंवा मलिनयसि बिम्बाधरमपि ?
वनान्तात्केकाभिः सखि ! शिखरिकले मुखरयन्
सखीस्थल्याः कल्याण्यमजदुपशल्यं यदुपतिः ॥१३॥४॥

चन्द्रावली—(विलोक्य) कथं पिससही पउमा ? (इति गाढमालिङ्ग्य)
हला ! अवि णाम अवखलितं भणिदासि ? [कथं प्रियसखी पद्मा ! हला, अपि
नामास्खलितं भणितासि ?] ॥१४॥

पद्मा—अथ इम् । [अथ किम् ।] ॥१५॥

(ततः प्रविशति सुवलेनानुगम्यमानः कृष्णः)

श्रीकृष्णः—सखे सुवल ! पश्य पश्य,

(प्रवेश कर)

चन्द्रावली—(उत्कण्ठा पूर्वक चारों ओर देखकर) वृन्दा क्या भूँछ
बोलती है ? कहाँ है यहां कृष्ण ? (दुखी होती है) ॥१२॥

पद्मा—(निकट जाकर) सखि ! दावानल सम विषम सन्ताप को तुम
हृदय से क्यों नहीं दूर करती हो ? लम्बे सास ले लेकर क्यों अपने बिम्बाधरों
को मलिन कर रही हो ? श्रीकृष्ण मोरों के केकारब से गोवर्धन घन-प्रदेश
को मुखरित करते करते सखीस्थल (तुम्हारे निवास स्थान) के समीप
आ गए हैं ॥१३॥

चन्द्रावली—(देखकर) कौन ? प्रिय सखी पद्मा ! (गाढ़ आलिङ्गन
करके) क्या तू सच कह रही है ? ॥१४॥

पद्मा—और क्या ? ॥१५॥

(तब सुवल के साथ श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं)

श्रीकृष्ण—मित्र सुवल ! देखो, देखो—

अकसिततास्तरणैरस्तशिरोवीथिभिस्तिरोधनात् ।

अस्फुटतिमिरविजृम्भ. प्रययति तोषं निशारम्भ ॥१६॥१॥

सुबलः—वअस्स ! अज्ज गोदोहणं वि अणवेणिलअ सलानसो विअ किति एत्थ लद्धोसि ? [वयस्य ! अद्य गोदोहनमप्यनपेक्ष्य सलालस इव किमित्यत्र लब्धोऽसि ?] ॥१७॥

श्रीकृष्णः—सखे, मयूरं वर्णयता केनचित्प्रियां चन्द्रावलीं स्मारितोऽस्मि ततस्तद्विलोकनाय लालसेयम् ॥१८॥

सुबल.—केरिसं मोरवण्णम् ? [कीदृशं मयूरवर्णनम् ?] ॥१९॥

श्रीकृष्णः—उन्मदेन पुरतः शिलाण्डिना ताण्डवे पृथुनि मण्डलीकृताम् ।

पश्य निन्दितमहेन्द्रकामकां कृष्णचन्द्रचलचन्द्रकावलीम् ॥२०॥६

सुबलः—तदो आअड्ढणं वंशीकलं उल्लासेहि । [तदाकर्पण वंशीकनमुल्लासय ।] ॥२१॥

(कृष्णः वक्त्रे वेणुं विन्यस्यति)

अस्ताचल के शिखिरो मे क्रमशः छिपते जाने के कारण सूर्य का हलका ताप सन्ध्या के थोड़े थोड़े अन्धेरे को विस्तार करता हुआ सन्तोष प्रदान कर रहा है ॥१६॥

सुबल—कृष्ण ! आज गो-दोहन की उपेक्षा कर लालायित हो रहा कैसे आये हो ? ॥१७॥

श्रीकृष्ण—सुबल ! किसी व्यक्ति ने मयूर का वर्णन कर मुझे मेरी प्रिया चन्द्रावली की याद दिलाई है, इसलिए उसे देखने की इच्छा है ॥१८॥

सुबल—मयूर वर्णन कैसा ? ॥१९॥

श्रीकृष्ण—उसने कहा है—हे कृष्ण चन्द्र ! मयूर उन्मत्त होकर सामने अतिशय नृत्य कर रहे हैं, उनकी इन्द्र धनुष-शोभा को निन्दित करने वाली चञ्चल चन्द्रावली का अवलोकन कर ॥२०॥

सुबल—तब तो आकर्षणकारी वंशी-ध्वनि प्रकाश कर ॥२१॥

(श्रीकृष्ण मुख पर वंशी धरते है)

चन्द्रावली—(निश्चय सधूर्णम्) सम्बदा सुवन्तो वि अस्मदशरी
विअ विम्हावेदि दुम्सुही मुरली । [सर्वदा ध्रूयमाणायश्रुतचरीव विमा-
पयति दुर्मुखी मुरली ।] ॥२२॥

श्रीकृष्णः—सखे सुबल ! अद्य चन्द्रावलीप्रसादे त्वया ममानुकूलेन
भवितव्यम् ॥२३॥

सुबलः—अथ इम् । [अथ किम् ।] ॥२४॥

पद्मा—हला ! वेवळ, एतो वेणुसङ्गाए तुमं सुवरावेदि गोठले-
नृणन्दणो । [हला ! पश्य एष वेणुसंज्ञया त्वां त्वरयति गोकुलेन्द्रनन्दनः ।]

चन्द्रावली—(विलोक्य संस्कृतेन)

सखि मुरलि ! विशालच्छिद्रजालेन पूर्णा

लघुरतिक्रिठिना त्वं ग्रन्थिता भीरसासि ।

तदपि भजसि शम्भुचुम्बनानन्दसान्द्रं

हरिकरपरिरम्भं केन पुष्पोदयेन ? ॥२५॥७॥

श्रीकृष्णः—(पुरो दृष्ट्वा सानन्दम्) सखे ! सेयं मम लीलानन्दोदर-
चन्द्रिका चन्द्रावली । (इति सादरमुपेत्य) प्रिये, ॥२७॥

चन्द्रावली—(सुनकर मोहित होते हुए) इस दुर्मुखी वंशी को मैं
हमेशा सुनती हूँ, फिर भी यह ऐसे विस्मित कर देती है जैसे कभी न
सुनी हो ॥२२॥

श्रीकृष्ण—सखे सुबल ! आज चन्द्रावली को प्रसन्न करने में तुम्हें मेरी
सहायता करनी होगी ॥२३॥

सुबल—बसो नहीं ॥२४॥

पद्मा—ये देख, चन्द्रावलि ! गोकुलेन्द्रनन्दन वंशी ध्वनि के संवेत
से तुम्हें आतुर कर रहा है ॥२५॥

चन्द्रावली—(देखकर) अरी सखि मुरलि ! त्रिदों से भरी हुई है ही
छोटी सी पर अति कठोर, गंठीली तथा निरस है, तो भी न जाने बिना पुष्प
के प्रभाव में तू निरन्तर श्रीकृष्ण के हावों का आतिगमन और उनके अधरी
का शुम्बन-गुम प्राप्त कर रही हो ? ॥२६॥

श्रीकृष्ण—(गामने देस हणं पूर्वक) मित्र ! यह है मेरे नेत्र कमलों
की चान्दनी चन्द्रावली ॥२७॥

चन्द्रस्तव मुखविम्बं चन्द्रा नखराणि कुण्डले चन्द्रो ।

नवचन्द्रस्तु सलाटं सख्यं चन्द्रावली त्वमसि ॥२८॥८॥

(चन्द्रावली सञ्जते)

श्रीकृष्णः—प्रिये ! दुष्टदानवदमनाभिनिवेशात्स्वमुखचन्द्रमप्रेक्षमाणस्य यातयामीभवन्त्योऽपि न यातयामा भवन्ति समामूर्षामिन्यः ॥२८॥

चन्द्रावली—सुन्दर ! भ्रमरस्त विअ णवणवाणुसारिणी वे पइदी कथं चिरासङ्गनीरसासु पडमिणीसु अहिरमडु ? [सुन्दर ! भ्रमरस्येव नवनवानुसारिणी ते प्रकृतिः कथं चिरासङ्गनीरसासु पद्मिनीष्वभिरमताम् ?]

श्रीकृष्णः—प्रिये चन्द्रावलि ! प्रतिपदालोके त्वं सर्वेषां नवनवासि, तदद्य निर्यापय विरहोत्तापं परिष्वङ्गरसेन ॥३१॥

पद्मा—विअसहीविरहेण कुडो तुम्ह तावुप्पसो ? [प्रियसखीविरहेण कुतस्तव तापोत्पत्तिः ?] ॥३१॥

सुबल.—अह ! मा वधु एअं भण । एसो चन्दाअलविरहेण संतप्तो

(निकट जाकर) हे प्रिये ! तुम्हारा मुख मण्डल चन्द्र है, नखश्रेणी चन्द्र हैं, दोनों कुण्डल चन्द्र हैं, तुम्हारा सलाट चन्द्र है, सचमुच तुम चन्द्रावली हो ॥२८॥

(चन्द्रावली शर्मती है)

श्रीकृष्ण—प्रिये ! दुष्ट दानवों को दमन करते करते समस्त रात्रियां बीत गई हैं, परन्तु तुम्हारे मुख चन्द्र को बिना देखे मेरे दुख की रात्रियां नहीं बीती हैं, वैसी ही अनबीती (नई) हो रही है । २९॥

चन्द्रावली—सुन्दर ! तुम्हारा स्वभाव भ्रमर की तरह नित्य नये नये रस को लेने का है, किस लिए तुम चिर-सङ्गिनी नीरस पद्मिनियों के साथ रमण करोगे ? ॥३०॥

श्रीकृष्ण—प्रिये चन्द्रावलि ! (प्रतिपदा तिथि आने पर तुम सबके लिए नित नवीन हो) मैं तो प्रति मिलन में तुम्हें नवीन देखता हूं, आओ ! आज आलिङ्गनरस से विरह ताप को नाश करो ॥३१॥

पद्मा—प्रिय सखी के विरह में तुम्हें कैसे ताप हुआ ? ॥३२॥

सुबल—अरी पद्मा ! ऐसा मत कह । कृष्ण चन्द्रावली के विरह में

सीअलाए जलधाराए कच्छे देहं निखिलविअ सतिहण चऊरो विअ एं जेव
चन्दाअलिअं सब्बदो पेच्छइ चअसस्सो । [अयि ! मा खत्वेवं भण । एण
चन्दावलीविरहेण संतप्तः शीलाया जलधारायाः कच्छे देहं निक्षिप्य सतृष्ण-
श्चकोर इव एनामेव चन्द्रावलीं सर्वतः पश्यति वयस्यः ।] ॥३३॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! श्रूयताम्,

विपिनान्तरे मिलन्ती मधुररसा शीतलस्पर्शा ।

अमृतमयो त्वद्विरहे समञ्जनि मम तापनुत्तमे राधाः॥

(इति ससंभ्रमम्) धारा धारा ॥३४॥६॥

चन्द्रावली—(साम्यसूयम्) गच्छेहि, राहिअं जेव सेवेहि । [गच्छ,
राधामेव सेवस्व ।] ॥३५॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! धारेत्यवदम् ॥३६॥

चन्द्रावली—जावं कथं दोखं वण्णाणं विवरीदत्तणम् ? [जातं कथं
द्वयोर्वर्णयोर्विपरीतत्वम् ?] ॥३७॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! द्वयोर्वर्णयोः कर्णयोर्वा विपरीतत्वमित्यस्मिन्नास्ति
विचारः ॥३८॥

सन्तप्त होकर शीतल जल धारा के निकट स्थित हो तृष्णात्तुर चकोर की
भांति सर्वतो भाव से इसे देखता रहता है ॥३३॥

श्रीकृष्ण—प्रिय ! सुनो—

तुम्हारे विरह में व्याकुल हुए मुझ को वन में मधुर रस शालिनी
शीतल स्पर्शा अमृतमयी राधा मिलकर उस विरह को शान्त करती रहती
है । (इस प्रकार कहकर भीत होकर) 'धारा' 'धारा' (राधा नहीं) ॥३४॥

चन्द्रावली—(ईर्ष्या-रोप युक्त) जाओ ! राधा की ही जाकर सेवा
करो ॥३५॥

श्रीकृष्ण—प्रिये ! मैं ने 'धारा' कहा है । ॥३६॥

चन्द्रावली—दोनों वर्ण उल्टे कैसे हो गए ? ॥३७॥

श्रीकृष्ण—दोनों वर्ण उल्टे हुए या दोनों कानों ने उलटा समझा है,
इस में कोई खास बात नहीं है ॥३८॥

चन्द्रावली—(रोपाकणं मुखमानमय्य) अइ दानशीण्ड ! अलं एदाए ओहित्याए । अज्ज अप्पणो मणहारिणो सुवण्णजुअलस्स विण्णासादो साहु माहुरोपूरिदकण्णमिह किदा । [अयि दानशीण्ड ! अलमेतयावहित्यया । अद्यात्मनो मनोहारिणः सुवर्णयुगलस्य विन्यासात्साधुमाधुरीपूरितकर्णास्मि कृता ।] ॥३६॥

श्रीकृष्णः—

पथार्थेयं त्राणी तव चकितसारङ्गनयने
सुवर्णालंकारो मधुरयति यतो श्रुतिपुगम् ।
मुखेन्दोरग्नतरते बहिरपि सुवर्णच्युतिरियं
मम श्रोत्रद्वन्द्वं नयनपुगलं चाकुलयति ॥४०॥१०॥

पद्मा—हला ! अप्पणो अबिहुं सुमरन्ती मा खिज्जेहि । जुत्ता राहाणु-
रत्तस्स इमस्स राहाणाममयी संकथा । [हला ! आत्मनोऽदृष्टं स्मरन्ती मा
खिद्यस्व । युक्ता राधानुरक्तस्यास्य राधानाममयी संकथा ।] ॥४१॥

चन्द्रावली—(निश्चस्य) सहि पउमे ! एवं खेदम् [सखि पद्मे ! एव
ग्विदम् ।] ॥४२॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! बाढमनाशङ्कनीयमेवेवम् यत्.—

चन्द्रावली—(क्रोध में लाल हुए मुँह को नीचे कर) ओ दानवीर !
अब इस कपट को रहने दो । आज अपने मनोहर सुवर्णमय दोनों कुण्डलों
की सुन्दर मधुरिमा से मेरे कान पारेपूर्ण हुए हैं । (अर्थात् विद्व-लक्षण से
'राधा' ये दोनों सुन्दर वर्ण मेरे कानों को जला रहे हैं) ॥३६॥

श्रीकृष्ण—हे चकित मृगनैन ! सुवर्ण के अलंकार तुम्हारे दोनों कानों
को माधुर्यशाली कर रहे हैं—यह तुम्हारी बात यथार्थ है । तुम्हारे मुखचन्द्र
के अन्दर और बाहर से भी सुवर्ण टपक कर (अर्थात् 'राधा' ये दोनों सुन्दर
वर्ण स्फुरित होकर) मेरे दोनों नेत्यों एवं कानों को बेचैन कर रहे हैं ॥४०॥

पद्मा—सखि ! अपने दुर्भाग्य को स्मरण कर दुःख मत पा । राधा में
अनुरक्त इस श्रीकृष्ण की राधा नाम मय कथा-वार्त्ता उपयुक्त है ॥४१॥

चन्द्रावली—(सांस छोड़कर) सखि पद्मे ! ऐसा ही है ॥४२॥

तस्य षोडशकलस्य षोडशी वल्लभा स्फुरित या नभस्तले ।

राधया सुवदने कथं तथा संगतिर्भुवि ममाद्य संभवेत् ॥४३॥११॥

पद्या—चउस्तट्टिकलासालिणो दे ण खलु सा वि सोलहकलवल्लहा दुल्लहा । [चतुःपट्टिकलासालिनस्ते न खलु सापि षोडशकलवल्लभा दुर्लभा ।]

श्रीकृष्णः—(सप्रश्रयं पद्यामवलोक्य)

चन्द्रावलीवदनपुष्करसङ्गिगण्ड-

चन्द्रायलीकतरतकंकसङ्किताङ्गी ।

शङ्काकुलोऽग्र कलयन्कमलालताक्षिं

शं काकुलोलहृदयः प्रविशामि नाहम् ॥४५॥१२॥

चन्द्रावली—(सव्याजप्रसादम्) देव ! तू खलु गोउलजणजीअण्णदस्स दे सव्यसुहआरिवाणुणं का खलु हृदयुद्धिआ ण सहदि ? ता णिप्फलेण संकोएण मा सावङ्को होहि । [देव, तूनें खलु गोकुलजनजीवनभूतस्य तव सर्वशुभकारिता-गुणं का खलु हतबुद्धिका न सहते? तस्मात्त्रिप्फलेन संकोचेन मा सातङ्को भव ।]

श्रीकृष्ण—प्रिये ! ऐसी शंका विल्कुल करने योग्य नहीं है, क्योंकि सोलह-कला पूर्ण चन्द्र की राधानाम की सोलह प्रेयसियां आकाश में ही प्रकाशित होती हैं । पृथ्वी मण्डल पर उस राधा के साथ, हे सुवदने ! आज मेरा मिलन कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥४३॥११॥

पद्या—तुम तो चौसठ कला पूर्ण हो, तुम्हारे लिए सोलह कला पूर्ण चन्द्र की प्रेयसी प्राप्त करना कोई दुर्लभ नहीं है ॥४४॥

श्रीकृष्ण—(विनय पूर्वक पद्या को देखकर) हे प्रफुलित कमलनेत्रे पद्मे ! चन्द्रावली के मुख रूप आकाश में उदित निराधार तर्क से कलङ्कित वपोल रूप दो चन्द्रमाओं को देखकर मेरा हृदय शङ्का से आतुर व दीन-वाणी में चञ्चल हो रहा है । अतः कैसे भी कल्याण प्राप्त नहीं कर सक्ता ।

चन्द्रावली—(वपट पूर्ण प्रमदता सहित) हे देव ! तुम समस्त गोकुल-वातियों के जीवन स्वरूप हो । तुम्हारे सर्वशुभकारिता गुण को कौन हत-बुद्धि स्त्री गहन नहीं करती है ? इसलिये धैर्य संकोच में पड़कर शङ्का मत करो ॥४५॥

श्रीकृष्ण.—(स्वगतम्) गरिष्ठामपि मग्यमुद्रा धीरेवं मुखमाधुर्येण निहन्ते ! (प्रकाशम्) प्रिये ! कृतमनेन गौरवविषोदगारेण, रोषोक्तिमाध्वीकमेव धर वरिष्ठम् ॥४७॥

चन्द्रावली—गोउलाणन्द । तुम्ह पुरदो मुहं दंसेदुं ण पहवामि । जं पगधमं वाहरन्ती अवरद्धमि ता घरं गमिस्सम् । [गोकुलानन्द ! तव पुरतो मुख दर्शयितु न प्रभवामि । यत्प्रगल्भ व्याहरन्त्यपराद्धास्मि, तद्गृह गमिष्यामि ।] ॥४८॥

श्रीकृष्ण —(सानुनयम्) प्रिये ! प्रसौद प्रसौद, बडोऽयमञ्जलि ॥४९॥

चन्द्रावली—सुहअ । उज्जुअ वाहरन्ती कोस मा अलीअं सकसि ? ता अणुजालोहि मं भदआलीदंसणस्स । [सुभग ! ऋजुक व्याहरन्ती कस्मान्मामलीक शङ्कसे ? तदनुजानीहि मा भद्रकालीदर्शनाय ।] (इति पद्मया सह निष्क्रान्ता) ॥५०॥

श्रीकृष्णः—सखे । महानुभावामेता मक्षितमहाकाशचन्द्रावलीं चन्द्रावलीमपि बलीयस्तमः चन्द्रलीभिरवस्कन्बितामालोक्य निरलोकोऽस्मि ॥५१॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) यह चन्द्रावली धीरा (नायिका) है, अतएव मुख माधुरी से भारी क्रोध-मुद्रा को भी छिपाये हुए है । (स्पष्ट कहते हैं) प्रिये ! गौरव विष को उगलना व्यर्थ है । इससे क्रोध युक्त वचन ही अच्छे हैं ॥४७॥

चन्द्रावली—गोकुलानन्द । बहुत वाचालता कर मैं ने तुम्हारा अपराध किया है, इसलिए तुम्हें मुहं नहीं दिखा सकती हूँ । मैं घर जा रही हूँ ॥४८॥

श्रीकृष्ण—(विनय पूर्वक) हे प्रिये ! प्रसन्न होवो, प्रसन्न होवो, देखो, हाथ जोड़ रहा हूँ ॥४९॥

चन्द्रावली—हे सुन्दर ! मैंने तो सहज बात बही है, फिर तुम मेरे प्रति खाहमखाह क्यों शङ्का कर रहे हो ? अतः मुझे भद्रकाली के दर्शन हित जाने की अनुमति दो । (इतना कहकर पद्मा के साथ चली जाती है) ॥५०॥

श्रीकृष्ण—सखे ! चन्द्र रूपिणी चन्द्रावली को क्रोध रूप राहू ने आच्छादन कर लिया है । इसलिए मेरे चित्त आकाश में वह नहीं दीखती है और मुझे अधकार दीख रहा है ॥५१॥

सुवलः—पिअववस्स ! किति एवं भण्णासि ? सा वहु अदक्खिणा ण विट्ठ । [प्रियवयस्य ! किमित्येवं भणसि ? सा खल्वदक्षिणा न दृष्टा ।] ॥५२॥

श्रीकृष्णः—सखे, बाढ़ं दुरूहां महीयसीनां प्रकृतिः । तदिदानीम्—

न्यविशत नयनान्ते कापि सारत्थनिष्ठा

वचसि च विनयेन स्तोत्रं भङ्गी न्यवात्सीत् ।

अजनि च मयि भुवान्संभ्रमस्तेन तस्या

व्यवृणुत हृदि मन्युं सुष्ठु दाक्षिण्यमेव ॥५३॥१३॥

र वेहि मनोहारिणि ! तस्मिन्केशरकुञ्जे निविश्य चन्द्रावलीसंगमो-
पायमङ्गीकरोमि । (इति परिक्रम्य) सखे ! सेर्यं वकुसावलिमञ्जुला निकुञ्ज-
धीयी । परम पश्य, ॥५४॥

स्फुरति सरो दक्षिणतः सख्ये वापी समन्ततः कुल्याः ।

इति केशराटवीयं प्रमदं नीराधिका कुरुते ॥५५॥१४॥

सुवलः—(स्वगतम् ।) लड्डो भए ओसरो । (प्रकाशम् ।) वअस्स !

सुवल—प्रिये मित्र ! ऐसा क्यों कहते हो ? मुझे तो वह अदक्षिणा
(वाम भावयुक्त या प्रतिकूल) नहीं दीखती है ॥५२॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! महत् पुरुषों का स्वभाव अति दुर्ज्ञेय होता है,
वह इस प्रकार कि—

चन्द्रावली के नेत्रों में कोई सरलता-भाव आया था, उसकी विनय द्वारा
सब वाक्य स्तोत्र भङ्गी धारण कर रहे थे, मुझ में अतिशय भय-जात
त्वर उत्पन्न होने से उसके हृदय में जो दाक्षिण्य भाव दीखता था, वह अब
क्रोध रूप में अनुभव हो रहा है ॥५३॥१३॥

आओ, उस मनोहर केशर कुञ्ज में प्रवेश कर चन्द्रावली के सङ्गम
के लिए उपाय करता हूँ । (यह कह घूमकर) हे सखे ! देखो, देखो, उस
वकुसुमधेणी से सुशोभित निकुञ्ज-धीयी को ॥५४॥

इसकी दक्षिण दिशा में तो सरोवर है, वाम दिशा में वापी (वावली)
शोर सब दिशाओं में जल प्रणाली शोभित हो रही है । इसलिए यह
नीराधिका—(अतिशय जलमयी) केशराटवी आनन्द प्रदान कर रही है ॥५५॥

सुवल—(नीराधिका शब्द सुनकर सुवल की श्रीराधिका का

सराहिआ खेय तुह पमद कुरइ, किं त्ति नीराहिआ त्ति भणामि ? [लब्धो मयावसर । वयस्य । सराधिकैव तव प्रमद करोति, विमिति नीराधिकेति भणसि ?] ॥१६॥

श्रीकृष्ण — (मुत्तमालिङ्ग्य) सखे । सत्यं ब्रवीषि । तदद्य राधिका पथेमां केशरनिकुञ्जस्तद्धमोमलकरोति, तथा मद्दिगरा सदृश्यता ललिता ॥१७

मुच्यते — ज आणवेदि पिआवअस्सो । [यदाज्ञापयति प्रियं व्यस्य ।]
(इति निष्क्रान्तः) ॥१८॥

(ततः प्रविशति पद्मा मधुमङ्गलम् ।)

मधुमङ्गल — पउमे । सुद मए अज्झ वअस्सेण चाटुआरिणा अणुणीदा यि चन्दाअली ण पसण्णा । [पद्ये । श्रुतं मयाअद्य, वयस्येन चाटुकारिणा अनुनीतापि चन्द्रावली न प्रसन्ना ।] ॥१९॥

पद्मा — अद्य इ । [अद्य किम् ।] ॥२०॥

मधुमङ्गल — णूणे वअस्सो वि विसण्ण वट्टइ ता जुआ वीण सगमे अम्हाण सहआरिदा । [नूनं वयस्योऽपि विपण्णो वर्तते, तद्युक्ता द्वयोः सगमेऽ

स्मरण हो आया — अपने मन में कहने लगा) — मुझे मौका मिल गया है । (स्पष्ट बोला) मित्र । राधिका ही तो तुम्हें आनन्दित करती है । तुम कैसे नीराधिका को सुख प्रदान करने वाली कह रहे हो अर्थात् राधिका के बिना कैसे आनन्द अनुभव कर रहे हो ? ॥१६॥

श्रीकृष्ण — (सुवल को आलिङ्गन करते हुए) हे सखे । तुम सच कहते हो । आज राधिका जैसे आकर इस केशर निकुञ्ज को शोभित करें — ऐसा मेरा सन्देशा ललिता को पहुँचा दे ॥१७॥

सुवल — बहुत अच्छा (कहकर चला जाता है) ॥१८॥

[तव पद्मा तथा मधुमङ्गल प्रवेश करते हैं]

मधुमङ्गल — हे पद्य । मैंने सुना है, आज कृष्ण के अनेक अनुनय विनय करने पर भी चन्द्रावली प्रसन्न नहीं हुई ॥१९॥

पद्मा — ऐसा ही है ॥२०॥

मधुमङ्गल — निश्चय ही कृष्ण दुखी हो रहा है । इन दोनों के

स्माकं सहकारिता ।] ॥६१॥

पद्मा—अज्ञ ! अदो जेव तुमं मए अणुसरिदोसि : [आर्य ! अत एव त्वं मयानुसृतोऽसि ।] ॥६२॥

मधुमङ्गलः—(पुरो दृष्ट्वा) पठमे ! पेक्ख एसो पिअवअस्सो छप्पदमे-
त्तसहाओ केसरकुडूये किपि मन्तेदि । [पद्ये ! पश्यैष प्रियवयस्यः
पद्पदमात्रसहायः केसरकुञ्जे किमपि मन्त्रयते ।] ॥६३॥

पद्मा—अज्ज, लदाजालेहि अन्तरिदा भद्विअ सुणंम्ह, कि एसो
भणादि सि । [आर्य ! लताजालैरन्तरितौ भूत्वा शृगुवः किमेव भणतीति ।]

(इति तथा स्थितौ ।)

श्रीकृष्णः—(राधा स्मरन् सौत्कण्ठम्)

प्रसरति यद्भ्रूचापे इलयज्यमकरोत्स्मरो धनुः पौत्पम् ।

मधुरिममणिमञ्जूया सूपार्य मे प्रिया सास्तु ॥६५॥१५॥

मधुमङ्गलः—पठमे ! एसो उत्कण्ठाए तुज्झ पिअसहाँ जेव वण्णेदि ।
ता एहि, तुरिअं गहुअ एं तमासेम्ह । [पद्ये ! एष उत्कण्ठया तव प्रियसखी-
मेव वर्णयति । तदेहि, स्वरित गत्वेना समानयावः ।] ॥६६॥

मिलन मे हमे सहायता करनी चाहिये ॥६१॥

पद्मा—आर्य ! इसलिए ही मैं तुम्हारे पास आई थी ॥६२॥

मधुमङ्गल—(सामने देखकर) पद्ये ! देख, प्रिय कृष्ण केशर कुञ्ज
मे भंवरो से ही केवल कुछ मन्त्रणा कर रहा है ॥६३॥

पद्मा—आर्य ! लता-जाल में छिपकर सुनो यह क्या कह रहे हैं ॥६४॥

(मधुमङ्गल वैसे ही करता है)

श्रीकृष्ण—(श्रीराधा का स्मरण करते हुए उत्कण्ठा सहित) जिसकी
भृकुटि कमान को देखकर कामदेव अपने पुष्प धनुष को ढीला छोड़ देता है,
रह माधुर्य-शानिनी मणि-पेटिका स्वरूप (राधिका) मुझे विभूषित करें ॥६५॥

मधुमङ्गल—पद्ये ! यह उत्कण्ठा सहित तुमारी प्रिय सखी चन्द्रावली
के गुण गारहे हैं, अतः तू जल्दी जाकर चन्द्रावली को ले आ ॥६६॥

पद्मा—अज्ज ! सुट्ठु णिट्ठिद्धिद सुणम्ह, ज बहुवल्लहो एसो । [आय मुण्डु निष्ठिद्धित श्रुत्तुव, यद्वहुवल्लभ एव ।] ॥६५॥

श्रीकृष्ण—(पुन सौत्सुवयम्)

सा मुपमुपमानिर्जित-राकाचन्द्रा वलीलसन्मध्या ।

(इत्यर्घोक्ते) ॥६६॥

मधुमङ्गल—पद्मे ! अल इमादो परेण सुवेण तूष्णं गच्छम्ह ।

[पद्मे ! अलमित परेण श्रुतेन तूर्णं गच्छाव ।] ॥६६॥

पद्मा—जुत्तं वधेसि । [युक्तं कथयसि ।] ॥७०॥

(इत्युभौ जवेन दूर परिक्रामत)

श्रीकृष्ण—सुहृदा घास्यति राधा मदुरसि रसिका किमात्मानम् ? ॥७१॥१६

पद्मा—अज्ज ! एव्व भणामि, माणिणीए पिअसहीए सअ समाअमेण लाहय होदि ता पराधट्ठिअ कप्पह विण्णवेहि । [आर्य ! एव भणामि, मानिन्या प्रियसत्या स्वयं समागमेन साधव भवति, तत्परावृत्त्य कृष्णं विज्ञापय ।] ॥७२॥

पद्मा—आर्य ! अच्छी प्रकार सुनकर देख, किसका गुण गारहे हैं, क्योंकि यह बहु वल्लभ है ॥६५॥

श्रीकृष्ण—(पुन उत्कण्ठा सहित) आहा ! वह अपनी मुख सुपमा से पूर्णिमा के चन्द्र को भी पराजित करने वाली है एव उसका कटिदेश त्रिवली से सुशोभित है । (अभी अधूरा वाक्य ही बोल पाये थे) ॥६६॥

मधुमङ्गल—पद्म ! इसके बाद और कुछ सुनने का प्रयोजन नहीं है, आओ, शीघ्र चलते हैं ॥६६॥

पद्मा—ठीक कहते हो ॥७०॥

(इतना कहकर दोनों दूर तक शीघ्रता से चले जाते हैं)

श्रीकृष्ण—क्या वह रसिका राधा फिर कभी अपने को मेरे वक्षस्थल पर स्थापन करेगी ? ॥७१॥१६॥

पद्मा—आर्य ! मैं तो कहती हूँ, माननी चन्द्रावली के अपने आप आने पर उसका निरादर होगा । इसलिए लौटकर जा और श्रीकृष्ण को सूचित कर ॥७२॥

मधुमङ्गल — सोहस्यं मन्तेसि । (इति कृष्णान्तिमासाद्य) पिअव-
अस्स, पच्छण्णेण भविअ सव्वं दे आअण्णिदं मए उक्कण्ठावअणं; ता
आणवेहि, तं जेव्व तुज्झ वल्लहं तुरिदं समासेमि । [शोभन मन्त्रयसि ।
प्रियवयस्य, प्रच्छन्नेन भूत्वा सर्वं ते आकर्णित मयोत्कण्ठावचनम्, तदाज्ञापय ।
तामेव तव बल्लभा त्वरित समानयामि ।] ॥७३॥

श्रीकृष्ण — (संस्थापमालिङ्ग्य) सखे ! मदनग्रहेण शीघ्रमानय ॥७४॥

(मधुमङ्गल परिक्रम्य पद्मया सह निष्क्रान्त)

श्रीकृष्ण — अहो ! परमोत्कण्ठानां प्रेम्णामुत्कण्ठाकारित्वम् ।

भ्रमरेऽपि गुञ्जति निकुञ्जकोटरे

मनुते मनस्तु मणिनूपुरध्वनिम् ।

अनिलेन चञ्चति तृणाश्रितेऽपि तां

पुरतः प्रियामुपगता विशङ्कते ॥७५॥१७॥

(ततः प्रविशति पद्मामधुमङ्गलाम्ब्या सगता चन्द्रावली)

चन्द्रावली—हला पउमे ! कि एसो वउलकुडुञ्जो दीसइ ? । [हला
पये ! किमेप वकुलकुञ्जो दइयते ? ।] ॥७६॥

मधुमङ्गल—सुन्दर सलाह दी है । (यह कहकर वह श्रीकृष्ण के पास
आता है) प्रिये सखे ! मैंने छिपकर तुम्हारे सब उत्कण्ठायुक्त वचन सुने हैं,
इसलिए आज्ञा दो, उस तुम्हारी प्रिय बल्लभा (राधा) को शीघ्र ले आता
हूँ ॥७३॥

श्रीकृष्ण—(प्रसन्न करते हुए आलिङ्गन करके) मित्र ! मेरे ऊपर
अनुग्रह कर उसे शीघ्र ले आओ ॥७४॥

(मधुमङ्गल लौटकर पद्मा के पास चला जाता है)

श्रीकृष्ण—अहो ! परम उत्कट प्रेमियों की कैसी प्रेम उत्कण्ठा-
कारिता है ? कैसा आश्रय हैं ! निकुञ्ज-कुटीर में भ्रमर गुञ्जार करे तो
लगता है प्रिया के नूपुरों की ध्वनि आरही है । वायु से तृण आदि हिलते हैं
तो हृदय में आशंका होती है कि प्रिया सामने आ गई है ॥७५॥१७॥

[तब पद्मा और मधुमङ्गल के साथ चन्द्रावली प्रवेश करती है]

चन्द्रावली—सखि पये ! यही वकुल कुञ्ज है क्या जो सामने दीख रही है ?

पद्या—अथ इम् । ता तूष्णं एहि । [अथ किम् । तत्तूष्णमेहि ।]
(इति परिक्रामति) ॥७७॥

श्रीकृष्णः—(नूपुरध्वनिमकर्ण्यं) हन्त, मुरिशो भ्रामितोऽस्मि भ्रमरी-
शङ्कारैः, तदसं वृथा प्रत्युद्गमसंभ्रमेण । (इत्युद्वेगं नाटयन्) ।

पुरः फलाशामाशायां जनः कामं विडम्ब्यते ।

आसन्ने हि घनारस्मे द्विगुणं रोति चातकः ॥७८॥१८॥

(पुनस्तर्कणो भवन्) कथमभ्यर्णं भूषणतिष्ठितं धूयते ? (इत्युद्ग्रीविकां
दत्वा ससंभ्रमम्) सत्यमसौ मिलिता मे प्रेयसी । (इति तरसा चन्द्रावली-
पार्श्वमागत्य) ।

हृद्भृङ्गजङ्गमसत्ता, मङ्गलभा राधिका मयोन्मुदिता ॥७९॥
(इत्यर्धोक्ते)

(चन्द्रावली सेप्यं मधुमङ्गलमालोकते)

मधुमङ्गलः—सहि चन्द्रावलि ! मङ्गलभारेण अधिभासि ति पिअ

पद्या—हाँ, यह है, जल्दी चली आओ । (चली आती है) ॥७७॥

श्रीकृष्ण—(नूपुरों की आवाज सुनकर) हाय ! भ्रमरों की झंकारों
से बहुत बार मैं भ्रम में पड़ा हूँ । अब उठकर सत्कार करने में जल्दवाजी
करने का कोई प्रयोजन नहीं है । (यह कहकर उद्वेग प्रकाश करते हैं) —

वादल को आया देखकर जैसे चातक दुगना शब्द करने लगता है, उसी
प्रकार आशा का फल उपस्थित होने पर लोग अत्यन्त आग्रह प्रकाश करने
लगते हैं ॥७८॥१८॥

(फिर कानों को खड़ाकर) यह क्या सामने ही भूषणों की ध्वनि
सुनाई दे रही है ! (यह कहकर गर्दन उठाकर उत्साह पूर्वक) सचमुच मेरी
प्रिया ही आरही है । (यह कहकर शीघ्रता से चन्द्रावली के पास आकर)
अरे हृद-मधुकर ! गति शालिनी मङ्गलभा (मङ्गलभा) राधिका लता मुझ
पर प्रसन्न होगई है ॥७९॥ (यह आधा वाक्य कहने पर)

[चन्द्रावली ईर्ष्या सहित मधुमङ्गल की तरफ देखती है]

मधुमङ्गल—सखि चन्द्रावलि ! मङ्गलभाराधिका (तुम मङ्गलभार

वअस्यो तुभं जेव वण्णेदि । [सखि चन्द्रावलि ! मङ्गलभारेणाधिकासीति प्रियवयस्यस्त्वामेव वर्णयति ।] ॥८०॥

श्रीकृष्णः—(सर्वैलक्ष्यमात्मगतम्) हन्त, कथमनेन चन्द्रावलिरेवाभितारिता । भवतु, बटुनोक्तमेव निर्वाहयामि । (प्रकाशम्) ।

सुहृदनुरागवितन्त्रा चन्द्रावलिरञ्जसालम्भि ॥८१॥१६॥

(चन्द्रावली सलज्जं कृष्णकण्ठे वैजयन्ती विन्यस्यति)

श्रीकृष्णः—(सानन्दम्)

एकं प्रयाति परिचर्यं चकोरराजी

चन्द्रं प्रिये निजमनोरथपूरपूतिम् ।

चन्द्रावली किमु ममाक्षिचकोरयोस्त्वं

प्रीतिं द्वयोरपि न घास्यसि सेध्यमाना ॥८२॥१२०॥

मधुमङ्गल—(सगर्वम्) भो वयस्स ! दिट्ठा तुए मज्झ विल-
खणा विअखणदा ? जो वखु अणन्तगुणसालिणा वि तुए मोआइडुं ण
पारिदो सो पिअसहीए भाणगण्ठी णअगुणघारिणा मए मोआविदो ।
[भो वयस्य ! दृष्टा त्वया भगविलक्षणा विचक्षणता ? यः खल्वनन्तगुण-

से श्रेष्ठा होरही हो) श्रीकृष्ण तुम्हारी ऐसी स्तुति कर रहे हैं ॥८०॥

श्रीकृष्ण—(विस्मित होकर मन ही मन में) ओहो ! मधुमङ्गल क्या चन्द्रावली को यहाँ ले आया है ? ठीक है जो हुआ । मधुमङ्गल वही ही बात कह निमाता हूँ । (स्पष्ट कहते हैं) बन्धुजन-अनुरागिनी चन्द्रावली को अनायास ही आज प्राप्त किया है ॥८१॥१६॥

(चन्द्रावलीलज्जा पूर्वक श्रीकृष्ण के गले में वैजयन्ती माला डालती है)

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक) हे प्रिये ! चकोर एक ही चन्द्र की आराधना कर अपनी अपनी अभिलाषा पूर्ण किया करते हैं, किन्तु मेरे यह दोनों नेत्र रूपी चकोर चन्द्रावली (अनेक चन्द्रमयी तुम) को सेवन कर भी प्रेम को प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं ॥८२॥१२०॥

मधुमङ्गल—(गर्वपूर्वक) अहो मित्र ! देखो तुमने मेरी विलक्षण कुरता ? अनन्त गुणशाली होकर भी तुम प्रिये सखी-चन्द्रावली की मान

वालिनपि त्वया मोचयितुं न पारितः, स प्रियसस्या मानप्रन्यनं वगुणधारिणा मया मोचितः ।] ॥८३॥

श्रीकृष्णः—वयस्य ! त्वमुदण्डकुसुमकोदण्डविलासपाङ्गण्ये महासांघियिग्रहिकोऽसि ॥८४॥

पद्मा—अज्ज ! पुरो पफुल्लाहं मत्तोपुष्पाह पफुरन्ति, ता एहि इमाहं तेण्हह । [आर्य ! पुरः प्रफुल्लानि मल्लीपुष्पाणि प्रस्फुरन्ति, तदेहि इमानि गृह्णीव ।] ॥८५॥

(इत्युभौ निष्क्रान्तौ)

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) कुञ्जोऽस्मिन्नागतमात्रां राधां तर्कयामि, तदन्वतः प्रस्थास्ये । (प्रकाशम्) प्रिये ! पुरस्तात्प्रातिवृत्ते नागररङ्गोद्धिता नागकेसराटधो, तदर्थं धानुसराय ॥८६॥

(इति निष्क्रान्तौ)

(ततः प्रविशति ललितया सह संकथयन्ती राधा)

गाठ को नहीं खोल पाये और यज्ञोब्रवीत धारी (ब्रह्मचारी) मैंने उसे खोल डाला है ॥८३॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! तुम उदण्ड कन्दर्प-विलास के छः गुणों^१ में सन्धि और विग्रह में निपुण हो ॥८४॥

पद्मा—आर्य ! तुम्हारे आगे मल्लिका पुष्प प्रफुल्लित हो शोभा दे रहे हैं, आओ, इनको बीने ॥८५॥

(यह कहकर दोनों चले जाते हैं)

श्रीकृष्ण—(मनमे) मुझे ऐसा लगता है, इस कुञ्ज में श्रीराधा आने वाली हैं, इसलिए अन्यत्र चलना चाहिये ॥(स्पष्ट बोले)प्रिये ! सामने नजदीक ही नागर-विलासोचित नाग केसर-वन है । आओ वहां चलते हैं । ८६॥

(यह कहकर दोनों चले जाते हैं)

(तत्पश्चात् ललिता के साथ बातें करती श्रीराधा प्रवेश करती है)

१ कन्दर्पविलास के छ गुण हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैष एवं आश्रय ।

राधा—हला ! पेक्ख पेक्ख, अन्धआरोहं घोलिवं सुव्वं दिसामुहम् ।
[हला ! पश्य पश्य, अन्धकारैर्वोरितं सर्वं दिङ्मुखम् !] ॥८७॥

ललिता—पियसहि ! तिमिराहिसारोविदेहि सालमप्पसाहरोहि
मण्डिदो तुए किं ववु अप्पा ? [प्रियसखि ! तिमिराभिसारोचितः श्यामल-
प्रसाधनैर्मणितस्त्वया किं सत्त्वात्मा ?] ॥८८॥

राधिका—अध इम् । [अथ किम् ।] ॥८९॥

ललिता—(विलोक्य सस्मितम् सस्कृतेन)

धम्मिल्लोपरि नीलरत्नरचितो हारस्त्वया रोपितो
विद्यस्तुः क्लृप्तकुम्भयोः कुवलयश्रृंगीकृतो गर्भगः ।
अङ्गे कल्पितमञ्जनं विनिहिता कस्तूरिका नेत्रयोः
कंसारेरभिसारसंभ्रमभरान्मन्ये जगद्विस्मृतम् ॥९०॥२१॥

राधिका—हला ! मुञ्चेहि परिहास, तुरिदं उदेसेहि केसरकुङ्कु-
ममगम् । [हला ! मुञ्च परिहासम्, त्वरितमुद्दिश केशरकुञ्जमगम् ।] ॥९१॥

ललिता—इवो इवो, पियसही ! [इत इतः प्रियसखि !] (इति

श्रीराधिका—ललिते ! देख तो, सब तरफ घोर अन्धकार छा गया
है ॥८७॥

ललिता—प्रिय सखि ! अन्धकार में अभिसार करने के उपयुक्त इयाम
वर्ण के वसन-भूषणों से तो तुम्हारे अङ्ग भूषित है न ? ॥८८॥

श्रीराधिका—हां ऐसे ही है ॥८९॥

ललिता—(देखकर मुस्कराती हुई) राधे ! नीलमणि विरचित हार
जो वक्षस्थल में धारण करने योग्य है, तुमने जूड़े में बाध रक्ता है और
मुष्प-गुच्छ को वक्षस्थल पर धारण कर रही हो, नेत्रों का अंजन जगह
जगह शरीर पर और नेत्रों में कस्तूरी लगा रखी है; मैं समझती हूँ कि
श्रीवृष्ण-अभिसार की हडबडी में तुम जगत्-व्यवहार को भूल रही हो ॥९०॥

श्रीराधिका—सखि ! छोड़ो परिहास को, जल्दी केशर कुञ्ज की
राह बताओ ॥९१॥

ललिता—प्रिय सखि ! यह इधर रही इधर (यह कहकर घूमती हुई)

परिक्रामन्ती सशङ्कम् ससृष्टेन) ।

तिमिरमसिभि संगीताङ्गय कदम्बवान्तरे
सखि मपुरिषु पुण्यात्मान सरन्त्यभिसारिका ।
तव ॥ परितो विद्युद्वर्णास्तनुद्युतिसूचयो
हरि हरि घन्ध्यान्तायेता स्वर्वरिणि भिन्वते ॥६२॥ २२॥

राधिका—अल इमिणा उवात्तम्भेन, पेवख पञ्चासण्णो वज्जलकुडुङ्गो ।
[अलमनेनोपालम्भेन, पद्य प्रत्यासन्नो वकुलकुञ्ज ।] (इति सभ्रमा-
दुपसृत्य सपरामर्षम् सस्कृतन) ।

विद्वराध्न घ्राण मदयति मुरारे परिमलो
न कुञ्जोऽयं तस्य स्फुरति नखरद्योतनिकरै ।
तत शङ्के कस्मिन्नपि रहसि घन्तोषलपिते
परीहासाकाङ्क्षी प्रियसखि निलीनस्तव सखा ॥६३॥ २३॥

ललिता—हला ! एहि वामवो कदम्बकुडुङ्ग विदग्गुम्ह । [हला !
एहि वामत कदम्बकुञ्जं विचिनुम ।] ॥६४॥

राधिका—(तथा कुर्वती) अइ छइत्त । दिट्ठोसि विट्ठोसि । बीस

भय सहित) राधे ! अन्धेरे की नीलमा मे छिपकर जो अभिसारि का रमणिया
कदम्ब कानन मे श्रीकृष्ण के पास जाती हैं, वे बड़ी पुण्यात्मा हैं । तुम तो
अपनी बैरिणी आप होरही हो । हरि ! हरि ! देखो तो तुम्हारी विद्युत्
वर्णा स्तनद्युति रूपी दालाका समस्त गाढ अन्धकार को छेदे दे रही है ॥६२॥

श्रीराधिका—अब इन तिरस्कार युक्त वचनों का कोई प्रयोजन नहीं
है देखो, वकुल कुञ्ज निकट आ गई है । (यह कहकर उत्कण्ठित होकर जाते
हुए वितर्क सहित)—

ललिते ! मुझे तो यहाँ श्रीकृष्ण की अङ्ग-सौरभ नहीं आरही है वह
तो दूर से उन्मत्त कर देती है, और न ही इस कुञ्ज को मैं उनकी नख-
चन्द्र द्युति से प्रकाशित ही देख रही हूँ । मैं समझती हूँ, तुम्हारा प्रिय सखा
परिहास करने के लिए किसी घने लता-जाल में छिपकर बैठ गया है ॥६३॥

ललिता — राधे ! आओ, बाईं ओर की कदम्ब कुञ्ज मे उसे देखती है ।

श्रीराधिका—(उसी ओर जाकर एव अनुराग-वश सब वन को

अङ्गेहि अङ्गाङ्गं संगोपेति ? [अयि विदग्ध ! दृष्टोऽसि, दृष्टोऽसि, कस्माद-
ङ्गं रङ्गानि संगोपयसि] (इति समन्तान्मृगयति) ॥६५॥

ललिता—सहि ! मुखं मग्गणगाहं । एहि, केलिकुङ्कुंजकल्पणं कुणम्ह ।
[सखि ! मुखं मार्गणाग्रहम् । एहि केलिकुङ्कुजकल्पनं कुर्मः ।] ॥६६॥

राधिका—(संस्कृतेन)

रचय वकुलपुष्पेस्तोरणं केलिकुञ्जे
कुरु चरमरचिन्वेस्तत्पमिन्दीवराशि ।
उपनय शयनान्तं साधु माध्वीकपाशौ
सहचरि हरिरस्य इलाघतां कौशलं ते ॥६७॥१४॥

ललिता—(तथा कृत्वा) हला ! प्रपद्य, कण्हो विलम्बेदि । ता कुञ्जं
पविसिअ णं पडिवालेम्ह । [हला ! पश्य, कृष्णो विलम्बते । तत्कुञ्जं
प्रविश्यैनं प्रतिपालयावः ।] ॥६८॥

राधिका—(परिक्रम्योद्वेगं नाटयन्ती, संस्कृतेन)

रुद्धः क्वापि सखीहितार्थपरया शङ्कुं हरिः पश्य
प्राप्तः कुञ्जगृहं यदेव न समीपामेऽप्यतिश्रामति ।

कृष्णमय देसकर) अरे नागर ! देख लिये, मैं ने तुम्हें देख लिया; अब
किस लिए अङ्गो से अङ्ग छिपा रहे हो ? (ऐसा कहकर तब मन की
सोजती हैं) ॥६५॥

ललिता—सखि ! छोड़ो उसे झूठना, आओ हम श्रीङ्गा-कुञ्ज की रचना
करें ॥६६॥

श्रीराधिका—हे नील कमलनयने ! तुम वकुल-पुष्पों द्वारा श्रीङ्गा-
कुञ्ज का बहिर्द्वार रचना करो और कमलों की थोड़ी छाया के पास सब
सुन्दर मधुपात्र लाकर रखो । हे सहचरि ! यह सब देसकर श्रीकृष्ण
तुम्हारे शिल्प-मौशल की प्रशंसा करेंगे ॥६७॥१४॥

ललिता—(बेचे हो करके) राधे ! देखो, श्रीकृष्ण देर कर रहे हैं ।
आओ कुञ्ज में बंटाकर उनकी प्रतीक्षा करें ॥६८॥

श्रीराधिका—(धूमकर उद्वेग प्रकाश करती हुई) मुझे तो ऐसा
सपना है अपनी सखी चन्द्रावली का हित साधन में जुटी हुई पद्मा ने

पौलोमीरतिबन्धुदिडमुखमसौ हा हन्त संतर्पय-
प्रभुभीलस्यभिसारतुग्धरमणीमोत्रस्य शत्रुः शशी ॥६६॥ २५॥

(इत्युभे निष्क्रान्ते)

(ततः प्रविशति कृष्णः)

श्रीकृष्णः—(समन्तादवलोक्य)

आसङ्गः कुमुदाकरेषु शिथिलो भृङ्गावलीनामसू-
होक्षते निजकोटराङ्गितममो सोणीरहं कीशिकाः ।
संकोचोन्मुखतां प्रयाति शनकं रौत्तानपादेद्युतिः

किं भानुनेन पुनर्वर्ततटीमारोदुमुरकण्ठे ? ॥१००॥ २६॥
(इति परिक्रम्य) न जाने नवीनविप्रसम्भेन सभूतनिर्भरसंरम्भा किं नाम
प्रतिपत्स्यतेसद्य राधा । (विमृश्य) भवतु, केशरेण नागकेसरं प्रतिपादयिष्ये,
तदभूनि नागकेसराणि विधिनीमि । (इति तथा कृत्वा पुरोऽनुसर्पन्) ॥१०१॥

श्रीकृष्ण को कही रोक रखा है । तभी तो (वैशाख-पौर्णमासी के धाव की)
चतुर्थी-तिथि निकली जा रही है अर्थात् अन्धाकार-मय रात की पहली घड़ी
बीती जा रही है । और वह अभी तक कुछ में नहीं आए है । हाय ! देखो
तो अभिसार करने वाली रमणियों का परम शत्रु चन्द्रमा पौलोमीरति
बन्धु अर्थात् इन्द्र की दिशा अर्थात् पूर्व दिशा के मुख को उज्ज्वल करते
हुए उदित होने लगा है ॥६६॥ २५॥

(यह कहकर दोनों चली जाती हैं और तत्पश्चात् श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं)

श्रीकृष्ण—(चारों ओर देखकर) भ्रमर समूह की कुमुद के प्रति
आसक्ति शिथिल हो गई दोखती है, पेचक अपने अपने घोंसलो के वृक्षों
को देखने लगे हैं और ध्रुव-नक्षत्र की ज्योति भी धीरे धीरे प्रकाश हीन
होती जा रही है, तो क्या सूर्य ही उदयाचल पर उदित होना चाहता है ?

(घूमकर देखते हुए) हाय ! न जाने नवीन विच्छेद मे अतिशय
क्रोधित होकर राधा आज क्या करेगी ? (वितर्क कर) अच्छा, हुआ जो हुआ,
आज केसर के साथ नागकेसर पुष्प उसे प्रदान करूंगा, इसलिए इन नाग-
केसर के पुष्पों को चुनता हूँ । (यह कहकर पुष्पों को चुनते हुए आगे बढ़ते
हैं और सोचते हैं—) ॥१०१॥

कपटो स लताकुटोमिमां सखि नागादधुनापि माधवः ।

इति जल्पपरीतया तया क्लमदोर्धा गमिता कथं तमी ? ॥१०२॥२७

(परिक्रम्य वकुलञ्जं कु पश्यन् सविपादम्)

ताम्बूलं घनसारसंस्कृतमदः क्षिप्तं पुरो राधया

हारो हन्त हरिन्मणिस्तवकितो हारोऽयमुत्सारितः ।

पौष्पो चयमुदारसो रभमयी घृष्टा नखैः खण्डिता

तस्या शंसति विप्रलम्भजनितं क्रुञ्जोऽयमन्तः क्लमम् ॥१०३॥ २८

(इत्यप्रतो गत्वा) इयमेव राधायाः सूर्याराधनवेदिका, तदस्याः पार्श्व-
मासीदयामि । (इति परिक्रामति) ॥१०४॥

(ततः प्रविशति सखीभ्यामनुगम्यमाना राधा)

राधा—(पुरो विलोक्य) हला सखिदे ! पेक्ख, वेदभाणोदिट्ठो सो
तुज्झ छइल्लो । [हला ललिते ! पश्य वेदिकानेदिट्ठः स तव विदग्धः] ॥१०५॥

ललिता—सहि ! कञ्चणपडिमेव्व कठोरा होहि । [सखि ! काञ्चन-
प्रतिमेव कठोरा भव ।] ॥१०६॥

‘सखि ! माधव अत्यन्त कपटो है, वह अभी तक भी इस बुझ में
नहीं आये है—’ यह कहकर राधा दुखभयी दीर्घतम इस रात को कैसे
काटेगी ? ॥१०२॥२७॥

(फिर घूमकर वकुल कुश को देखते हुए दुख पूर्वक कहते हैं—)

देगो, राधा ने यह कपूर मिश्रित ताम्बूल पृथ्वी पर फेंक दिया है,
हाय ! यह मनोहर नील कान्ति मणि शुद्धहार भी पड़ा है । ओ ! यह
देगो, मनोहर सौरभमय पुष्पों से घना हुआ चूड़ा नखों से छिन्न-भिन्न हुआ
टूटा पड़ा है । यह वकुल कुश राधा की सब विरह-जनित अन्तर्द्वेष्टना को
ही प्रकटित कर रहा है । ॥१०३॥२८॥

(कुश आगे चनकर) यह तो राधा की सूर्य पूजा वेदी है । अब
दमके गिराट हो चनकर चेंटा जाता हूँ (यह कहकर चला जाने हे) ॥१०४॥

तदनंतर मलिता और विद्याम्बा के साथ श्रीराधा प्रवेश करती हैं]

श्रीराधा—(सामने देगकर) सखि ! देग, वेदिका के पाम चेंटा है
यह तेरा नागर ॥१०५॥

सखिना—सखि ! स्वर्ण प्रतिमा की भाँति बटोर हो जा ॥१०६॥

श्रीकृष्ण—पुरस्तादेया सहपरिवारा प्रिया । तदिदमुदृङ्क्ष्यामि ।
(इत्युपसृत्य) सलिते । साधु, साधु दृष्ट तव गरिष्ठमत्र दुर्मन्त्रतन्त्रचर्यायामा-
चार्यत्वम् यदद्य भवत्या केसरनिकुञ्जवेद्यामहमुञ्जागरव्रतदीक्षापरि-
ग्राहितोऽस्मि । १८७ ।

सलिता—(ससरम्म ससृतेन) अहो वैपरीत्यम् । अहो वैप-
रीत्यम् ।

केसरनिकुञ्जकुहरे कुहक वसन्ती सखी स्वया रहिते ।

अितनवपल्लवशयना त्रुटिमपि कल्पाधिका मेने ॥१०८॥१२६॥

श्रीकृष्ण—(कपटेनाटोप नाटयन्) अहो दम्भभरारम्भेपु गाम्भीर्यं
मस्याः । (इति नागकेसराभ्युद्धाट्य दर्शयन्) ।

अरति मम निशि पश्यन्महाम्यन्नागकेशरोऽप्यसकृत् ।

विगलन्मधुभि कुसुमेरेभिर्नैर्त्रिबोवर्त्त ॥१०९॥१३०॥

सलिता—अम्महे । धूर्ततया, जं अउलवाइणा केशरेण दाणि
गाअकेसरो विक्खावीअदि । [अहो । धूर्तत्वम्, यद्वकुलवाचिना केशरेगेदानी
नागकेशरो विख्याप्यते ।] ॥११०॥

श्रीकृष्ण—आहा । सामने सखियो के सहित यह तो राधा आ रही
हैं । तब तो इन्हे मैं ऐसा कहूँ (निकट आते हैं) सलिते । बहुत अच्छा, बहुत
सुन्दर ॥ देख लिया तुम्हारा दुष्ट मन्त्रनामय तन्त्राचरण मे भारी आचार्यत्व ।
मैं ने आज तुम से केसर कुञ्ज की वेदिकापर जाग्रण-व्रत की दीक्षा ली है ।

सलिता—(क्रोध पूर्वक) ओहो । कैसी उन्टी बात । कैसी उल्टी चाल ।
अरे जालसाज । राधा तो तुम्हारे बिना केसर कुञ्ज में नहीं पल्लव-शय्या
पर सोते सोते एक एक क्षण को कल्प समान मानती रही है ॥१०८॥१२६॥

श्रीकृष्ण—(कपट सहित अहंकार करते हुए) ओहो । दम्भभरे
कार्य में कैसी गम्भीरता । (नाग केसर के पुष्पों को दिखलाते हुए) हाय ।
कितने दुख की बात । रात में जागने से मेरे अतिशय दुःख को देखकर
नागकेसर भी निरन्तर मधु-बुचाते अपने पुष्प रूप नेत्रों से आसू बहाते
बहाते विगलित हो गया है ॥१०९॥१३०॥

सलिता—ओह । कैसी आश्चर्यमय धूर्तता । वकुल-केसर पुष्प को
नागकेसर पुष्प बताकर व्याख्या कर रहे हो ॥११०॥

श्रीकृष्णः—(सव्याजनिर्वेदम्) ललिते ! विश्राम्यतु तवेयं शब्दार्थ-
स्यान्यथावत्पनेन वचनचञ्चुता, अथवा कस्ते दोषः ? दृष्टदोषाभिरपि
गौराङ्गीभिः सीहार्दमनिलप्यता मयैवापराद्धम् ॥१११॥

विशाखा—को कबु गौराङ्गीणं दिट्ठो तुए दोसो ? [क. खलु गौरा-
ङ्गीणा दृष्टस्त्वया दोषः ?] ॥११२॥

श्रीकृष्णः—पदय पदय ।

नवरसधारिणि मधुरे धरणीसन्तापहारिविस्फुरणे ।

विदधति न कृष्णमृदिरे गौर्यं. क्षणरोचिषः स्वैर्यम् ॥११३॥३१॥

विशाखा—तस्मिं वुत्तिसकूडकठोरचेट्टिवे ताणं कोमलाणं जुत्ता
उज्जेव तया पडत्ती । [तस्मिन्कुलिशकूटकठोरचेष्टिते तासा कोमलाना
युक्तं च तथा प्रवृत्तिः ।] ॥११४॥

श्रीकृष्ण—(छल पूर्वक अपने को कोसते हुए) ललिते ! दाढार्थ मे
अन्यथा वल्पना द्वारा अपनी वाक्-पटुता को अब रहने दो । तुम्हारा क्या
दोष है ? गौराङ्गीयो के दोष देखते हुए भी मैं ने उनसे मित्रता की है,
यह सब दोष मेरा ही है ॥१११॥

विशाखा—क्या देखे है आपने गौराङ्गीयो के दोष ? ॥११२॥

श्रीकृष्ण—देस, देस—

पृथ्वी के सन्ताप को हरने वाले नवीन जलधारी कृष्ण वर्ण मेघ के
उदित होने पर गौराङ्गी क्षण प्रभा विद्युत् कभी भी स्थिरता धारण नहीं
करती ॥

(पदान्तर मे—पृथ्वी सन्ताप हारी श्रृंगारादि नवरस धारी मेघवर्ण
कृष्ण के आने पर (नुम जँसी) गौराङ्गी-रमणिया क्षणमात्र के लिए भी
मित्रता धारण नहीं कर सकती हैं । सट मानयुक्त होकर विराग प्रकाश
करने लगती हैं) ॥११३॥३१॥

विशाखा—क्या से भी अगिब बटोर चेष्टानात्ती उस कृष्ण के प्रति
गुरुमारियों का ऐसा बर्बाव उन्मुक्त ही है ॥११४॥

ललिता—विसाहे ! सुणाहि ज्ञापि गगहम् । [विदाखे ! शृणु कामपि गाथाम् ।] (इति शृङ्गं दर्शयन्ती) ।

चम्पकलता सिणिद्धं णअक्खणकन्तिकुसुमगौरङ्गीम् ।

मुषिकअ धावइ भमरो चयला विअ सामला होन्ति ॥

[चम्पकलता स्निग्धा नवकाञ्चनकान्तिकुसुमगौराङ्गीम् ।

मुक्त्वा धावति भ्रमरश्चपला इव श्यामला भवन्ति ॥] ॥११५॥३२

श्रीकृष्ण.—(स्मित्वा) सरयं वाग्मिनामसि राज्ञी ॥११६॥

ललिता—(अपवायं) हला ! सुदृष्टं नीसङ्केण यमणाडोवेण अणवरद्धं जेव्यं एं तवकेमि । [मुट्टु नि सङ्केण वचनाटोपेनानपराद्धमेवैनं तर्कयामि ।]

श्रीकृष्ण.— वाग्याद्भवेन्न चिरतिर्नवयौवनानां

यामभ्रुवामिति जनश्रुतिरव्यलीला ।

चादूनि कतुं मुचितानि विमुष्य खिन्नं

मां प्रत्युताद्य यदमूरपरं जयन्ति ॥११६॥३३॥

ललिता—(अपवायं) हला ! सङ्गं उज्जाअरखिन्नो वण्हो, ता प्रसीव

ललिता—विदाखे ! सुन एक बात सुन । (यह कहकर भ्रमर को दिखाती हुई—

स्निग्ध स्वभावा नवीन कञ्चन की कान्ति धारण करने वाली कुसुम-गौराङ्गी चम्पकलता को परित्याग कर यह भ्रमर भाग रहा है । चपल व्यक्ति सब ही काले होते हैं ॥११५॥३२ ।

श्रीकृष्ण—(मुस्कराते हुए) सचमुच तू वाचालो की रानी है ॥११६॥

ललिता—(हाथ की ओट करके) सखि ! सुन्दर गर्वयुक्त वचनो से इसे निरपराधी ही समझ लेती हूँ ॥११७॥

श्रीकृष्ण—“कुटिल अकुटिल वाली नवयौवन युक्त रमणिया कभी भी कुटिलता त्याग नहीं कर सकती”—यह जनश्रुति कभी झूठी नहीं है, क्योंकि उचित भीठे वचनो को त्यागकर मुझे दुःखित-चित्त करने के लिए यह उद्यत हो रही है ॥११६॥३३॥

ललिता—(हाथ की ओट करके) सचमुच उजागर कृष्ण का चित्त

प्रसीद । [हला ! सत्यमुज्जागरस्मिन् कृष्णः, सत्प्रसीद प्रसीद ।] ॥११६॥

श्रीराधिका—(कृष्णमपाङ्गनावलोक्य) मुद्राणं दृष्ट्वा कलाविद्वोऽसि ।
[मुग्धाना वञ्चनकलाविदग्धोऽसि ।] ॥१२०॥

श्रीकृष्णः—(सानन्दम्) फुल्लकेशरकलापेनामुना धम्मिल्लश्रीस्तवालं-
क्रियताम्, वन्द्यतां मा विन्दतु मम प्रयासः । (इति पुटिकामुद्राट्य) प्रिये !
पश्यामूनि सुगन्धोनामप्रेसराणि नाग केशराणि, यैरहं सद्यः सुवासि-
तोऽस्मि ॥१२१॥

श्रीराधिका—(सनमस्मितम्) शूलं चन्द्रावलीपरिमलेण वासिबोसि
तुमम् । [नूनं चन्द्रावलीपरिमलेन वासितोऽसि त्वम्] ॥१२२॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! पारिहासिकान्यपि ते यवांसि न कदाचिदपि
व्यभिचरन्ति, यदद्य मदङ्गतश्चन्द्रावलीसौरभ्यमुपवञ्चति ॥१२३॥

श्रीराधिका—(सेष्यं परावृत्य) सलिले ! किं मुद्दिदपणासि ?
[सलिले ! किं मुद्रितकर्णसि ?] ॥१२४॥

हुली हो रहा है । इसलिए तुम प्रसन्न हो ओ, प्रसन्न हो ओ ॥११६॥

श्रीराधिका—(नेत्रकोर से श्रीकृष्ण को देखते हुए) ओहो ! आप
तो मुग्धा-रमणियों की वञ्चना करने में बड़े निपुण हैं ॥१२०॥

श्रीकृष्ण—(हपं पूर्वक) प्रफुल्लित केशर पुसुम द्वारा अपने जूड़े की
दोमा को असकृत् कीजिए न, जिससे मेरा परिश्रम असफल न हो । (यह
बहकर पुटिया तोलते हुए) प्रिये ! समस्त सुगन्धियों में श्रेष्ठ इस केशर
पुसुम की तो देखिये, इसी के द्वारा ही आज मैं सौरभशाली हो रहा हूँ ॥१२१॥

श्रीराधिका—(परिहास युक्त मुस्कराते हुए) निश्चय ही तुम चन्द्रावली
की सौरभ से सुवासित हो रहे हो ॥१२२॥

श्रीकृष्ण—प्रिये ! तुम्हारे परिहास युक्त वाक्य भी कभी झूठे नहीं
होते हैं, सभी तो आज मेरे अङ्गों से तुम्हें चन्द्रावली की सौरभ आ रही
है ॥१२६॥

श्रीराधिका—(दीर्घा सहित मुँहकेर कर) सलिले ! तेरे कान मन्द
हो रहे हैं क्या ? ॥१२४॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा) प्रिये ! कयमजरसाम्यादक्षमाति, यदहं कपूर् रावलीं वर्णयामि ? ॥१२५॥

श्रीराधिका—(सस्मिनम्) रामप्पेहि पुष्पाङ्गं । [समर्पय पुष्पाणि ।]
(इति पटाञ्चलं प्रसारयति) ॥१२६॥

श्रीकृष्णः—(राधामुखं प्रेक्ष्य स्वगतम्) हन्त, विभ्रममण्डितस्य धिल्लीकोदण्डस्य ताण्डवकला ! ॥१२७॥

विशाखा—(जनान्तिकम्) ललिदे ! पेदछ पेक्छ, संमोहणेण राहीए कडवळवाणेण लवलीकिदो पुष्पपुडिआए सङ्गं अञ्चले विण्णंवि वेणुं न जानादि कह्यो । [ललिते ! पश्य पश्य, संमोहनेन राधायाः कटाक्षवाणेन लक्षीकृतः पुष्पपुटिकया सार्धमञ्चले दत्तमपि वेणु न जानाति कृष्णः ।] ॥१२८॥

ललिता—(संस्कृतेन)

निद्रागमेषुपि सखि नन्दमुतस्य हतुं

यां शयनवन्ति न पराः पशुपालबालः ।

धन्या कटाक्षकलया किल मोहयन्ती

तां राधिकाया पुरतो मुरलीं जहार ॥१२९॥ ३४॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) हे प्रिये ! समान अक्षरों के प्रयोग से क्यों असहनशीला हो रही हो ? मैं तो कपूर् रावली का वर्णन कर रहा हूँ (न कि चन्द्रावली का) ॥१२५॥

श्रीराधिका—(मुस्कराकर) दीजिये पुष्पों को (यह कहकर अपना वस्त्राञ्चल फैलाती है) ॥१२६॥

श्रीकृष्ण—श्रीराधा के मुख को देखकर अपने मन में) हाय ! विभ्रम-भूषित भ्रुकुटि-कमान की कैसी अद्भुत नृत्य कला ! ॥१२७॥

विशाखा—(हाथ की ओट कर) ललिते ! देख देख, श्रीराधा के सम्मोहनकागे कटाक्ष वाणों से घायल हो श्रीकृष्ण पुष्प-पुडिया के साथ अपनी मुरली भी आचल में डाल दे रहे हैं, परन्तु उन्हें इस बात की पता नहीं है ॥१२८॥

ललिता—सखि ! अन्यान्य गोपवालिकाएं श्रीकृष्ण की निद्रावस्था में भी जिस मुरली को हरण करने में समर्थ नहीं हो पाती, धन्य है आज यह श्रीराधा, जिसने कटाक्ष वाणों से इन्हें विमोहित कर इनके सामने ही उस मुरली को हर लिया है ॥१२९॥ ३४॥

श्रीराधिका—(अपवायं संस्कृतेन)

या निर्मासि निकेतकर्मरत्नारम्भे करस्वम्भनं
रात्रौ हन्त करोति कर्षणविधिं या पत्युरङ्गुलपि ।
गौरीणां कुरुते गुरोरपि पुरो या नीविविध्वंसनं
धूर्तां गोकुलमङ्गलस्य मुरली सेयं ममाम्बुदशा ॥१३०॥३५॥
(नेपथ्ये)

अरे कुरङ्गा ! बिट्टो तुम्हेहि पिअवअस्सो ? [अरे कुरङ्गा ! दृष्टो
युष्माभिः प्रियवयस्यः ?] ॥१३१॥

श्रीकृष्णः—कथं मिलत्येव मधुमङ्गलः ? ॥१३२॥

(प्रविश्य मात्यहस्तः)

मधुमङ्गल.—सुबं मए सुबलमुहावो जं अञ्ज निउञ्जमध्मे राहिआ
उजाअरिआ आसी, ता गदुअ एं पोच्छाहइस्सम् । [श्रुत सुबलमुखाद्य-
दद्य निकुञ्जमध्ये राधिका जागरितासीत्, तद्गतत्वेनां प्रोत्सायिष्यामि] (इत्यु-
पसृत्य संस्कृतेन) ॥१३३॥

अखिरलवनमालालंकृतस्निग्धमूर्तिः

स्फुरितकटककान्तिघातिभिर्मण्डिताङ्ग ।

श्रीराधिका—(हाथ की ओट में) सखि ! गृह-कार्यं आरम्भ
करते मे जो हाथों को चलने नहीं देती, जो रात्रि मे पति-क्रोड़ में सोती
हुई रमणियों को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती है तथा गुरुजनों के
सामने ही जो सुन्दरियों की नीवि-बन्धन विमोचन कर देती है, गोकुलानन्द
को वह धूर्ता मुरली आज मेरे वशीभूत हुई है ॥१३०॥३५॥

[वेश-भूषा गृह से आवाज आती है]

‘अरे’ मृगगणो ! तुम ने मेरे प्रिय सखा को देखा है क्या ? ॥१३१॥

श्रीकृष्ण—मधुमङ्गल आ रहा है क्या ? ॥१३२॥

[माला हाथ में लिए मधुमङ्गल प्रवेश करता है]

मधुमङ्गल.—मैंने सुबल के मुख से सुना है, आज निकुञ्ज में श्रीराधा
जागती रही है, वहा चलेकर उसे उत्साहित करता हूँ। (यह कहकर
निकट आकर कहता है) ॥१३३॥

सखि राधे ! जो निरन्तर वनमाला से अलङ्कृत होकर स्निग्ध मूर्ति

अखिलभुवनतुङ्गो नेत्रमद्भवा विकृष्टः

कथमिव सखि राघे कृष्णशैलस्त्वयाभूत् ॥१३४. ३६॥

(राधिका स्मयते)

श्रीकृष्णः—प्रिये ! वेत्ति मे तमस्तमोसंभवं धयस्योऽयम् ॥१३५॥

श्रीराधिका—भज्ज ! दंसिदं भज्ज सिण्णेहदबिखणं, जं कन्तारसिन्धु-
संतारकोसलाइं सिखाविदम्हि । [आर्य ! दक्षितमद्य स्नेहदाक्षिण्यं, यत्का-
न्तारसिन्धुसंतारकोशसनि शिक्षितास्मि ।] ॥१३६॥

मधुमङ्गलः—सहि ! साहु अम्हे उवालहिजम्ह, जेहि चलन्तीं पि
बलीं तुमं तबिकअ बणे वसन्तेहि सादङ्क जागरिदम् । तुम्हे पखु सत्ता-
हिज्जद, जाहि पिअवअस्ससणाहं पि फुल्लं अणिअग्गणेण सुण्णं भणिअ घरे
पयिसन्तीहि णिरादङ्क सुत्तम् । [सखि ! साधु वयमुपालभ्यामहे, यैश्च-
लन्तीमपि बली त्वां तर्कयित्वा बने वसन्ति सातङ्क जागरितम् । यूयं खलु
श्लाघ्यध्वे, याभिः प्रियवयस्यसनाथमपि कुञ्जमनिर्वन्द्येन शून्य मत्वा गृहे
प्रविशतीभिन्निरातङ्क सुप्तम् ।] ॥१३७॥

धारण करते हैं, जिनसे कुण्डलो की कान्ति स्फुरित होती है, जो गैरिक
धातुओं से विभूषित रहते हैं, निखिल जगत् मे सर्वोपरि विराजमान उन
श्रीकृष्ण शैल को तुमने अपने कटाक्षों कैसे से आकर्षित कर लिया है ? ॥१३४॥

[श्रीराधा हसती है]

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! यही सखा जानता है, मुझे रात्रि को कितना
दुःख हुआ है ॥१३५॥

श्रीराधिका—आर्य ! आज स्नेह की कुशलता प्रदर्शित हुई है,
क्योंकि वन-भ्रमणादि दुर्गम पथ जनित रूप दुःख-समुद्र को पार करने की
कुशलता की, मैंने शिक्षा प्राप्त की है ॥१३६॥

मधुमङ्गल—सखि ! तुम ने अच्छी हमारी यत्नना की है । हम तो
वन मे रह कर वायु से हिलतो हुई लता को देख देख तुम्हारे आने का
अनुमान कर आतङ्क पूर्वक जागते रहे है और तुम्हारी यह खूबी है कि
प्रिय सखा कृष्ण के कुञ्ज मे रहते हुए भी कुञ्ज को शून्य मान कर तुम घर
मे जाकर बे-फिकर सोती रही हो ॥१३७॥

श्रीराधिका:—अज्ज ! किं एव्वं भणसिं ? [आर्य ! किमेव भणसि ?]
 (इति संस्कृतेन)

निकुञ्जं कंसारेवंत नखरचन्द्रावतिरुधि-
 च्छटाप्रस्तं नाग्रे मुहुरपि यदा प्रेक्षितमभूत् ।
 तदा सद्यः प्रोद्यद्बिषुहृतकविक्रान्तिहतया
 मया लब्धारण्ये क्लमनिबहूपूर्णा परिणतिः ॥१३८॥१३७॥

मधुमङ्गलः—(स्वगतं) अहो, कथं कुडङ्गसंगदा चन्द्रावली वि-
 राहिआए दिट्ठसि ? ता वच्चणं मुयिरअ एं उक्करितइस्सम् । [अहो,
 कथं कुङ्क्षसंगता चन्द्रावत्यपि राधिकया दृष्टास्ति ? तद्वच्चनं मुक्त्वा-
 एतामुत्कर्षयिष्यामि । १३६॥] (प्रकाशम् संस्कृतेन) ।

बलान्तेन ते यदनचन्द्रमनाकलय्य कल्याणि गोकुलपुरंदरतन्दनेन ।

चन्द्रावली.....(इत्यर्घोवते) ॥१४०॥

(कृष्णो भ्रूसंज्ञया निवारयति)

(सर्वाः परस्परं साकृत्तमवलोकयन्ति) ॥१४१॥

मधुमङ्गलः—(स्वगतम्) हन्त हन्त, किंव मए बम्हणबढुओविवं

श्रीराधिका—आर्य ! ऐसा क्यों कहते हो ?

कितने दुख की बात है ? मैं जब धारम्बार दूँड चुकी और श्रीकृष्ण
 को नलचन्द्रावली की कान्ति से इस निकुञ्ज को प्रकाशित नहीं देखा,
 तभी ही इस नव-उदित अभागे चन्द्र की रश्मियों द्वारा घायल होकर
 इस वन में वनेश की घरम अवस्था को प्राप्त हुई हूँ ॥१३८॥१३७॥

मधुमङ्गल—(अपने मन में) अहो ! वही कृष्ण के साथ कुञ्ज में
 मिलते हुए चन्द्रावली को श्रीराधा ने भी देखा लिया है, इसलिए अब
 बचना त्यागकर उस की प्रशंसा करता हूँ ॥१३९॥

(स्पष्ट कहता है) हे यत्स्याणि ! गोवुनेन्द्र नन्दन तुम्हारे मुग्धचन्द्र को
 न देगकर चन्द्रावली.....(इतना कहने पर श्रीकृष्ण आंख के इशारे से
 उसे रोकते हैं । सब अगती बात जानने की इच्छा से एक दूसरे की देखने
 लगते हैं) ॥१४०॥१४१॥

मधुमङ्गल—(मन में) हाय ! मैं ने तो ब्राह्मण वाचक की तरह चपलता

चावलम् । [हन्त हन्त, कृत मया ब्राह्मणवदूकोचित चावलम् ।] ॥१४२॥

श्रीकृष्ण — (विभाव्य) विभावरीभवं मे वरीय कष्ट वाप्यरद्ध-
कण्ठोऽय सवृत्ता, तदहमेव दावय समाययामि । (इति स्मत्वा) ॥१४३॥

चन्द्रावलीनयनान्ततया किलास्य
सादृश्यत कथमपि क्षपिता क्षपेयम् ॥१४४॥३॥

मधुमङ्गल — पिअयअस्स ! सव्वण्णोसि, किं ति मह हिअअट्ठिद
पज्जद्वं ण जाणिस्ससि ? । [प्रियवयस्य ! सर्वज्ञोऽसि, किमिति मम
हृदयस्थित पदार्थं न ज्ञास्यसि ?] ॥१४५॥

ललिता—राहे अज्ज वि सविद्धासि ? पेयस्स पेयस्स रत्तिविलासपिसु-
णाइ नाअरस्स चङ्गाइ अङ्गाइ । [राधे ! अद्यापि सदिग्धासि ? पश्य,
पश्य, रात्रिविलासपिशुनानि नागररस्य चङ्गाय्यङ्गानि ।] ॥१४६॥
(इति सेर्प्यम् सस्कृतेन)

आले गोकुलयौवतस्तमतटीदत्तार्थनेत्रावित
काम इयामशिलाविलासिह्रवयाच्चेत परावर्तय ।

कर डाली ॥१४२॥

श्रीकृष्ण—(सय की इच्छा जानकर) रातभर के मेरे महान दुःख
को याद कर मधुमङ्गल का गला आसुओं से रुक गया है । मैं ही उसके
वाक्य को पूरा किए देता हूँ । (यह कहकर मुस्वराते हुए बोले) — ॥१४३॥

“चन्द्रावलीन नयन अर्थात् तुम्हारे मुख के समान चन्द्र में ही नेत्रों
को लगाए हुए मैं ने बड़े कष्ट से ज्यो-त्यो रात काटी है ॥१४४॥३॥

मधुमङ्गल—प्रिय मित्र ! तुम सर्वज्ञ हो, फिर मेरे हृदय के आधे
वाक्य को क्यों न जान लोगे ? ॥१४५॥

ललिता—राधे ! अभी भी तुम्हें कुछ शक है ? देख, देख, नागर के
मनोहर अङ्गों पर सब रत्ति विलास के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं ॥१४६॥

(फिर ईर्ष्या सहित कहती है—)

हे आले ! यह गोशयवर्तियों के वक्षस्थल पर आधे नेत्रों से देखने
वाला है और इसका हृदय श्याम शिला की भांति अत्यन्त कठिन है, इसलिए
तू इससे अपना मन हटा ले । हम क्या जाननी नहीं हैं कि यह घूर्त्त श्रीङ्गा

विद्यः किं न हि यद्विकृष्य कुलजाः केतोभिरेय स्त्रियो

धूतं. संकुलयन्कलङ्कततिभिर्निःशङ्कमुन्मुञ्चति ॥१४७॥३६॥

श्रीराधिका—हट्टी हट्टी, सुदुठु विडम्बितमिह । [हा धिक हा धिक, सुष्ठु विडम्बितामि ।] ॥१४८॥

श्रीकृष्णः—प्रिये, मुधैष मां दूषयसि ॥१४९॥

श्रीराधिका—(सोपालम्भम् संस्कृतेन)

मुक्तान्तर्निमिषं मदोपपदधीमालोकमानस्य ते

जाने केसररेणुभिर्निपतितैः शोणीकृते सोचने ।

शोतैः काननवायुभिर्विरचितो शिम्बाधरे च व्रणः

संकोचं श्यज देव दैवहतया न त्वं मया दूषयसे ॥१५०॥४७॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! तवाधीनस्य मे संकोचोऽप्यलंकारार्थव्य ॥१५१॥

श्रीराधिका—साहीणो सध्वसोभविष्यादोसि । कथं ममाहीणो हविस्ससि ?
[स्वाधीनः सर्वलोकविख्यातोऽसि । कथं ममाधीनो भविष्यसि ?] ॥१५२॥

के वहाने पहले तो कुल-कामनियों को अपनी ओर आकर्षित करता है और उन्हें कलङ्कित कर देता है, फिर ध्याकुल करते हुए निराश्रु होकर उनका परित्याग कर देता है ॥१४७॥३६॥

श्रीराधिका—हाय धिक्कार ! हाय धिक्कार !! मैं अच्छी तरह ठगी गई ॥१४८॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! वृथा दोष मत दो ॥१४९॥

श्रीराधिका—(तिरस्कार सहित) हे देव ! आनमिष नेत्रों से मेरी घाट देखते ही देखते तुम्हारे नेत्रों में पुष्प पराग पड़ गई है, जिससे ये लाल हो रहे हैं और वन में भ्रमण करते करते शीतल वायु लग लगकर आप के अधरो पर व्रण हो गए हैं । आप सब सद्गोच छोड़ दीजिये, मैं मन्दभागिनी आप को कोई दोष नहीं दे रही हूँ ॥१५०॥४७॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! मैं तुम्हारे अधीन हूँ इसलिए संकोच भी मेरा भ्रमण है ॥१५१॥

श्रीराधिका—आप तो सब सोने में स्वाधीन प्रसिद्ध हो, मेरे अधीन क्यों होवोगे ? ॥१५२॥

श्रीकृष्ण — राधे ! तवाधीनो नाहमेव केवलोऽस्मि, किंतु ते मम दशावताराश्च । तथा हि—

चञ्चन्मीनविलोचनासि, कमठोत्कृष्टस्तनो सगता,
क्रोडेन स्फुरता तदायमधर, प्रह्लादसवर्धनः ।
मध्योऽसौ बलिबन्धनो, मुखरुचा रामास्त्वया निजिता,
लेभे श्रीघनताद्य, मानिनि मनस्यङ्गीकृता कल्किता ॥१५३॥४१॥

श्रीराधिका—हला ललिते ! आअणिब तुए ? [हला ललिते,
आकर्णित त्वया ?] ॥१५४॥

ललिता—कण्ह ! तुह ओदारा तुअम्मि षजेव्व वसन्ति, ज एदाए
बिम्हाइ दीसन्ति । [कृष्ण, तवावतारास्त्वय्येव वसन्ति, यदेतेषां चिह्नानि
दृश्यन्ते ।] (संस्कृतेन)

व्यामृतपुञ्चपल, कठिनता, गोसगति, पाणिजे
क्रौर्यं, दम्भरुचि, सुचण्डिमधुरा, लङ्केशविध्वसनम् ।

श्रीकृष्ण—हे राधे ! मैं ही केवल तुम्हारे अधीन नहीं हूँ । मेरे दशो
अवतार ही तुम्हारे अधीन हैं, देखिये —

हे मानिनि ! आप के चंचल नेत्र मीन के सदृश हैं—(मीन) । कच्छप
पीठ से भी अधिक कठोर है आप का बक्षस्थल—(कच्छप) । आप दीप्तिशालि
क्रोड (अर्थात् मध्य देश) से सुशोभित हैं—(क्रोड-वराह) । आप के अधर
प्रह्लाद-सवर्धन अर्थात् प्रकृष्टरूप से अह्लाद को बढ़ाने वाले हैं—(नृसिंह) ।
आप का करिदेश बलि बन्धनकारी अर्थात् त्रिवली रेखा से आवेष्टित है—
(वामन) । आप की मुख शोभा रामा अर्थात् रमणी गण को पराजित करने
वाली है—(राम एव परशुराम) । आप श्रीघन अर्थात् शोभा की घनता या
निबिडता को प्राप्त हो रही हो—(श्रीफल बुद्ध) और इस समय आप मन मे
(कल्किता) अर्थात् प्रणय-कलह को धारण कर रही हैं—(कल्कि) ॥१५३॥४१॥

श्रीराधिका—सखि ललिते ! सुन लिया तुम ने ॥१५४॥

ललिता—हे कृष्ण ! तुम्हारे सब अवतार तुम मे ही रहते हैं और
उन सब के लक्षण तुम मे ही दीखते हैं—

देखो-वन मे तुम्हारी चपलता (मीन), कठोरता (कच्छप), गो-सगति
अर्थात् पृथ्वी सगति (वराह), नख-क्रूरता अर्थात् रमणियों के बक्षस्थल

अश्रान्तोन्मदलोल्यनिष्कधनं, निस्त्रिशसीलोघ्रति-
भीनेन्द्राद्यवतारतः स्फुटमभो भ्राजन्ति भागास्त्वयि ॥१५५॥४२॥

श्रीकृष्णः—(सस्मितम्) सखे ! पदय पदय ।

ललिताजेनि दुर्लसिता बंधुव राधा दुराराधा ।

सप्ते मयि न छायां शशाक कर्तुं विशाखेयम् ॥१५६॥४३॥

(इति वटोः करान्मल्लीदाम गृहीत्वा । सचातुप्रणामम्)

स्त्रियमुरुर्गुणा ते चित्तवीथीवं राधे

धुचिरतिसुकुमारी काममामोदनो च ।

नखपदशशिरेखा घाम्नि पुष्पातुं कान्ति

तव कुचशिवमूर्त्ति स्वर्धुनीविभ्रमेण ॥१५७॥४४॥

(इति भ्रूसंज्ञया विशाखाभनुकुलयन्मात्यमर्पयति)

पर नखाघात (नृसिंह), कपटता में रुचि (वामन), प्रचण्ड-मधुरिमा (परशुराम), (रमणियों के) केशों का आकर्षण (राम); अविरत उत्कट वन्मादता (बलराम), (तम) सुहृदों को दुख देने का अथवा यज्ञों का ध्वंस करना (बुद्ध) एवं तलवार जैसी तीक्ष्ण सीलौत्कर्षता अर्थात् खड्ग धारत्व (कल्कि) ये सब दस अवतारों के अंश स्पष्ट रूप से तुम में विद्यमान हैं ॥१५५॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) मित्र ! देखो, देखो—

इस समय ललिता दुर्ललिता अर्थात् लालित्य रहित हो रही है और राधा दुराराधा अर्थात् क्रोधित, भुक्त सन्तप्त की शाखा रहित विशाखा भी छाया प्रदान करने में समर्थ नहीं है ॥१५६॥४३॥

(यह कहकर मधुमङ्गल के हाथ से मल्लिका-पुष्पमाला लेकर चापलूसी सहित प्रणाम करते हुए है) —

हे राधे ! अतिशय गुण शालिनी यह माला तुम्हारी चित्त-वृत्ति की भाति निर्मल, सुकोमल एवं यथेष्ट रूप से आमोद प्रदायिनी है । इसलिए आप के वक्षस्पल रूपी शंभु-सिर पर गङ्गा-धारा की तरह सुन्दर नख चिह्न रूप चन्द्र रेखा की लावण्यता के बीचो बीच तुम्हारी कान्ति की वृद्धि करे (यह मेरी प्रार्थना है) ॥१५७॥४४॥

[यह कहकर भ्रू के द्वारे से विशाखा को अनुकुल कर माला दे देते हैं]

विशाखा—(माल्यं निवेदयन्ती सस्कृतेन)

यस्मिन्नेशसरोरुहाङ्गणभुव प्राप्ते विवूरं मना-
वसद्यस्ते निमिषोऽपि याति तुलना तन्वङ्गि मन्वन्तरं ।

वृन्दारण्यकदम्बमण्डपतटक्रीडाभराखण्डले

तस्मिन्काकुपरायणे तव कथं काव्यानि वाम्यान्वपि ॥१५८॥१५९॥

श्रीराधिका—(साम्यसूयम्) अवेहि निम्बुद्विष्ट ! अवेहि । [अपेहि
निम्बुद्विके ! अपेहि ।] ॥१५९॥

श्रीकृष्ण —धूलिधूसरितचन्द्रकाञ्चसम्बन्धकान्तमुखि यत्नभो जन ।

अप्ययन्मुहुरयं नमस्क्रियां भिषते तव कटाक्षमाधुरीम् ॥१६०॥१६१॥

सलिला—राहे ! क्षति कन्धर परावट्टेहि, पृष्ठदो आआरेदि अज्जिअ।

[राधे ! क्षति कन्धरा परावतंय । पृष्ठत आकारयत्यार्या] ॥१६१॥

(राधिका तथा करोति)

(प्रविश्य)

विशाखा—(माला भेंट करते हुए)—हे कृशाङ्गि ! तुम्हारे नेत्र-
कमल रूप प्राङ्गण से जिनके जरा दूर जाने पर तुम निमेष काल को भी
मन्वन्तर के समान समझती हो, और जो वृन्दावन के कदम्ब मण्डपों में
विहार करने में इन्द्र के समान हैं, आज वही श्रीकृष्ण तुम्हारी विलम्ब
वचनों से स्तुति कर रहे हैं । अतः हे सखि ! उनके प्रति तुम्हारी स्वेच्छा
पूर्वक यह प्रतिज्ञा कौसी ? (यह उचित नहीं है) ॥१५८॥१५९॥

श्रीराधिका—(असूया सहित) दूर हो, अरी निम्बुद्विष्ट ! दूर हो ॥१५९॥

श्रीकृष्ण—हे चन्द्रकान्त-मुखि ! तुम्हारा यह प्रिय जन सिर में
धारण किए हुए मोर-चन्द्रवाक्चल को धूलि धूसरित करते हुए (पृथ्वी
पर रखकर) प्रणाम करता है और तुम्हारी कटाक्ष-माधुरी को मिटा
चाहता है ॥१६०॥१६१॥

सलिला—राधे ! पीछे की क्षीघ्र मुठ जाओ, आर्या मुखरा घुला
रही है ॥१६१॥

[श्रीराधा पीछे की मुठ जाती है] (मुखरा प्रवेश करती है)

मुखरा—(कृष्णं विलोक्य संस्कृतेन)

वनासक्तं चेतः प्रणयति गृहाद्यो विरमय-
स्वरेण्यं बन्धना प्रणयमपि विस्मारयति यः ।

महाय तन्धेणीगुणगरिमविस्तारणपटोः

करोतस्ते तस्य स्वमपि सरने पुत्रि पतिता ॥१६२॥ ४७॥

मधुमङ्गलः—(जनान्तिकम्) भो वयस्स, माहर्ष्यामालीकिवमुहो
तुज्ज वंशीव एष्य बुद्धिमा पत्ता, ता एष्य किं विलम्बेति ? [भो वयस्य ।
माहर्ष्यामालीकृतमुखी तव वशीवात्र वृद्धा प्राप्ता । तदस किं विलम्बसे ?]

श्रीकृष्णः—सखे ! क्व मे वंशी ? ॥१६४॥

मधुमङ्गलः—सखं जेव्व जानासि कहिं ति । [स्वयमेव जानासि
कुत्रेति ।] ॥१६५॥

श्रीकृष्णः—स्फुटं राधिकयैव हृतेयम् । तदेतां विना कथं प्रस्थान-
मुचितम् ? ॥१६६॥

मधुमङ्गलः—(सपरिहासम्) भो, इदं वक्षु अम्हाणं गदमं भाग-

मुखरा—(श्रीकृष्ण को देखकर) जो घर से चित्त को हटाकर वन
में आसक्त करा देता है और बान्धवों के महान अनुराग को भुलवा देता है
एव जो घूर्तों की महिमा विस्तार करने में गुरु है, हे सरल स्वभावा पुत्रि !
तुम भी उसी कृष्ण के हाथों पड़ गई हो ॥१६२॥ ४७॥

मधुमङ्गलः—(कान में धीरे से) हे मित्र ! वायु की भाँति तुम्हारी
वशी की तरह वाचाल मुखी वृद्धा मुखरा आ गई है, अब यहाँ क्यों देर कर
रहा है ? ॥१६३॥

श्रीकृष्णः—सखा ! मेरी वंशी कहाँ है ? ॥१६४॥

मधुमङ्गलः—तुम्हें पता, कहाँ की है ॥१६५॥

श्रीकृष्णः—निश्चय राधा ने ही हर ली है । वंशी के बिना यहाँ से कैसे
चलें ? ॥१६६॥

मधुमङ्गलः—(परिहास करते हुए) मिल ! यह हमारा परम भाग्य

घेअं जं इमोहि मोहिणोहि तुमं चोरिअ ण संगोविदोत्ति । ता चिट्ठु
वरागी मुरलिआ । अताएण घेतुण पलाअम्ह । [भोः ! इदं खल्वस्माक
गुरुकं भागधेय, यदेताभिर्मोहिनीभिस्त्वं चोरयित्वा न संगोपितोऽमि ।
तत्तिष्ठतु वराकी मुरलिका, आत्मानं गृहीत्वा पनायामहे ।] ॥१६७॥

श्रीकृष्णः—(सस्मितम्) रे वाचाट ! तिष्ठ तिष्ठ ॥ (इति परिक्रम्य)

सुन्दरि विन्दुच्युतके तव नैपुण्यं वसुधैव कुटुम्बकम् ।

शशिमुखि वशीकृतान्मूढं शो मम यस्वया स्वरया ॥१६८॥१८॥

श्रीराधिका—(सभ्र भङ्गम्) मुञ्चेहि एं भङ्गिए कलङ्कारोपणम् ।
का जानाबि तुम्ह वंशियम् ? [मुञ्चैन भङ्गया कलङ्कारोपणम्, का जानाति
स्वद्वंद्विकाम् ?] ॥१६९॥

सल्लिता—(संस्कृतेन)

न काचिद्गोपीनां भवति परवित्तप्रणयिनी

सतीनामस्माकं न खद परिवादं मनु मुधा ॥१७०॥

(इत्यर्थोक्ते)

है कि इन मोहिनी रमणियों ने तुम्हें ही चुराकर कहीं नहीं छिपा दिया है ।
अब रहने दे अभागी वशी को । हम स्वयं ही यहा से भाग चलते हैं ॥१६७॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराकर) अरे वाचाल ! टहर जा ! (यह कहकर
पीछे घूमकर) हे सुन्दरि ! पुण्य के प्रभाव से विन्दुच्युतक^१ में तुम्हारी
विसक्षण निपुणता या अम्यास है । हे चन्द्रमुखि ! जिससे तुम ने अनि शीघ्र
मेरी वंशी चुरा ली है ॥१६८॥

श्रीराधिका—(भ्रुकुटि टेढ़ी करते हुए) बहाना बनाकर बल्लू
संगाना छोड़ दो । किस को पता है तुम्हारी वशी का ? ॥१६९॥

सल्लिता—कृष्ण ! गोपियों में कोई भी पराया धन हरने वाली नहीं
है, हम सली नारियों को झूठा अपवाद मत दो ॥१७०॥

(इम अर्थोक्ति पर)

श्रीकृष्णः—सखि ललिते ! प्रसोद प्रसोद । दर्शय सख्यौ दाक्षिण्यम् ॥१७१॥

ललिता— अलं जल्पैरेभिर्व्रज निजनिकेतं द्रुतमितो

ययं किं संवृत्तास्तव कितव वेणोः प्रतिभुवः ? ॥१७२॥४८॥

श्रीराधिका—(वृद्धामासाद्य) अज्जे ! दिट्ठं तुए अप्पणो णत्तिणो
छरिसम्, जं एसो अम्हाणं चोरिआपरिवावं बेदि । [आर्ये ! दृष्टं त्वयात्मनो
नप्तुश्चरित्रम्, यदेपोऽस्मभ्यं चोरिकापरिवादं ददाति ।] ॥१७३॥

मुखरा—(ससंरम्भम्) रे कण्हडा ! सच्चं मए विण्णावम्, जं णत्तिअं
राहिअं मह तुमं विडम्बेदुं लब्धो सि । [रे कृष्ण ! सत्यं मया विज्ञातम्,
यद्यप्यी राधिकां ममत्वं विडम्बितुं लब्धोऽसि ।] ॥१७४॥

मधुमङ्गलः—अइ णिट्ठुरसंसिणि ! णिर्व्वसिए ! वंसिअं हरिअं तुज्ज
णत्तिणी तुमं दुग्गं लब्धा । [अयि निष्टुरशसिनि ! निर्वाशिके ! वंशिका हत्वा
तव नप्पी त्वा दुग्गं लब्धा ।] ॥१७५॥

श्रीकृष्णः—आर्ये मुखरे, सत्यमाह वयस्यः ॥१७६॥

श्रीकृष्ण—सखि ललिते ! प्रसन्न होवो, प्रसन्न होवो, बन्धुजनों के
प्रति सरलता प्रदर्शन करो ॥१७१॥

ललिता—इस प्रकार की अधिक बात करने का कोई प्रयोजन नहीं
है, तुम शीघ्र अपने घर को चले जाओ । हे धूर्त ! हम तुम्हारी वशी की
जामन ठहरी थी क्या ? ॥१७२॥४८॥

श्रीराधिका—(मुखरा के पास जाकर) आर्ये ! देखा है तुम ने अपने
नाती का चरित्र, हम को चोरी की वदेनामी देता है ॥१७३॥

मुखरा—(क्रोध पूर्वक) क्यों रे कृष्ण ! मैं ने ठीक जान लिया है,
मेरी नातिनी राधा को तू कलङ्कित करने आया है ? ॥१७४॥

मधुमङ्गल—अरी निष्टुर भाषिणि, निर्वाशिके ! तुम्हारी नातिनी
ने वंशी हरण कर तुम्हें किले के समान प्राप्त कर लिया है—निडर हो
गई है ॥१७५॥

श्रीकृष्ण—आर्ये मुखरे ! मधुमङ्गल सच कह रहा है ॥१७६॥

मुखरा—अइ राहिए । अब कि सच्च एदम् ? [अयि राधे । अपि कि सत्यमिदम् ?] ॥१७७॥

श्रीराधिका—अज्जिए । वृन्दावरो इन्धनाण कि महग्घदा जावा, ज हस्थमेत्तावरुक्कट्ठिआ अम्हेहि हरिस्सवा ? [आर्ये । वृन्दावन इन्धनाना कि भर्घता जाता, यद्धस्तमात्ता वशवाष्ठिकास्माभिर्हर्तव्या ।] ॥१७८॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) हे पीते प्रचण्डदेवि । यदि पेणु न जहर्षा-स्तस वध तद्वाताया स्मितकुट्मलोत्तासाकुत्फुल्लकपोलान्दोसापितद्वग-न्तासि ? ॥१७९॥

मुखरा—(साक्रोशम्) चवत्त । अभिमण्णो सधम्मिणी तुण्ह वन्दणिज्जा सहवि परिहसज्जइ ? [चपल । अभिमन्यो सधमिणी तव वन्दनीया तदपि परिहस्यते ?] ॥१८०॥

मधुमङ्गल—मुखरे । एसो ह जण्णोववीअस्स सवामि । दिट्ठ मए पुहवीविलगसेहरेण अज्ज राहिआ वन्दिवा पिअवअस्सेण । [मुखरे । एपोऽह यज्ञोपवीतस्य सवामि दृष्ट मया पृथ्वीविलग्नोत्तरेणाद्य राधिका वन्दिता प्रियवयस्येन ।] ॥१८१॥

मुखरा—ओ राधे । यह क्या सच ही है ? ॥१७७॥

श्रीराधिका—आर्ये । वृन्दावन में ईन्धन क्या बड़ा महंगा हो गया है, जो एक हाथमर की बात की लकड़ी हम चुरा लेंगी ? ॥१७८॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) हे गीराङ्गि प्रचण्ड देवि । यदि तुम ने वशी हरण नहीं की है, तो वशी की बात करते ही किस लिए तुम मुस्करा रही हो ? तुम्हारे कपोल उत्फुल्ल एवं नेत्र कोर क्या चञ्चल हो रह है ? ॥१७९॥

मुखरा—(चिह्लाकर) अरे चपल । अभिमन्यु-पत्नी (यशोदा के मामा की पुत्र वधू) तुम्हारे वन्दन करने योग्य है, फिर क्यों परिहास कर रहा है ? ॥१८०॥

मधुमङ्गल—मुखरे । देख, मैं इस यज्ञोपवीत की क्षण्य खाकर कहता हूँ, मैं ने अपनी आँखों से देखा है—कृष्ण ने पृथ्वी पर मस्तक टेककर राधा को प्रणाम किया है ॥१८१॥

मुखरा—(आनन्दम्) तवो ह्यस्स धम्मो वड्डिस्सवि । [ततोऽस्य धर्मो वधिष्यते ।] ॥१८२॥

(सर्वे स्मितं कुर्वन्ति)

मुखरा—कण्ह ! इमिष्ठा तुज्झ चावलेण खिन्निस्सवि यत्तवइन्दो णन्दो । ता गदुअ गोमण्डलं संपालेहि । [कृष्ण ! अनेन तव चापलेन खेत्तपति वल्लवेन्द्रो गन्दः, तद्गत्वा गोमण्डलं संपालय ।] ॥१८३॥

श्रीकृष्णः—आर्ये ! विना वेषुं विप्रकृष्टाया धवलावलीराकुटिदुर्घटा ।

सलिला—कण्ह ! अवलावलीणो त कोस उज्जुअं ण कथेसि ?
[कृष्ण ! अवलावलीति कस्मात् ऋजुर्कं न कथयसि ?] ॥१८४॥

श्रीकृष्णः—सलिले ! वृद्धयाथ सधत्ता भूयम्, ततः कथमिवं कथयिष्यामि ? ॥१८५॥

मुखरा—(सरोपम् संस्कृतेन)

नवीनाग्रे नग्गो घटुल नहि धर्मात्तय भयं
न मे वट्ठिमंघेदिनमपि अरत्था पटुरियम् ।

मुखरा—(आनन्द पूर्वक) तव तो इसकी धर्म वृद्धि होगी ॥१८२॥

[सब हस पड़ते है]

मुखरा—कृष्ण ! तुम्हारी इस 'चपलता' से गोपराज नन्द दुखी होते हैं । अतः घर जाकर गौओं को सम्भालो ॥१८३॥

श्रीकृष्ण—आर्ये ! वशी के बिना तो इधर-उधर भागी हुई धवला-गौओं को एकत्रित करना बड़ा मुश्किल है ॥१८४॥

सलिला—कृष्ण ! ब्रज गोपियों को आकर्षित करना बड़ा मुश्किल होगा, यह सरल बात क्यों नहीं कहते हो ? ॥१८५॥

श्रीकृष्ण—सलिले ! आज मुखरा के सहित तुम बलवती हो उठी हो, ऐसी बात मैं कैसे कह सकता हूँ ? ॥१८६॥

मुखरा—(क्रोध सहित) हे चपल ! मेरे आगे नई नातिनी है और तुम्हें धर्म का भय नहीं है । मैं वृद्धा हूँ, मुझे तो दोपहर में भी अच्छी तरह

अलिन्दास्य नन्दात्मज न यदि रे यासि तरसा
ततोऽहं निर्दोषा पथि कियति हहो मधुपुरी ॥१८७॥५०॥

मधुमङ्गल—(सरोपम्) दुम्मुहि बुद्धि ए । तुज्झ कसादो कि अम्हे
भाएम्ह, ज मधुपुर आसन्न कहेसि ? । [दुर्मुखि वृद्धे । तव कसार्त्तिक वय
विभिम, यन्मधुपुरमासन्न कथयसि ?] ॥१८८॥

मुखरा—(सव्याजम्) अरे । चिट्ठ चिट्ठ, एसाह जल्लिणिअ घेत्तूण
राजसह पत्थिवम्हि । [अरे, तिष्ठ तिष्ठ । एपाह नप्प्रीका गृहीत्वा राजसभा
प्रस्थितास्मि ।] ॥१८९॥

(इति राधादिभिरनुगम्यमाना निष्क्रान्ता)

श्रीकृष्ण—सखे । समागच्छ, कालिन्दीकच्छमुपेत्य गवामुद्देश
करवाव ॥१९०॥

(इति परिक्रम्य बलितग्रीव पश्यन् सोच्छ्वासम्)

नहीं दीखता है । अन् हे नन्दनन्दन ! यदि तू मेरे घर के सामने से सीधे
नहीं चला जाता, तो फिर मेरा कोई दोष नहीं होगा ।
मथुरा का रास्ता कितनी दूर है ? (अर्थात् मैं मथुरा जाकर कस राजा के
पास ? तेरी करतूत बह सुनाऊँगी) ॥१८७॥

मधुमङ्गल—(क्रोध पूर्वक) अरी दुर्बुद्धि वृद्धे । हम क्या तेरे कस से
डरते हैं ? जो तू हमें मथुरा निकट बता रही है ॥१८८॥

मुखरा—(छन पूर्वक) अरे ! ठहर जा, अभी मैं राधा को लेकर
राज सभा में जाता हूँ ॥१८९॥

[यह कहकर श्रीराधा आदिक को लेकर चली जाती है]

श्रीकृष्ण—मित्र ! आओ, कालिन्दी किनारे चलकर गोश्रो को
देखें ॥१९०॥ (यह कहकर पीछे की ओर गर्दन घुमाते हैं एवं लम्बी श्वास
लेकर कहते हैं) —

आहो ! श्रीराधा एक क्षण में तो धीरजमयी मुद्रा और दूसरे क्षण में

मुद्रां धैर्यमयीं क्षणं विवृणुते तारुण्यलक्ष्मीं (ध्वीं) क्षणं
 सोपेक्षा. क्षणमातनोति भवितीरोत्सुख्यभाजः क्षणम् ।
 शुद्धां दृष्टिमितः क्षणं प्रणयते प्रेङ्खत्कटाक्षां क्षण
 रोपेण प्रणयेन चाकुलितधो राधा द्विधा भिद्यते ॥१८१॥५१॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीविदग्धमाधवनाटके वेणुहरण नाम चतुर्थोऽङ्कः ॥४॥



तरुणता से शोभित हो उठती हैं, फिर एक क्षण में उपेक्षा तो दूसरे क्षण में उत्कण्ठा पूर्वक वाणी बोलने लगती हैं । क्षण में विशुद्ध दृष्टि तो क्षण में टेढ़ी नजर कर क्रोध एवं प्रणय के वशीभूत हो व्याकुल बुद्धि हो उठती हैं—इस प्रकार श्रीराधा द्विधा (दो अवस्थाओं में) प्रकाशित होती है ॥१८१॥

[यह कहकर सब चले जाते हैं]

इस प्रकार श्रीश्यामदासानुवाचित श्रीविदग्धमाधव नाटक का

वेणुहरण—नामक चौथा अङ्क समाप्त हुआ ॥४॥



पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति पौर्णमासी)

पौर्णमासी—

रत्नेहः शोककृशानोऽपि नोदसदनं सदेति नातथ्यम् ।

स्निग्धाद्य रात्रिकायां यवहं तेनाद्यु दग्धास्मि ॥१॥१॥

(पुरोऽवलोक्य) केयं मधुमङ्गलसङ्गिनी मामभिदत्तंते । (पुनर्निभाल्य)

अजनितशासनभङ्गा स्थिरजङ्गममण्डलैः स्थयने ।

निखिलप्राणिरुतस्ता शिदति पुरतः कथं वृन्दा ? ॥२॥२॥

(प्रविश्य)

वृन्दा मधुमङ्गल—अम्ब ! यन्वे ॥३॥

पञ्चम-अंक

[तत्पश्चात् पौर्णमासी प्रवेश करती है]

पौर्णमासी—‘अनुराग शोकान्नि का विलास-भवन है—यह बात मिथ्या नहीं है, क्योंकि मैं आज राधा मे अनुराग करने से ही जली जा रही हूँ ॥१॥१॥

(सामने देखकर) मधुमङ्गल के साथ कौन मेरी ओर आ रही है ? (ध्यान पूर्वक देखकर) वृन्दावन में स्थावर-जङ्गम कोई भी जिसके सामने को भङ्ग नहीं कर सकता है और जो सब प्राणियों की भाषा को जानती है, क्या वही वृन्दा मेरी ओर आ रही है ? ॥२॥२॥

(वृन्दा व मधुमङ्गल प्रवेश करते हैं)

वृन्दा व मधुमङ्गल—माता ! नमस्कार है ॥३॥

पीर्णमासी—स्वस्ति युवाम्याम् ॥४॥

वृन्दा—भगवति ! कथं शोचन्त्यसि ? ॥५॥

पीर्णमासी—वत्से, विदग्धपुंगवस्याङ्गसगमलक्ष्माणि राधिका-
यामभिलक्ष्य मन्धुमानभिमन्युः संप्रति मधुपुर्यां सकुटुम्बो वस्तुमुत्कण्ठते ।
तथापि तदम्बा तदीर्घ्या जम्बास्तायसीजम्भायां कादम्बिनीभावमालम्ब्य
राधामरालीमुद्वेजयति, तेनाद्य शोचामि ॥६॥

वृन्दा—पीर्णमासीशुभाशौचन्द्रिकैव विधनान्धकारसंहारिणी ॥७॥

मधुमङ्गलः—अज्जे ! कहं राहोवरि तुज्झ वरिट्ठं वेम्मम् ? [आर्ये !
कथं राधोपरि तव वरिष्ठं प्रेम ?] ॥८॥

पीर्णमासी—वत्स ! सद्यपि भूरिणि प्रेमोदयकारणे तस्यामनन्या-
पेक्षि ममेदं प्रेम ॥९॥

वृन्दा—युक्तपिबम् । यतः—

पीर्णमासी—तुम दोनों का मङ्गल हो ॥४॥

वृन्दा—भगवति ! कैसे दोरुकुल हो रही हो ? ॥५॥

पीर्णमासी—बेटी ! श्रीराधा में रसिक-नागर के सङ्गम-चिह्न को
देखकर आश्रित हो अभिमन्यु अब अपने कुटुम्ब सहित मथुरा में जाकर
वसना चाहता है । और फिर उसकी माता जटिला वृष्ण-सम्भोग चिह्नों
को देखकर ईर्ष्या रूप पङ्क मे मेघमाला का भाव धारण कर राधा रूपी
नंदा की टुंग दे रही है । इसलिए आज मैं चिन्ता कर रही हूँ ॥६॥

वृन्दा—पीर्णमासी की शुभाशौचाद रूप चन्द्रिका ही विधन अन्ध-
कार का नाश करेगी ॥७॥

मधुमङ्गल—आर्ये ! तुम्हारा श्रीराधा पर दत्तना भारी प्रेम क्यों
है ? ॥८॥

पीर्णमासी—सचमुच श्रीराधा के प्रति मेरे प्रेम-उदय के अनेक
कारण होने हुए भी, उमरे प्रति यह प्रेम अनन्यापेक्षि है । ॥९॥

वृन्दा—तुम्हारी बात ठीक है, क्योंकि—

जगति किलविचित्रे कुत्रचिन्निश्चलात्मा
भवति निरभिसधि. कस्यचित्प्रेमबन्धः ।
विलसति समुदीर्णे कुम्भजे खञ्जनाली
कलितवति तथास्त हन्त नाशं प्रयाति ॥१०॥३

मधुमङ्गल.—केरिसं निरहिसंधिणो पेम्मस्स चिहम् ? [कीदृशं
निरभिसन्धे प्रेम्णश्चिहम् ?] ॥११॥

पौर्णमासी—

स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयस्मिन्तस्य धत्ते व्यथां
निन्दापि प्रमद प्रयच्छति परीहासश्चियं बिभ्रती ।
दोषेण क्षयितां गुणेन गुह्यतां केनाप्यनातन्वती
प्रेम्ण स्वारसिकस्य कस्यचिदियं विक्रीडति प्रक्रिया ॥१२॥४॥

मधुमङ्गल—एवम् एवम् खलु दोषं राहामाहवाणं पेम्म । [एवं
एव खलु तयो राघामाधवयो प्रेम ।] ॥१३॥

इस विचित्र जगत् मे किसी किसी विषय मे किसी का बिना कारण
प्रेम हुआ करता है । देखो न, अगस्त्य तारा के उदित होने पर सब जगह
खञ्जन पक्षी देखने मे आता है, परन्तु उसके अस्त हो जाने पर हाय ! वह
खञ्जन पक्षी फिर वही नहीं देखता । (यह है खञ्जन का अगस्त्य के प्रति
बिना कारण प्रेम) ॥१०॥३॥

मधुमङ्गल—कैसे होते है बिना-कारण प्रेम के लक्षण ? ॥११॥

पौर्णमासी—देख, जिस मे प्रसादा उदासीनता को प्रकाशित कर
चित्त मे वेदना उत्पन्न करती है (अर्थात् प्रेमास्पद यदि प्रसादा करें तो वह
उसकी उदासीनता को सूचित करती है, जिससे चित्त मे दुख होता है)
और जिस मे (प्रेमास्पद) यदि निन्दा करे तो उसे परिहास जान कर
आनन्द होता है, वह है बिना कारण या सहज प्रेम । इस प्रेम की क्रिया
किसी दोष को देखकर ह्रास को प्राप्त नहीं होती और न किसी गुण को
देखकर वदित ही होती है ॥१२॥४॥

मधुमङ्गल—निश्चय ही राघा माधव का ऐसा ही प्रेम है ॥१३॥

पीर्णमासी—वत्स । किमुच्यते ? माधुर्यंससगिणो नैसगिकस्य
परस्परवत्तनानां विदग्धमियुनानां प्रेमशृङ्खलाबन्धस्य परमोत्कर्षरेखायां
दृष्टान्तं किल राधामाधवयोर्भावामृतभूमा ॥१४॥

वृन्दा—भगवति । श्रूयताम्—

यष्टि वष्टि न पाणिना कल्पितुं शृङ्गे न सङ्गाथितां
धत्ते धातुभिरङ्गमण्डनमयीं नाङ्गीकरोति रिषाम् ।
पर्यां वादयते न वृणितममास्तीरे कृतान्तस्वसु
कितूस्फलाभ्यसि मुक्तविभ्रमगुणग्रामोऽद्य दामोदर ॥१५॥

पीर्णमासी—(सपेदम्) किमिदम् ? ॥१५॥

मधुमङ्गल—ललिताकोटिलेण । [ललिताकोटिल्येन ।] ॥१७॥

पीर्णमासी—नूनं ललितया हठानुवर्तितमाना वतंते राधिका ॥१८॥

वृन्दा—अथ किम् ॥१९॥

पीर्णमासी—वेटा । तुम से अधिक क्या कहूँ ? परस्पर प्रिय रतिक
सब दम्पतियों के माधुर्य सम्बन्धी स्वाभाविक प्रेम का जो शृङ्खला-बन्धन
है, उसका परम उत्कृष्ट दृष्टान्त-स्थल स्वरूप है राधा माधव का भावामृत-
समूह ॥१४॥

वृन्दा—भगवति सुनो—

—आज दामोदर हाथ में लाठी धारण करने की इच्छा नहीं करता
और न ही शृङ्ग-ध्वनि द्वारा किसी को सकेत करने की । गैरिक धातुओं
द्वारा न तो वह अपने अङ्गों को भूषित ही करना चाहता है और न ही
पल वाद्य करने को उसकी इच्छा है । उसका मन घूम रहा है और यमुना
किनारे समस्त गुण विनासो को छोड़ कर वह केवल वलान्त होकर बैठा है,

पीर्णमासी—(दुःखपूर्वक) ऐसा क्यों ? ॥१६॥

मधुमङ्गल—ललिता की कुटिलता से ॥१७॥

पीर्णमासी—निश्चय ही ललिता की छोटी चालों पर चलती है राधा ।

वृन्दा—और क्या ? ॥१९॥

पौर्णमासी—न जाने क खल्वद्य ललितादयः ॥२०॥

वृन्दा—तासामुद्देशाय मया सुबल प्रेषितोऽस्ति ॥२१॥

(प्रविश्य)•

सुबल—अज्जे ! वन्देमि । [आर्ये ! वन्दे ।] ॥२२॥

पौर्णमासी—सुबल ! क दृष्टा राधादयः ? ॥२३॥

सुबल—सुहराघरोवन्तवट्टिणो रसालस्स मूले । [मुखरागृहोपान्त-
वर्तिनो रसालस्य मूले ।] ॥२४॥

पौर्णमासी—वत्स मधुमङ्गल ! तूखंमनुसृत्य राधिकामभिसारय-
न्त्यस्मि, तवेतया सूक्तिचन्द्रिकाया त्वमानन्दयमुकुम्भम् ॥२५॥

(मधुमङ्गलः सहर्षं निष्क्रान्तः)

वृन्दा—(जनान्तिकम्) सुबल ! मया समर्पितं पत्रं त्वया किं नाम
विशाखायां संचारितम् ? ॥२६॥

सुबल—अद्य इं । [अयं किम् ।] ॥२७॥

पौर्णमासी वृन्दे ! यावत्प्रसाद्य प्रसाध्य च राधां संचारयामि

पौर्णमासी—न जाने नलितादि आज कहाँ हैं ? ॥२०॥

वृन्दा—उनको देखने के लिए भेज दिया है मैं ने सुबल को ॥२१॥

(प्रवेश कर)

सुबल—आर्ये ! प्रणाम करता हू ॥२२॥

पौर्णमासी—सुबल ! कहा देखी हैं राधादिक ? ॥२३॥

सुबल—मुखरा के घर के पास वाले आम वृक्ष के नीचे ॥२४॥

पौर्णमासी—बेटा मधुमङ्गल ! मैं तो शीघ्र जाकर राधा को अभि-
सार कराती हू और तुम जाकर इस ममुर सन्देश-चन्द्रिका द्वारा कृष्ण को
आनन्दित करो ॥२५॥

मधुमङ्गल सहर्षं चला जाता है ।]

वृन्दा—(हाथ की ओट में) सुबल ! मैंने जो तुम्हे पत्र दिया था
वह क्या तुमने विशाखा को दे दिया ? ॥२६॥

सुबल—हा—दे दिया ॥२७॥

पौर्णमासी—वृन्दे ! जब तक धीराधा को प्रसन्न कर एव असकृत

तायदधुनायुवाम्पा पुर कदम्बनिकुञ्जे विश्राम्यताम् ॥२८॥
(वृन्दा सुवलेन सह निष्क्रान्ता)

पौर्णमासी—(परिक्रम्य) कथं ललितेतमायाति ? ॥२९॥
(प्रविश्य)

ललिता—भगवदि ! तुम्हें सआस गच्छन्ती हूँ । [भगवति !
तव सकाशं गच्छन्त्यस्मि ।] ॥३०॥

पौर्णमासी—किमर्थम् ? ॥३१॥

ललिता—अञ्जे ! तिणा घुत्तेण पुणो पुणो अवरज्झिदावि पिअसही
साहस अमणिअ सुटठु उक्कण्ठेवि, ता किं करिस्सम् ? [आर्ये ! तेन धूतन
पुनः पुनरपरिज्ञातापि प्रियसखी माधवममत्वा सुपूतकण्ठयति, तस्मिन्
करिस्यामि ?] ॥३२॥

पौर्णमासी—वस्ते ! मुञ्च मुधा कालुष्यम्, नापराध्यति माधव,
किंतु मधुमङ्गलप्रभावितं व लेदाय बभूव ॥३३॥

ललिता—(स्वगतम्) गमावि एध्वं नन्दीमुहीए कधिदम् । अञ्जे

कर मैं यहाँ नहीं आती हूँ, तब तक तुम सामने की कदम्ब कुञ्ज में विश्राम
करो ॥२८॥

[वृन्दा सुवलेन के साथ चली जाती है]

पौर्णमासी—(धूमकर) क्या यह ललिता आ रही है ? ॥२९॥
(प्रवेश कर)

ललिता—भगवति ! मैं तो आपके पास जा रही थी ॥३०॥

पौर्णमासी—किस लिए ? ॥३१॥

ललिता—आर्ये ! प्रिय सखी राधा उस धूतं से पुनः पुनः अपमानित
होकर भी अपना तिरस्कार नहीं मान रही है और फिर उसके लिए ही
उत्कण्ठित हो रही है । अब मैं क्या करूँ ? ॥३२॥

पौर्णमासी—बेटी ! छोड़ो वृथा श्लानि को । माधव का कुछ अपराध
नहीं है, किन्तु मधुमङ्गल की असावधानी ही तुम्हारे दुःख का कारण है ॥३३॥

ललिता—(मन में) हम नन्दीमुखी ने भी यही बात कही थी ।
(स्पष्ट कहती है ।) आर्ये ! देख तो आम वृक्ष के नीचे बैठी राधा कापते-

पेख एया राही रसालस्य मूले कम्पन्ती किपि जप्पदि । [ममापि एवं नान्दीमुख्या कथितम् । आर्ये ! पश्यैषा राधा रसालस्य मूले कम्पमाना किमपि जल्पति ।] (प्रकाशम्) ॥३४॥

(ततः प्रविशति राधा)

राधा—(सानुतापं संस्कृतेन)

कर्णान्ते न कृता प्रियोक्तिरचना क्षिप्तं मया दूरतो

मल्लीदाम निकामपम्यवचसे सख्यै रय. कल्पिताः ।

क्षोणीलभशिखण्डशेखरमसौ नाभ्यर्थयन्नीक्षितः

स्वातं हन्त ममाद्य तेन खदिराङ्गारेण बद्धहृते ॥३५॥६॥

पौर्णमासी—पुत्रि ! प्रच्छन्नमुपसृत्य शृणुवः प्रेमविलासम् ॥३६॥

(इत्युभे तथा स्थिते)

श्रीराधिका—(सचापलम् पुनः संस्कृतेन)

धन्यास्ता हरिणोदृशः स रमते यामिर्नवीनो युवा

(पुन. सशङ्कम्)

स्वरं चापलमाकलय ललिता मां हन्त निन्दिष्यति ।

(पुनः सोत्सुक्यम्)

कापते क्या कह रही है ॥३४॥

(तब वहा अनुताप सहित श्रीरामा प्रवेश करती हैं)

श्रीराधा—हाय ! मैंने हित की सब बातों पर कान नहीं दिया, मल्लिका माला को भी फेंक दिया है, मखीगण मुझे ठीक बात कह रही थी, उन पर भी मैंने क्रोध किया । और तो क्या मोरमुकुटधारी श्रीकृष्ण ने पृथ्वी पर लुण्ठन हो मेरी प्रार्थना की, तो भी मैंने उनकी ओर नजर उठाकर नहीं देखा । अतः इस कारण आज मेरा अन्त करण खदिर-अङ्गारों में बार-बार जला जा रहा है ॥३५॥६॥

पौर्णमासी—बेटी ललिते ! चन, छिप कर निकट से श्री राधा के प्रेमविलास को सुनें ॥३६॥

(यह कहकर दोनों बैसा ही करती हैं)

श्रीराधिका—(चपलता सहित) वे समस्त नवीन युवक धन्य हैं जो

गोविन्दं परिरब्धुमिन्दुमदनं हा चित्तमत्कण्ठते
(पुनः सामर्पम्)

धिग्वामं विधिमस्तु येन गरलं मानाभिधं निर्ममे ॥३७॥७॥

ललिता—(स्वगतम्) अदक्षिणो ! चिट्ट चिट्ट सअं जेव कण्हं
निराकदुअ भृङ्गीए में वूसेसि । [अदक्षिणो ! तिष्ठ तिष्ठ स्वयमेव कृष्ण
निराकृत्य भृङ्ग्या मां दूषयसि ।] ॥३८॥

श्रीराधिका—(भृङ्गीमवेक्ष्य संस्कृतेन)

कृमिरपि नमितात्मा हन्त वृन्दावनेऽस्मिन्
कलयति निजमौलौ वर्हमौलेनिदेशम् ।
अनुनयति मुहुर्मा नेतुकामालिनीयं
यदमलमधुरोक्तिस्तस्य दृष्टिं शठस्य ॥३९॥८॥

पौर्णमासी—(सनमंस्मितम्) निखिलमेव वृन्दाटवीप्रायिवृन्धं
दूतीभूतमियं मन्यते महामानिनी ॥४०॥

मृगनैनियों के साथ विहार करते हैं । (शंका सहित) हाय ! यदि ललिता मेरी इस चपलता को जानेगी तो मेरी निन्दा करेगी । (उत्साह सहित) आह ! चन्द्रवदन गोविन्द को आलिंगन करने के लिए मेरा चित्त उत्कण्ठित हो रहा है । (क्रोध पूर्वक) जिसने मानरूप विष का निर्माण किया है, उस प्रतिकूलाचारी विघाता को धिक्कार है ॥३७॥७॥

ललिता—(मन मे) हे वक्र ! ठहर जा, स्वयं श्रीकृष्ण को परित्याग कर बहाना लगाकर मुझे दोष दे रही है ? ॥३८॥

श्रीराधिका—(भृङ्गी-कीट को देखकर) हाय ! इस वृन्दावन में कृमि भी विनम्र चित होकर रहते हैं एवं मोर भी उस मोरपुच्छधारी के आदेश को सिर पर धारण करते हैं । यही कारण है कि यह भृङ्गी अपनी मधुर वाणी से मुझे उस शठ-कृष्ण के सामने जाने के लिए बार-बार अनुनय कर रहा है ॥३९॥८॥

पौर्णमासी—(परिहास सहित मुस्काते हुए) यह महामानिनी राधा वृन्दावन के समस्त प्राणियों को अपनी दूती ही मानती है ॥४०॥

श्रीराधिका—(प्रेमावेश नाटयन्ती सचमत्कारम्) कथं एसो मं मोट्टिअं परिरद्धुं उवसण्णो कण्हो ? [कथमेव मां वलात्कारेण परिरब्धु-मुपसन्नः कृष्णः ?] ॥४१॥

पौर्णमासी—गम्भीरानुरागविवर्तोऽयम्, यदस्यां माधवस्य विस्फुरणम् ॥४२॥

श्रीराधिका—(सहंकारं परावृत्य) हन्त भो वङ्ककलासालि चन्दाभ-लीकोड्विरासङ्गमङ्गुरकुरङ्ग ! अवेहि अवेहि । एसो तुमं परिहविज्जसि मए । [हन्त भो वक्रकनाशालिन् ! चन्द्रावलीकोड्विरासङ्गमङ्गुरकुरङ्ग ! अपेहि, अपेहि एव त्व परिभविष्यसि मया ।] ॥४३॥

(इति कर्णोत्पल क्षिपन्ती संसृतेन)

यमुनातीरकदम्बा. संप्रति मम हन्त साक्षिणो यूयम् ।

एव वलाग्नामबलां गोकुलधूर्तं कदर्थयति ॥४४॥६॥

पौर्णमासी—ललिते ! परां कोटिमधिरुद्धा राधिकोत्कण्ठा, तवियं त्वरितमभिसार्यताम् । ४५ ।

ललिता—(परिक्रम्य) हसा राहि ! एका जेव कि मन्नेसि ?

श्रीराधिका—(प्रेमावेश प्रकाशित करती हुई आश्चर्य सहित) क्या यह कृष्ण बलपूर्वक मुझे आलिंगन करने के लिए आ गया है ? ॥४६॥

पौर्णमासी—यह गम्भीर अनुराग की पराकाष्ठा है, जो इसे श्रीकृष्ण की स्फूर्ति हो रही है ॥४७॥

श्रीराधिका—(हँकार सहित धूमकर) अरी वङ्ककला-शालिनि ! तुम बहुत देर तक चन्द्रावली की गोद की क्रीड़ामृग रही हो, दूर हो, मैं तुम्हारा तिरस्कार करती हूँ । (इस प्रकार कहकर कर्णोत्पल को फेंक देती है और फिर कहती है) ॥४८॥

हे यमुना किनारे के समस्त वृक्षो ! अब तुम मेरे साक्षी (गवाह) रहना । यह गोकुलधूर्त जबरदस्ती मुझ अबला को कलङ्कित कर रहा है ॥४९॥६॥

पौर्णमासी—ललिते ! श्रीराधा की उत्कण्ठा चरमसीमा तक पहुँच चुकी है, इसलिए शीघ्र इसे अभिमार कराओ ॥५०॥

[हला राधे ! एकैव किं मन्त्रयसि ?] ॥४६॥

श्रीराधिका—(ललितामालोक्य स्वगतम्) पधं सञ्जं जेव्व एषकम्हि,
जे कण्हो ज दोसइ ? हला सल्लिदे ! [कथं सत्यमेवैकास्मि, यत्कृष्ण
दृश्यते ? हला ललिते !] (इति प्रकाश शोत्सुक्यम्) ।

परतणुपवेसविज्जा कहमिह सामेण कामिणा पठिदा ?

महं हिए माणम्मो पविसिअ जिह्वाविदो जेण ॥

[परतनुप्रवेशावद्या कथमिह दयामेन कामिना पठिता ?

मम हृदये मानाग्निः प्रविश्य निर्वापितो येन ॥] ॥४७॥१०॥

(प्रविश्य)

विशाला—हला ! सुवलहत्यादो लद्धा इअं पत्तिआ । [हला !
सुवलहस्ताल्लघ्येय पत्तिआ ।] ॥४८॥

ललिता—(गृहीत्वा वाचयति)

मेध्योऽपि माधविकया मधुपो यवेय,

क्षिप्तं स्वयं प्रचसता नवपत्तयेन ।

तस्याः छलु क्षतिरिवं सुयमासयेण

ललिता—(सामने आकर) हे राधे ! अकेली बंठी क्या मन्त्रणा कर
रही हो ? ॥४६॥

श्रीराधिका—(ललिता को देखकर मन ही मन में) सच है, मैं
अकेली ही हूँ, कृष्ण तो दीखते नहीं हैं । (उत्सुकता पूर्वक)

हे ललिते ! दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की विद्या क्या कामुक
कृष्ण ने अध्ययन की है ? क्योंकि उसने मेरे हृदय में प्रवेशकर मान-अग्नि
को गुत्ता दिया है ॥४७॥१०॥

[विशाला प्रवेश करती है]

विशाला—सगि ! सुवल के हाथ से यह पत्र प्राप्त हुआ है ॥४८॥

ललिता—(पत्र हाथ में लेकर पढ़ती है) माधवी अपने स्वप्रचलित
नवीन पत्तबरुणी हाथ से निर्दोष माधुकर को यदि दूर हटाती है, तो इसमें
माधवी की ही हानि है, क्योंकि माधुकर से ही माधवी की सोया है । इसलिए

नन्दत्ययं तु विस्वन्नरविन्दिनीषु ॥४६॥११॥

श्रीराधिका—(सविपादम् संवृत्तेन)

अजनि विमुखः शङ्खे पङ्केरुहासि विषक्षणे

मयि मधुरिपुर्दोषधेणीविहारवनश्रियाम् ।

अकलितरसः सूचीविद्धो रजः प्रसरान्धधी-

मं मधुरयुवा किं केतव्यां विरक्तिमुपेक्ष्यत ॥४७॥१२॥

(इति वैवल्यं-नाट्यति)

पीर्णमासी—न हि दग्धेण चन्द्रिकाया मोक्षः कदापि संभवति ॥४८॥

विशाखा—हला ! समास्तस समास्तस, तुह उक्कण्ठिदं तत्तिअ मए कण्हपडत्ति विण्णावुं णन्दोमुहो पेसिदत्थि । [सखि ! समाश्वसिहि । समाश्वसिहि तवोत्कण्ठित तत्तिवा मया कुप्पणप्रवृत्ति विज्ञातुं नान्दीमुखी प्रेषितास्ति ।] ॥४९॥

(प्रविश्य)

शोभा रहित होने पर मधुकर भी उसे त्याग कर पश्चिमी के पास जाकर आनन्द अनुभव करेगा ॥४६॥११॥

श्रीराधिका—(दुःखपूर्वक) हे कमलनयने ! मैं दोषों की विहार-भूमि स्वरूपा हूँ । उस सर्व रजः कृष्ण ने क्या मुझसे मुँह फेर लिया है ? (यह उचित नहीं है) देख, युवक मधुकर को यद्यपि केतिकी से रस नहीं मिनता है बल्कि उसका कण्ठ उससे घायल हो जाता है एवं उसकी पुष्परज से अन्धा हो जाता है, फिर भी वह क्या कभी केतिकी से विरक्ति प्रवाश करता है ? ॥४७॥१२॥

[यह कहकर व्याकुल हो उठती है]

पीर्णमासी—चन्द्र से चान्दनी का वियोग कभी सम्भव नहीं है । ५१॥

विशाखा—सखि ! धीरज धरो, धीरज धरो, तुम्हारी उत्कण्ठा को जानकर मैं ने श्रीकृष्ण के हृदय की बात जानने के लिए नान्दीमुखी को भेजा है ॥४९॥

नान्दीमुखी—(संस्कृतेन)

मृदुरपि निसर्गतस्त्वं कथमाद्रं माधवे कठोरासि ।

अथवा नवनीतपुटी हिमद्रवे कषखटा प्रक्षि ॥५३॥१३॥

श्रीराधिका—हला ! अवि नाम सुहं वददि माहवो ? [सखि !
अपि नाम सुखं वर्तते माधवः ?] ॥५४॥

नान्दीमुखी—(संस्कृतेन)

क्षणमपि न सुहृद्भिर्नर्मगोष्ठिं विधत्

रक्षयति न च चूडां चम्पकानां धयेन ।

परमिह मुरवैरी योगिवन्मुक्तभोग-

स्तव सखि मुखचन्द्रं चिन्तयन्निवृणोति ॥५५॥ १४॥

श्रीराधिका—(विशाखां परिष्वज्य संस्कृतेन)

भूयो भूयः कलिविलसितः साररायापि राधा

इलाध्येनाहं यदधरिपुणा बाढमङ्गीकृतास्मि ।

तत्र क्षामोदन् किमपरं कारणं यः सखीनां

दत्तामोदां प्रगुणकरणामञ्जुरीयन्तरेण ? ॥५६॥१५॥

[नान्दीमुखी प्रवेश करती है]

नन्दीमुखी—राधे ! तुम तो स्वभाव से कोमल हो, फिर दीन-स्वभाव श्रीकृष्ण के प्रति क्यों कठोर हो रहो हो ? मैं समझती हूँ तुम्हारा कोई दोष नहीं है। धर्म की क्षीनता से भवत्वन में भी कठोरता देखी जाती है ? ॥५३॥१३॥

श्रीराधिका—सखि ! माधव मुझ पूर्वक तो हैं ? ॥ ५४॥

नन्दीमुखी—राधे ! श्रीकृष्ण एक क्षण के लिए भी सरा-बन्धुओं के साथ परिहास नहीं करते एव न ही चम्पक पुण्य द्वारा यह करना बूढ़ा मान्यते हैं। बस योगियों की भाँति भोगों को छोड़ कर तेरे मुखचन्द्र की चिन्ता करने में ही मुरा अनुभव करते हैं ॥५५॥१४॥

श्रीराधिका—(विशाखा को आलिंगन करते हुए) हे कुन्दोदरी !

(नेपथ्ये)

गर्योदग्रा कलमविकल तन्वतामन्यपुष्टा
निध्रप्रत्यूह मृगयुवतय सत्यमास्वादयन्तु ।
सोमन्तिन्यो गृहनयमयो शीलयन्तु प्रणालीं
धूर्तो वेणुविहरति वरे नाद्य पीताम्बरस्य ॥५७॥१६॥

श्रीराधिका—(वशीमुद्राठ्ठय सोपालम्भम् सस्कृतेन)—

रुद्ध शतस्तव जनि पुरुषोत्तमस्य
पाणौ स्थितिर्मुर्लिके सरसासि जात्या ।
कस्मात्स्वया सखि गुरोर्विषमा गृहीता
गोपाङ्गनागणविमोहनमन्त्रदीक्षा ॥५८॥१७॥

विशाखा—हला ! अस्मिरिधा इअ वशी, ज माख्दाहिमुहीकिदा

यह राधा बहुत बार बलह-मान लीला कर बहुत अपराध करते हुए भी,
उस प्रशसनीय श्रीकृष्ण के द्वारा जो अतिशय अमीकृत हो रही है, इसमें
मुख प्रदायिनी तुम सखियों की असीम करुणा को छोड़कर और कोई
कारण है क्या ? (तुम्हारी करुणा ही इसमें एकमात्र कारण है) ॥५६॥

(वेश-भूषा गृह से)

ओ मत्त कोकिलाओ ! तुम अब स्वच्छन्द होकर ऋह-ऋह कलरव
करो, हे मृगगण ! तुम भी अब निविघ्न होकर तृणों का आस्वादन करो
और ओ कुलरमणियो ! तुम भी अब गृहधर्म की नीतिपूर्ण प्रणाली का
अनुशीलन करो, क्योंकि आज श्रीकृष्ण के हाथ में वह धूर्त वेणु बिहार
नहीं कर रही है ॥५७॥१६॥

श्रीराधिका—(वशी को निकालकर तिरस्कार पूर्वक) हे मुरलिके !
तुम्हारा सदैवश में जन्म हुआ है और सदा पुरुषोत्तम के हाथों में तुम रहती
ही तया तुम्हारी जाति भी सूधी-सादी है । हाय सखि ! तुमने फिर गोपियों
को विमोहन करने वाली विषम मन्त्र-दीक्षा गुरु से किस लिए ग्रहण
की है ? ॥५८॥१७॥

विशाखा—हे सखि ! इस वशी में यही बड़ा आश्चर्यमय गुण है कि

सअं सहाएदि । [सखि ! आश्चर्य्यं वंशी, यन्माहताभिमुखीकृता स्वयं
शब्दायते ।] ॥५६॥

श्रीराधिका—सहि ! परिषिञ्जतम् । [ससि ! परीक्षित्ये ।] (इति
तथा करोति) ॥६०॥

विशाखा—मुणिज्जउ मधुरा काप्रली । [श्रूयतां मधुरा वाकली ।]

ललिता—सम्बरेहि, सम्बरेहि मा सुणाहु कण्हस्स परिवारः ।
[सम्बर सम्बर, मा सुणोतु कृष्णस्य परिवारः ।] ॥६२॥

(प्रविश्य)

वृन्दा—(प्रच्छन्नम्) भगवति ! न वदसि वंशी देयेति श्रुतं मया
ललितादुर्मन्त्रितम् । ॥६३॥

पीर्णमासी—वत्से ! श्रुक्तिमायस्यां करिष्यामि ॥६४॥

(प्रविश्य)

जटिला—पूरां द्वयो कण्हेण मिलिदं जं मुरली वादिदा । (विलोक्य)
धम्मो, कहं चारिसहाणधीहत्थे कण्हस्स वंसी ? ता णिण्हवं गडुअ णं

हवा के सामने रखते हो यह स्वयं शब्द करने लगती है ॥५६॥

श्रीराधिका—सखि ! इसकी परीक्षा करती हूँ । (यह कहकर वंशी
को मुँह के आगे रखती है) ॥६०॥

विशाखा—कैसा मधुर शब्द सुनाई दे रहा है ॥६१॥

ललिता—यन्द करो, बन्द करो, कृष्ण के परिवार वर्ग न सुन लें ॥६२

[वृन्दा प्रवेश करती है]

वृन्दा—(धीरे से) भगवति ! मैं ने ललिता की यह दुर्मन्त्रणा सुनी
है कि वह कभी भी वंशी नहीं लौटाएगी ॥६३॥

पीर्णमासी—पुत्ति ! वाद में मैं युक्ति करूँगी ॥६४॥

[जटिला प्रवेश करती है]

जटिला—वंशी का शब्द है तो यहाँ निश्चय ही कृष्ण मौजूद है ।
(ध्यान पूर्वक देखकर) ओ ! राधा के हाथ में कृष्ण की वंशी कैसे ? (यह

गेण्डिहरसम् । (इति सहसोपसृत्य सामर्पम्) अयि दुर्विणीदगोआलपुत्ति । मुञ्च मुरलिअम् । [नूनमित कृष्णन मिलित, यन्मुरली वादिता । अहो ! कथं वार्पभान वीहस्ते कृष्णस्य वशी ? तन्निभृत गत्वा एना ग्रहीष्यामि । अयि दुर्विनीतगोपालपुत्रिके ! मुञ्च मुरलिकाम् ।] (इत्याकृष्य गृह्णाति) ॥६५॥

ललिता—(अपवार्यं) हट्टी हट्टी वक् पमादो पमादो । कथं बुद्धिआए अ विकद मुरली आअट्टिदा ? [हा धिक् हा धिक्, प्रमाद प्रमाद कथं वृद्धया अतर्कित मुरली आकृष्टा ?] ॥६६॥

जटिला—ए वपु भगवदोए पोणमासीए दसइस्सम्, जा मज्ज भणिद ण पट्टिआएदि । [एना खलु भगवत्यै पोणमास्यै दर्शयिष्यामि, या मम भणित न प्रत्येति ।] ॥६७॥

पोणमासी—पुत्रि वृन्दे, गहन कष्टमापतितम् । पश्य जटिला मनोद-जदिहा प्रयाति ॥६८॥

वृन्दा—भगवति ! मा चिन्तय । क्षिप्रससी मुरलीं लुण्ठयामि । (इति निष्क्रान्ता) ॥६९॥

ललिता—(सभयमनुसृत्य) अज्जे ! कीस अत्तीअं सङ्कुत्ति, ज एसा कासिन्दीकूलम्हि अम्हेहि सट्ठा । [आयें ! कस्मादलीक शङ्कुसे, यदेपा

कहकर एकदम निकट जाकर कोवपूर्वक) अरी दुर्नीत गोपपुत्रि ! छोड़ दे वशी को । (यह कहकर वशी को खींच लेती है) ॥६५॥

ललिता—(ओट करके) हाय ! हाय ! कैसा प्रमाद ! इस जटिला ने आकर कैसे मुरली छुड़ा ली ? ॥६६॥

जटिला—इस मुरली को मैं भगवती पोणमासी को दिखाऊंगी, जो मेरी बात का विश्वास नहीं करती है ॥६७॥

पोणमासी—पुत्रि वृन्दे ! महान विपत्ति में पड़ गई हूँ, देख जटिला मेरी पर्णकुटि की आर जा रहो है ॥६८॥

वृन्दा—भगवति ! चिन्ता मत करो । मैं अभी मुग्घी छुड़ा लाती हूँ । (यह कहकर चली जाती है) ॥६९॥

ललिता—(भयमहित जटिला के पास जाकर) आयें ! तुम बिना

कालिन्दीकूलेऽस्माभिलब्धा ।] ॥७०॥

जटिला—(सरोपम्) चपले दुम्हन्तिणि, चिट्ट चिट्ट । [चपले दुर्मन्त्रिणि, तिष्ठ तिष्ठ ।] ॥७१॥

(प्रविश्य)

सुबलः—अज्जे जडिले, पेक्ख दहिलम्पटा मक्कडो तुज्झ घरं पविसइ ।
[आर्य जटिले, पइय दधिलम्पटा मकंटी तत्त गृहं प्रविशति ।] ॥७२॥

जटिला—(साचिग्रीवमालोवय) सुटल, रुच्चं वहेसि । मक्खज-
छोरिणी एसा मक्कडो । [सुबल, सत्य कथयसि । नवनीतचौरिण्येया मकंटी ।
(इति परावृत्य धावन्तो निष्क्रान्ता) । ७३॥

पौर्णमासी—नूनं वृन्दया प्रेरितास्ति कषखटीयं नाम जरन्मकंटी ॥७४॥

सुबलः—णन्दीमुहि । पेक्ख पक्खित्तेण वेणुणा मूढजडिलाए]
मक्कडो ताडिदा । [नान्दीमुखि, पइय । प्रक्षिप्तेन वेणुना मूढजटिलया मकंटी
ताडिता ।] ॥७५॥

पौर्णमासी—(सहपंम्) दिप्पद्या मुरलीवादाय कषखटीयं कदम्ब-

बात क्यों शंका कर रही हो ? यह मुरली तो हमें यमुना तट पड़ी पाई
है ॥७०॥

जटिला—(क्रोधपूर्वक) चपले दुर्मन्त्रिणि ! चुप रहो ॥७१॥

[सुबल प्रवेश करता है]

सुबल—आर्य जटिले ! देख एक दधि-नम्पट वन्दरी तुम्हारे घर में
घुस गई है ॥७२॥

जटिला—(गर्दन धुमाकुर देखते हुए) मुवन ! तू सत्य कहता है, यह
वन्दरी माखन खा जाया करती है । (यह कहकर जटिला पीछे की ओर
भाग कर चली जाती है) ॥७३॥

पौर्णमासी—निअय हो वृन्दा ने इस वन्दरी को भेजा है ॥७४॥

सुबल—नान्दीमुखि ! देख, मूर्ख जटिला ने वंशी फेंक वन्दरी को
भगा दिया है ॥७५॥

पौर्णमासी—(आनन्दपूर्वक) सीमाग्यवश वन्दरी मुरली लेकर कदम्ब

मधिरुद्धा । ७६॥

(सर्वा. प्रहर्ष नाटयन्ति)

(प्रविश्य)

जटिला—हृद्वी वच्छ सुवल, हत्यादो मे मुरली गदा । ता तुज्ज
णिम्मञ्जणं जामि । समप्पेहि मे वसिअम् ।। [हा धिक् वत्स सुवल,
हस्तान्मे मुरली गता । तस्मात्तव निमन्थनं यामि । समर्पय मे वशिकाम् ।]

सुवल—अज्जे, जहत्थणामा एसा कषखटी केअलं तुज्ज बहिणी-
पुत्तादो विसालादो भाएदि । ता गोवद्धणसिङ्गे खेलन्त एं गवुअ अभ्यत्थेहि ।
[आर्ये, यथार्थनामा एसा कषटी केवल तव भगिनीपुत्राद्विशालाद्विभेति ।
तद्गोवर्धनशृङ्गे खेलन्तमेन गूत्वाम्यर्पय ।] ॥७८॥

(जटिला निष्क्रान्ता)

पौर्णमासी—दिष्ट्या ध्याजेन जरती बूरभपसारं धूर्तोऽयं भूवि-
भ्रमेण ललिता स्वरयति ॥७९॥

ललिता—(नेत्रप्रान्त वृणयन्ती) हला राहि, एहि । वेणुं मागन्हे ।
[हला राधे, एहि । वेणु मार्गधाव ।] ॥८०॥

पर चढ गई है ॥७६॥

(सब प्रसन्नता प्रकाश करते हैं) (जटिला प्रवेश करती है)

जटिला—हाय ! हाय ! अरे बेटा सुवल ॥ मेरे हाथ से तो मुरली
निकल गई । मैं तेरी बलिहारी, मुझे बशी लाकर दे दे ॥७७॥

सुवल—आर्ये ! मैं तुम्हें यथार्थ बताता हूँ । यह बन्दरी केवल तुम्हारे
भाजे विशाल से डरती है (और किसी से नहीं) इस समय विशाल गोवर्धन
पर खेल रहा है, उसे बुला ले ॥७८॥

(जटिला चली जाती है)

पौर्णमासी—क्या अच्छा हुआ ! बहाना बनाकर जटिला को इसने
भगा दिया । अब यह धूर्त आल के इसारे से ललिता को जल्दी करने की कह
रहा है ॥७९॥

ललिता—(नेत्र प्रान्त को सकुचित करती हुई) सखि राधे ! आओ
बशी को दूँ ॥८०॥

श्रीराधिका—(स्वगतम्) दिदृक्षा अहिसारेदि मम् । [दिष्ट्या-
भिसारयति माम् ।] ॥८१॥

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

मुखरा—विसाखे, अहिमणू संदिसइ—अज्ज जीइतिआणं उपदेसेण
मए गोमङ्गला णाम चण्डी पूअणीज्जा । ता पूअणोपहारं घेतूण तुमं
चेच्चखस्स तले राहिअ लम्भय ति । [विशाखे, अभिमन्युः सदृशति—
अद्य ज्योतिषिकानामुपदेशेन मया गोमङ्गला नाम चण्डी पूजनीया ।
तत्पूजनोपहारं गृहीत्वा त्वं चैत्यवृक्षस्य तले राधिका सम्भयेति ।] ॥८२॥

श्रीराधिका—(सखेदमपवार्यं) हन्त, दुर्देवस्स पाडिउल्लम् । [हन्त,
दुर्देवस्य प्रातिकूल्यम् ।] (इति ललितामुखमीशते) ॥८३॥

ललिता—हला, सच्चणामा एसो अहिमणू । ता गदुअ पूअणो-
पहारं संपादेम्ह । [हला, सत्यनामा एपोऽभिमन्युः । ततो गत्वा पूजनो-
पहारं संपादयामः ।] ॥८४॥

(इति सर्वा निष्क्रान्ताः)

श्रीराधिका—(मन मन मे) मेरे सौभाग्य से मुझे यह अभिसार करा
रही है ॥८१॥

(अचानक मुखरा प्रवेश करती है)

मुखरा—विशाखे ! अभिमन्यु ने कहला भेजा है—आज ज्योतिषियों के
आदेशानुसार मैं गो मङ्गला नाम की चण्डी की पूजा करूँगा । इसलिए तुम
पूजा की सामग्री इकट्ठी कर चैत्य वृक्ष के नीचे राधा को लेकर आ
जाओ ॥८२॥

श्रीराधिका—(खेदपूर्वक घूँघट करके) हाय ! दुर्देव को कैसी प्रति-
श्रुतता है ॥ ८३॥

(यह कहकर ललिता के मुख की ओर देखती है)

ललिता—राधे ! सचमुच इसका नाम अभिमन्यु (क्रोधमय) है ।
इसलिए हम जाकर पूजा की सामग्री इकट्ठी करती हैं ॥८४॥

(यह कहकर सब चली जाती हैं)

पौर्णमासी—(सुवलमनुसृत्य सव्यथम्) वत्स, दुःसमाधानेयं गति-
रुपस्थिता । तदद्य वृन्दया सह गत्वा समाश्वस्यतां त्वया पाटवेन पुण्ड-
रीकाक्षः । मया तु प्रामाणिकपुरंध्रीणां गोष्ठीमासाद्य जटिलाकीटिल्पं
चर्णयिष्यते । (इति निष्क्रान्ता) ॥८५॥

सुवलः—(परिक्रम्य) एसा तमालतले डाहिणहत्थे गहीदवंसिआ
बुग्दा चिट्ठइ । [एसा तमालतले दक्षिणहस्ते गृहीतवंशिका वृन्दा तिष्ठति ।]

(प्रविश्य)

वृन्दा—भोः सुवल, विलोकितसर्वार्थास्मि । तदलं तद्वातंया ॥८७॥

सुवलः—बुन्दे, तुरिअं एहि । वेणुं जेध्य उवहरम्ह । [वृन्दे,
त्वरितमेहि । वेणुमेवोपहरावः ।] ॥८८॥

(इत्युभौ परिक्रामतः)

सुवलः—बुन्दे, मधुमङ्गलेण बद्धिदुष्कण्ठो पिअवअस्सो मार्गं ज्जेअ
पेवखन्तो चिट्ठइ । ता ण जाणे अकिदत्थाणं अम्हाणं तरथ गमणे का तस्स
बसा भवे । [वृन्दे, मधुमङ्गलेन बधितोत्कण्ठः प्रियवयस्यो मार्गमेव पश्यं-

पौर्णमासी—(सुवल के पास जाकर दुलपूर्वक) घेटा ! बड़ी पेचिदा
अवस्था बन गई है । इसलिए तू वृन्दा के साथ जाकर श्रीकृष्ण को अपनी
बाणी-कुशलता से आश्वस्त कर और मैं भी वृन्दा पुरस्त्रियों की समा में
जाकर जटिला की कुटिलता बताऊँगी । (यह कहकर पौर्णमासी चली
जाती है) ॥८५॥

सुवल—(धूमकर) देखो, इस तमाल वृक्ष के नीचे दक्षिण हाथ में
वंशी लिए वृन्दा बैठी है ॥८६॥

(वृन्दा प्रवेश करती है)

वृन्दा—सुवल ! कुछ देर मैं ने स्वयं ही देखा है, फिर उसे पहने का
क्या प्रयोजन ? ॥८७॥

सुवल—वृन्दे ! जल्दी आओ, कृष्ण को यह वेणु उपहार में दोगे ॥८८॥

(यह कहकर दोनों लौट आते हैं)

सुवल—वृन्दे ! मधुमङ्गल के साथ प्रिय सखा कृष्ण बैठे राह तक
रहे हैं । इसलिए न जाने हमारे बिना कार्य साथे बहा जाने पर उनकी क्या

स्तिष्ठति । तन्न जानेऽकृतार्थानामस्माकं तत्त गमने का तस्य दशा भवेत् ।]

वृन्दा—सुवल, सत्य ब्रवीषि । पश्यायं पुंनागतरोरूपकण्ठे समु-
त्प्लव्यते कंसारिः ॥६०॥

सुवलः—वृन्दे, भणामि । चिन्तेहि युक्तिम् । [वृन्दे, भणामि ।
चिन्तय युक्तिम् ।] ॥६१॥

वृन्दा—(विमृश्य) सुवल, गोविन्दस्य क्षणविनोदाय चिन्तिती-
पायास्मि । तवेहि । तस्मिन्पक्षे वेशं भजावः ॥६२॥

(इति निष्क्रान्ती)

(ततः प्रविशति मधुमङ्गलेनोपास्यमानः कृष्णः)

श्रीकृष्णः (सौसुवयम्)

राधा पुरः रफुरति पश्चिमतश्च राधा
राधाधिसम्यमिह दक्षिणतश्च राधा ।
राधा खलु क्षितितले गगने च राधा
राधामयो मम वभूव कुतस्त्रिलोकी ॥६३॥१८॥

दशा होती ? ॥६६॥

वृन्दा—सुवल ! तुम सच कहते हो, यह देखो पुष्पाग वृक्ष के नीचे
कृष्ण उत्कण्ठा पूर्वक बैठे हैं ॥६०॥

सुवल—वृन्दे ! इसीलिए मैं कहता हूँ कोई युक्ति सोचो ॥६१॥

वृन्दा—(सोचकर) सुवल ! श्रीकृष्ण के थोड़ी देर के विनोद के
लिये उपाय सोच लिया है । आओ उसके सम्पादन करने के लिए जल्दी
करें ॥६२॥

(यह कहकर दोनों चले जाते हैं)

(तब मधुमङ्गल द्वारा सेवित श्रीकृष्ण प्रवेश करते हैं)

श्रीकृष्ण—(उत्सुकता पूर्वक) मेरे आगे राधा है, पीछे राधा है, दायें
राधा और बायें राधा, पृथ्वी पर राधा, और आकाश में राधा ही मुझे
दीरघती है । अहो ! मेरे लिए यही तीनो लोक राधामय क्यों हो रहे हैं ? ॥६३॥

मधुमङ्गलः—प्रियव्रत ! भगवदो ए अहिसारिव दाणि जेध्व
पेविवस्मसि राहिरम् । [प्रियवयस्य, भगवत्याभिसारितामिदानीमेव
प्रेक्षिष्यसे राधिकाम् ।] ॥ ६४ ॥

श्रीकृष्ण — करेणान्तस्तुष्टया सललितमवष्टम्भ्य सलिता-

कराङ्गं राधा भृशमभिसरन्ती सरमसम् ।
किमद्य स्मेराक्षी स्मरपरिमलोत्तासिवलय-
ध्वनिर्मा निर्मास्यत्यनुपमचनरकारचटुलम् ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

मधुमङ्गल — भो, या उत्तमस्त ! कङ्कणमणवहारो सुन्दर । ६६ ॥

(नेपथ्ये)

हला ललिदे देख्य । सो एसो पुण्याअरवखो बीसइ । (पुनस्तत्रैव)
सहि राहे विदुभमरजम्पिद पेखणम् । ता वखण इध जेध्व चिट्ठम् ।
[हला ललिते, पश्य । स एष पुनागवृक्षो दृश्यते । सखि राधे, घृष्ट-
भ्रमरजल्पति पश्येनम् । तत्क्षणमिहैव तिष्ठाम ।] ॥ ६७ ॥

मधुमङ्गल — (सचापलम्) भो प्रियव्रत, वामदो किं न पेच्छसि ।

मधुमङ्गल—हे प्रिय सखे ! भगवती पौर्णमासी अभी ही राधा को
अभिसार करायेगी, तुम उसे देखोगे ॥ ६४ ॥

श्रीकृष्ण—आहा ! श्रीराधा मन में सन्तुष्ट होकर अपने हाथ से
सलिता के सुन्दर अंगूठे को पकड़े हुए कौतुक पूर्वक अभिसार कर मन्द
मुमकान युक्त नेत्रों से वन्द्य सौरभ बखिरने वाली कङ्कणों की ध्वनि से क्या
आज मैं अतिशय चमत्कृत करेगी ? ॥ ६५ ॥

मधुमङ्गल—मिर ! उतावले मत होवो । देखो, श्री राधा के क-
कङ्कणों को झकार सुनाई दे रही है ॥ ६६ ॥

(वेप भूषा घर से आवाज आती है)

सखि ललिते ! देख यह वही पुनाग वृक्ष दीख रहा है । (फिर वही से
आवाज आती है) सखि राधे ! घृष्ट भ्रमरो ॥ आच्छादित इस पुनाग
वृक्ष को देख । थोड़ी देर के लिए हम यहाँ ही ठहरती हैं ॥ ६७ ॥

मधुमङ्गल—(चपलता पूर्वक) हे प्रिय मित्र ! बाईं तरफ नहीं देख

एसा ललिबाए सद्धं राहिआ समाग्रदा । [भोः प्रियवयस्य, वामत किं न पश्यसि । एसा ललितया सार्धं राधिका समाग्रता ।] ॥८८॥

श्रीकृष्णः—(मोत्कण्ठम्) दिष्ट्या साक्षादद्य मदीक्षणयोः सीर्ष्यं विस्तारयंते सद्यः ॥८९॥

मधुमङ्गलः—(सर्वम्) भो, कीस प वित्यारिद्वयं जय्य शहं विअहो बूढो हि । [भो., कस्मात्त विस्तारयितव्य यत्राह विदग्धो दूतो-ऽस्मि ।] ॥९०॥

श्रीकृष्णः—सखे, पुरस्स्यथोरपि मत्प्रिययोरवस्थोक्ता नाद्यादय-धारिता । यदास्यां न संनिधीयते ॥९१॥

मधुमङ्गलः—विअवअस, सुट्ठु पसग्गं राहो जाणाहि । जं सान्नि-ज्जलक्षस्मिन्ना मुरली क्षतमरुद्ध । [प्रियवयस्य, सुष्ठु प्रसन्ना राधां जानीहि । मरुट्टिकाञ्चलाच्छादिता मुरली क्षयकति ।] ॥९२॥

श्रीकृष्णः—(सस्नेहम्)

रहे हो क्या ? ललिता के साथ श्रीराधा आ रही है । ६८॥

श्रीकृष्ण—(उत्पन्ना सहित) आहा कैसा सोभाग्य ! आज राधा मेरे नेत्रों का आनन्द विस्तार कर रही है ॥६९॥

मधुमङ्गल—(गर्वपूर्वक) मने ! क्यों न आनन्द विस्तार होगा ? जहा मुग जैसा परम चतुर दूत मौजूद है ॥७०॥

श्रीकृष्ण—ह मित्र ! सामने आ रही है, परन्तु अभी यह पूरा निदग्ध नहीं है कि ये राधा थीर ललिता ही हैं, जब तक हमारे निगट नहीं आ जाती ॥७१॥

मधुमङ्गल—प्रिय मने ! राधा बहुत प्रसन्न हुई जानो, क्योंकि उसकी माटी के अंजन में दिवी हुई घनी घमक रही है । ॥७२॥

श्रीकृष्ण—(मोत्कण्ठक) चन्द्र दिन मे विभ्य हो जाना है और बरस रात होगे ही मंगलित हो जाता है, सब मेरी प्रिया राधा का मुग वो मग सोभा

विधुरेति दिवा विलुपतां शतपत्रं वत शर्वरीमुखे ।
 इति केन सदा श्रियोज्ज्वलं तुलनामहंति मत्प्रियाननम् ॥१०३॥२०
 (इति सकीतुकमनुसर्पति)

(नेपथ्ये)

घारिमहाणइ लच्छी इअं पुरी राइणी समुगमइ ।
 चन्द्रावलीकुटुम्बचकोर मा घाव सुप्पसहम् ॥
 [वापमानवी लक्ष्मीरिय पुरी रागिणी समुदगच्छति ।
 लन्दावलीकुटुम्बचकोर मा घाव सुप्रसभम् ॥] १०४॥२१

मधुमङ्गल — ललिते, भमिदासि । ण क्खु चकोरो । पेश्छ एसो
 रहङ्गीरमणो जेग वारिसाणइ लच्छी कामिज्जइ । [ललिते, आगतासि ।
 न खलु चकोर । पश्यैप रघाङ्गीरमण, येन वापमानवी लक्ष्मी. काम्यते ।]

(नेपथ्ये पुनरन्यत)

सम्पन्न है, उसकी तुलना को कौन प्राप्त कर सकता है ? ॥१०३॥

(इस प्रकार कहकर मन में कीतुक मानते हैं) तब वेशभूषा-घर से आवाज आती है ।

वृष राशि-स्थित सूर्य की शोभा रक्तवर्ण धारण कर आगे उदित हो रही है । जो चन्द्रावली-कुटुम्ब-चकोर । बल को प्रकाश करते हुए दौड़ मत पड़ना ।

(पक्षान्तर में—अनुरागवती वृषभानुनन्दिनी की शोभा आगे उदित हो रही है चन्द्रावली-कुस के चकोर (हे वृष्ण!) तुम बलात्कार करने के लिए मत दौड़ पड़ना) ॥१०४॥२१॥

मधुमङ्गल—ललिते । नुम भ्रम में पड़ रही हो । यह चकोर नहीं है, देख यह चक्रवाक है । वृषराशि स्थित भानु की शोभा की कामना करने वाला है ।

[पक्षान्तर में—यह वृष्ण हैं वृषभानुनन्दिनी राधा की शोभा के इच्छुक हैं] ॥१०५॥

(वेशभूषा-घर के दूसरी ओर से आवाज आती है)

भो कण्ह, सुणाहि । [भोः कृष्ण, शृणु ।] ।

मधुमङ्गलः—(विनोदय सशङ्कम्) एषा बाहिरो विसालरस दहिणी सारङ्गी नाम बालिका । [एषा दाक्षिणे दिशालस्य भगिनी सारङ्गी नाम बालिका ।] ॥१०६॥

श्रीकृष्णः—सखे, भा शङ्खिष्ठाः । सुष्ठु बालिकेयम् । ॥१०७॥

(प्रविश्य)

सारङ्गी—भो कण्ह, सुणाहि । बुद्धिमा मुहता भणावि कीस तुए मम नत्तिणी अलीअं दूसिज्जइ । जं तुज्ज वंसिआ अम्हेहि ववट्ठिआएथे विट्ठा, ता मा गोहि एं । [भोः कृष्ण, शृणु । वृद्धा मुखरा भणति—कस्मात्स्वया मम नत्ती मिथ्या दूष्यते । यत्तव वंसिकास्माभः वदन्ति विहास्ते दृष्टा, तस्मान्मार्गमेवामिति ।] ॥१०८॥

श्रीकृष्णः—सारङ्गिके, विज्ञापय मुढारां यदहं लब्धमुखलीकोऽस्मि ॥१०९॥

(नेष्ट्ये)

हला, पच्छन्ना होहि । [सति, प्रच्छन्ना भव ।] ॥११०॥

भो कृष्ण सुनो—

मधुमङ्गल—(देखकर शङ्का करते हुए) यह दक्षिण दिशा से विज्ञान की वहन बालिका सारङ्गी आ रही है ॥१०६॥

श्रीकृष्ण—सखे ! शङ्का मत करो । यह बालिका ही है ॥१०७॥

(सारङ्गी प्रवेश करती है)

सारङ्गी—हे कृष्ण ! सुनो, वृद्धा मुखरा ने कहा है कि तू मेरी दोहरी राधा को बयो भूँटा दोष दे रहा है ? तुम्हरी बंती हमने बगलटि बगदरी के हाथ में देनी है । इसनिए अपनी बंती को वहाँ जाकर दूँडा ॥१०८॥

श्रीकृष्ण—ओ सारङ्ग ! तूम् जाकर मुखरा को बतला दो कि मुझे मेरी बंती मिल गई है ॥१०९॥

(येनभूषा-पर मे आवाज आती है)

गणि ! दिया जाओ ॥११०॥

सारङ्गी—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य सैर्यम्) हला राहिए ! चेन्न-
वृक्षस्त तले तुम विदुदि आगालेदि मे भादुओ । ता तत्थ किति ण गदासि ।
[हला राधिके, चैत्यवृक्षस्य तले त्वोपाकारयति मे भ्राता । तत्तत्रे किमिति
न गतासि ।] ॥१११॥

(नेपथ्ये)

हदासे ! साहासारङ्गमुहि सारङ्गिए, तुमं विदुदिआ जडिला संवुत्ता ।
ता बुद्धसदूलस्त सुण्डकोडरे पडेहि । [हताशे शाखासारङ्गमुखि सारङ्गिके,
त्वमपि द्वितीया जटिला सवृत्ता । तस्माद्दृढशार्ङ्गस्य सुण्डकोटरे पत ।] ।

सारङ्गी—(सामर्प्यं) ललिदे ! उल्लङ्घिअ म जैय्वं तुमं तंजसि ।
सा अहं गबुअ भाउसिआए जडिलाए विण्णविस्सम् । [ललिते ! वैपरीत्येनं
मामेव त्व तजंजसि । तदहं गत्वा भातृस्वस्थे जटिलायै विज्ञापयिष्यामि ।]
(इति निष्क्रान्ता) ॥११२॥

मधुमङ्गल—(सावज्ञम्) जादु थाम, बासिआपत्ताये कस्त वीसम्भो ?
[जातु नाम, बालिकाप्रलापे कस्य विश्रम्भ ?] ॥११३॥

(नेपथ्ये)

सारङ्गी—(वेष-घर की ओर देखकर ईर्ष्या सहित) ओ राधे ! मेरा
भाई अभिमन्यु चैत्य वृक्ष के नीचे बैठा तेरी इन्तजार कर रहा है, तू वहां
क्यों नहीं गई ? ॥१११॥

(वेशगृह से फिर आवाज आती है)

श्री अभागिनी चन्दरमुखी सारङ्गिके ! तू भी दूसरी जटिला पैदा
हुई है तू तो वृद्ध व्याघ्र के मुख में जा पड़ ॥११२॥

सारङ्गी—(क्रोध सहित) अरी ललिते ! तुम मुझे ही चूल्हा धमका
रही हो, अच्छा मैं जाकर मासी जटिला को बताऊंगी । यह कहकर चली
जाती है) ॥११३॥

मधुमङ्गल—(अवज्ञा करते हुए) जाने दो, बालिका के प्रलाप का
किसको विश्वास होगा ? ॥११४॥

(वेश-घर से आवाज आती है)

सखि राधे ! मुञ्च मुञ्च । [सखि राधे ! मुञ्च मुञ्च ।] ॥११५॥

मधुमङ्गलः—ओ ! सुणाहि संकिदेण किं भणादि ललिदा । [ओ ! शृणु संस्कृतेन किं भणति ललिता ।] ॥११६॥

(पुनर्नेपथ्ये)

किं तत्करो युवतिमानघनस्य वंशी-

मङ्गले करोषि विकिर द्यरया विदूरे ।

एषा प्रयातु धनिताम्बरतरकराय

योग्येन सङ्गमिह गच्छतु वस्तु योग्यम् ॥११७॥१२॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा) सखे ! पश्येममञ्जलाद्वंशीं बलादिवाकृष्य पुर-
स्ताद्विक्षेप । तविमां गृहाण ॥११८॥

(मधुमङ्गलस्तथा करोति)

(नेपथ्ये दूरतः)

अम्मो ! सारङ्गीए असत्तं ण भणितम् । [अम्मो ! सारङ्गपा
असत्तं न भणितम्] ॥११९॥

श्रीकृष्णः—(सव्यथम्) सखे ! पश्य । पुरो निष्ठुरेयमुपस्थिता जरती ।

सखि राधे ! छोड़ दे, छोड़ दे ॥११५॥

मधुमङ्गल—ओ ! सुनना, ललिता क्या कह रही है ? ॥११६॥

(फिर वेश-पर से आवाज आती है)

युवतिमों के मान रूपी धन को अपहरण करने वाली वंशी की गोद में क्यों लिये जा रहे हो ? सट इसे दूर फेंक दो । नारियों के वस्त्र चुराने वाले (शृणु) के पास जाओ । योग्य वस्तु योग्य वस्तु के साथ हो मिलित हुआ करती है ॥११७॥१२॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) सखे ! देखो, आँचल से जवरदस्ती वंशी को सींचकर दूर फेंक दिया है । तू जाकर से आ ॥११८॥

(मधुमङ्गल वंता ही भरता है । वेशपर से आवाज आती है)

ओ माँ ! सारङ्गी ने असत्य नहीं कहा है ॥११९॥

श्रीकृष्ण—(दुःखपूर्वक) मित्र ! देख, सामने निष्ठुर जटिमा आ रही है ॥१२०॥

मधुमङ्गलः—हन्त ! साअणकसणभुअङ्गीव कूरमुही एसा रोसा-
वेसेण तट्ठि खिवन्ती परसं गज्जइ जटिला । [हन्त ! आवणकृष्णभुअङ्गीव
क्रूरमुख्येपा रोपावेशेन लकुटी क्षिपन्ती परसं गर्जति जटिला ।] ॥१२१॥

(नेपथ्ये)

भो दुक्कुलङ्गारधूमलेहे ! पच्चहं वञ्चेसि दाणि का पडती ।
[भो दुक्कुलङ्गारधूमलेहे, प्रत्यहं वञ्चसे इदानी का प्रवृत्तिः ?] ॥१२२॥

मधुमङ्गलः—हन्ती, कमसीव्व कम्पइ राहिमा । [हा धिक् । कदलीव
कम्पते राधा ।] ॥१२३॥

(नेपथ्ये)

अण्जे ! पसीद, ण वलु अम्हे अवरज्जम्ह । [आर्ये ! प्रसीद, प्रसीद न
वलु वयमपराध्यामः ।] ॥१२४॥

मधुमङ्गलः—पेक्ख, राहिअं हस्ये चेत्तूण सल्लिदाए समं पत्तिदा
बुद्धिआ । [पश्य, राधिका हस्ते गृहीत्वा सल्लितया समं प्रस्थिता वृद्धा ।]

श्रीकृष्णः—(सखेदम्) सखे ! न जाने किमद्य प्रतिपद्यते कठोरेयं

मधुमङ्गल—हाय ! धावण के काले नाग की भांति कठोरमुखी
जटिला क्रोधावेश में लाठी टेकते-टेकते जोर से गर्ज रही है ॥१२१॥

(वेशपर से आवाज आती है)

अरी दुष्ट कुलाङ्गार कनङ्कनि ! रोज तू मेरी वञ्चना करती है,
यह कैसी करतूत ? ॥१२२॥

मधुमङ्गल—हाय, हाय, राधा तो कदली वृक्ष की तरह काप
रही है ॥१२३॥

(वेशपर से)

हे आर्ये ! प्रसन्न होवो, हमने कोई अपराध नहीं किया है ॥१२४॥

मधुमङ्गल—कृष्ण ! देख, राधा का हाय पकड़कर सल्लिता के साथ
वृद्धा जटिला चली जा रही है ॥१२५॥

श्रीकृष्ण—(दुःखपूर्वक) सखे ! न जाने यह कठोर जटिला आज क्या

जटिला । तवपसृत्य तत्त्वमधार्यताम् ॥१२६॥

(मधुमङ्गलो निष्क्रान्तः)

श्रीकृष्णः—(निःश्वस्य)

व्याक्ति गते मम रहस्यविनोदवृत्ते
 'रुष्टो' सम्पिष्टहृदयस्तरसाभिमन्युः ।
 राधां निरुध्य सदनं विनिगूहते वा
 हा हन्त सम्भवति वा यदुराजधानीम् ॥१२७॥२३॥
 (प्रविश्य)

मधुमङ्गलः—भो प्रियवयस ! अच्छरिअम् अच्छरिअम् । पूर्णं
 राहिआ कं पि यिज्जा जाणई । [भोः प्रियवयस्य ! आश्चर्यम् आश्चर्यम् ।
 नूनं राधिका कामपि विद्या जानाति ।] ॥१२८॥

श्रीकृष्णः—कथ्यतां कीदृशी विद्या दृष्टा ? ॥१२९॥

मधुमङ्गलः—भो ! कुलबुद्धाहोरीमण्डले निविष्टाए भववीए आगदो
 विष्कोसन्तो जटिला राहिअ' नीदा । [भो ! कुलवृद्धामीरिमण्डले निवि-
 टाया भगवत्या अग्रतो विक्रोशन्ती जटिला राधिकां नीता ।] ॥१३०॥

(मधुमङ्गल चला जाता है)

श्रीकृष्ण—(सम्यी सास छोड़कर) हाय ! मेरी रहस्य-कैलि को
 जान कर छोटे दिल वाला अभिमन्यु अति क्रोधित होकर, हो सकता है
 राधे को किसी गुप्त भवन में बन्द करादेगा या यदुराजधानी-मथुरापुरी में
 ही ले जाएगा ॥१२७॥२३॥

(मधुमङ्गल प्रवेश करता है)

मधुमङ्गल—हे प्रिय सखे ! बड़ा आश्चर्य है, निश्चय ही राधा कोई
 विद्या जानती है ॥१२८॥

श्रीकृष्ण—कहना, वंसी विद्या ? ॥१२९॥

मधुमङ्गल—कुल वृद्धा-नोपियों की मण्डली में जब भगवती पीण-
 मासी पहुँची तो जटिला तिरस्कार करते करते राधा को वहाँ ले गई ॥१३०॥

श्रीकृष्णः—ततस्ततः ? ॥१३१॥

मधुमङ्गल—तबो दिष्ट भए तियेहेन विषयुहिदासु तासु सधवासु सा राहिबा ओगुण्ठण उच्छारिअ हसन्तो सुअलो सधुत्तो । [ततो दृष्ट मया स्नेहेन विक्षुभितासु तासु सर्वासु सा राधिकावगुण्ठन मुत्सार्य हसन्सुबल सवृत्त ।] ॥१३२॥

श्रीकृष्णः—(स्मिरवा) ततस्ततः ? ॥१३३॥

मधुमङ्गल—तबो हासकोलाहले उबरवे कठुहि सम्बाहि मिअ-विष्ठवा लज्जाए नवमुही जटिसा पलाइबा । [ततो हासकोलाहले उपरते वष्टामि सर्वाभिनिर्भत्सिता लज्जया नतमुखी जटिला पलायिता ।] ॥१३४॥

श्रीकृष्ण—कथ्यताम्, तयोद्वितीया कथमभूत् ? ॥१३५॥

मधुमङ्गलः—राहिबाए कण्ठे पविडेण केण वि मन्तेण पढम जेव्व सा बुग्दा किवा । [राधिकया कर्णे पठितेन केनापि मन्त्रेण प्रथममेव सा वृन्दा कृता ।] ॥१३६॥

श्रीकृष्ण—सखे ! न राधिकाया खल्वप्य विद्या, किन्तु तामन्त्रि-मन्युना समाहूतामवधार्य भट्टिनोवाय धृन्दया प्रणीतमिदं कौतूहलम् ॥१३७॥

श्रीकृष्ण—फिर क्या हुआ ? ॥१३१॥

मधुमङ्गल—मैंने फिर देखा कि स्नेह से सबके क्षुभित होने पर राधा ने घू घट खोला और ह सते ह सते यह तो सुबल बन गई ॥१३२॥

श्रीकृष्ण—(मुस्करा कर) फिर उसके बाद ? ॥१३३॥

मधुमङ्गल—फिर क्या था कि सब हसते हसते कोलाहल करने लगे क्रोध में आकर जटिसा का तिरस्कार करने लग । जटिला अति लज्जित हो मुँह नीचा कर वहाँ से भाग गई ॥१३४॥

श्रीकृष्ण—यह तो बता दूसरी जो ललिता साय थी, उसका क्या हुआ ? ॥१३५॥

मधुमङ्गल—श्रीराधा ने उसके कान में कोई मन्त्र पूँ कर उसे पहले ही बना वृन्दा दिया था ॥१३६॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! यह विद्या निश्चय ही राधिका की नहीं, किन्तु

मधुमङ्गलः—(साट्टहासम्) भो पित्रवयस्स ! सपत्नं विभ्रं कहेसि; बिट्ठं मए पुणोवि वुन्दाए णिमिदराहावेसो सुवलो मुहराघरे पविट्ठो ।
[भोः प्रिय वयस्य ! सत्यमिष कथयसि; दृष्टं मया पुनरपि वृन्दया निर्मित-
राधावेषः सुवलो मुखरागृहे प्रविष्टः ।] ॥१३८॥

(नेपथ्ये)

दधाना मध्याह्नकवलयवर्णकागतप्रतिमया
चपुस्तुल्यं गण्डम्यलसुसितकारणवर्धनिः ।
कुशाङ्गीयं निद्रापरिमलवरिद्रासिकमला
सक्तो बाधां राधा हरिविरहविधा प्रथयति ॥१३९॥१४॥

श्रीकृष्णः—(सहस्रिदग्धम्) सखे ! दिष्टया कीरेणामुना समाश्वसि-
तोऽस्मि ॥१४०॥

अभिमन्यु उसे बुला रहा है । यह जानकर मेरे विनोद के लिए वृन्दा ने ही
यह तमाशा रचा है ॥१३९॥

मधुमङ्गल—(कहकहा लगा कर) ओ मित्र ! तू सत्य ही कहता है ।
मैंने फिर देखा कि सुवल वृन्दा द्वारा बनाए गए राधावेष को धारण कर
मुखरा के घर में प्रवेश कर गया ॥१३८॥

(विशघर से आयाज आती है)

कुशाङ्गी श्री राधा का शरीर श्री कृष्ण के विरह में व्याकुलता के
कारण मध्याह्न कालीन प्रज्ज्वलित सूर्यकान्त मणि की तरह लाल हो रहा
है और उसका गण्डम्यल कारणवर्ध(वतर) की तरह पीला पड़ गया है । निद्रा
आवेश में उसके नेत्र बमल मुद्रित हो अतिशय दुःख विस्तार कर रहे
हैं ॥१३९॥१४॥

श्रीकृष्ण—(रुष्टि नीक्षेप करते हुए) सखे ! कैसे सीमावर्ध की बात है
कि इस युग पक्षी द्वारा मैं आदवस्त हो गया हूँ ॥१४०॥

मधुमङ्गल—निश्चय यह युग वृन्दा के वाप्यों का अनुकरण कर
रहा है ॥१४१॥

मधुमङ्गल — पूण वृन्दाभासिद अ करेवि कीरो । [नून वृन्दा-
भाषितमनुकरोति कीर ।] ॥१४१॥

श्रीकृष्ण — सखे ! द्रष्टुमिच्छामि तादृशी वृन्दासुबलो, ततस्त्वयंताम् ।

(मधुमङ्गलो वशी कृष्ण करे निक्षिप्य परिक्रामति)

श्रीकृष्ण — सुविच्युता वशीमुपलब्धोऽस्मि, तदेना पूरयामि ।
(इति तया करोति) ॥१४२॥

मधुमङ्गल — (क्षणमुत्कर्णो भवन् ससृष्टैः)

मनोहारो कोऽपि प्रतिमुखविसारी मृदुतया
विराधोऽयं वयो ध्वजपरिधयो रथयनि ॥

ततः कर्णोत्त लोकोत्तचटुलवशी वसति-
निरातङ्का शङ्के मिलति कलविष्णुवसिरिति ॥१४३॥ २५॥

(पुनर्विलोक्य) ही ही, सहसाधर्मेण पदारविो म्हि ज, कङ्कणसिञ्जिद
पशु एवम् । [ही ही, शब्दसाधर्म्येण प्रतारितोऽस्मि, यत् कङ्कणसिञ्जित
सख्येतत् ।] ॥१४४॥

श्रीकृष्ण—मधुमङ्गल ! मैं उसी रूप में वृन्दा और सुबल को देखना
चाहता हूँ । इसलिए जल्दी करो ।

(मधुमङ्गल श्रीकृष्ण के हाथ में वशी देकर लौट आता है)

श्रीकृष्ण—अनेक दिन की सोई हुई वशी को आज मैंने फिर प्राप्त
किया है । अतः इसे बजाता हूँ । (ऐसा वह उसे उबाने लगते है) ॥१४२॥

मधुमङ्गल—(क्षणबान के लिए बान ऊपर उठाकर) सब दिशाओं
को पूरित करने वाले मनोहर अति मृदुस्वर से बागों का नाई रस-भावित
कर रहा है । इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि मनोहर वशी की मुन्दर
ध्वनि सुनकर समस्त सखीगण बान उठाए हुए यहाँ आ पहुँचा हैं ॥१४३॥

(फिर ध्यानपूर्वक देखकर) ही ही एक मा शब्द सुनकर मुझे धोका
हो गया । यह तो निदधय ही बङ्कणों की मधुर ध्वनि है ॥१४४॥

(ततः प्रवेशिति ललितयानुगम्यमाना राधा)

श्रीराधिका—

अमिअं पिअसि सुमधुरं वमसि द्यमं विस्समोहणं विमम् ।

तुज्झ ण दूसनमधवा मुरलि जदो दाहणासि कृता ॥

[अमृतं पिबसि सुमधुरं वमसि स्तं विश्वमोहनं विषमम् ।

तव न दूषणमथवा, मुरली ! यत्नो दाहणासि कृता ॥] ॥१४५॥१६॥

ललिता—हसा ! पुरखो पुण्णाअस्स भूले कण्हो रेहवि । [हला !

पुरत. पुन्नागस्य भूले कृष्णो राजते ।] ॥१४६॥

मधुमङ्गलः—(विलोभ्य सहर्षम्) दूरे मार्गनिज्जो अरयो कहं समं
जेव्य हत्थे उवत्थिदो ? (इति परावृत्त्य) पिअवअस्स, पेवद्य, धुन्वाए सद्धं
सुअलो तुज्झ संणिहि सद्धो । [दूरे मार्गणीयोऽयं कथं स्वयमेव हस्त
उपस्थितः ? प्रियवयस्य ! पश्य, वृन्दया सार्धं सुबलस्तव सन्निधि सम्भवः ।]

कृष्णः—(सस्नेहमालोक्य) हन्त ! प्रियसख्यौ प्रविष्टौ मे दृष्टिः प्रका-
ममावते । (इति परिक्रम्य) भोः सखीनां शिखामणौ ! तरसा नि-
धीयताम् ॥१४८॥

(तव ललिता के साथ श्रीराधा प्रवेश करती हैं)

श्रीराधा—अरी मुरलि ! तुम जो सुमधुर (कृष्णाधर !) अमृत पान
कर विद्व को विमोहित करने वाले विषम शब्दों को उगलती हो, इसमें
तुम्हारा कोई दोष नहीं है, क्योंकि तुम कठोर काठ से ही तो बनी हो । १४५

ललिता—सखि ! सामने पुन्नाग वृक्ष के नीचे श्रीकृष्ण बैठे हैं । १४६॥

मधुमङ्गल—(देखकर आनन्द पूर्वक) यह कैसा आश्चर्य ! दूर से
दृष्टिने योग्य बन्तु अपने आप कैसे हाथों पहुँ गई ? (इतना कह, लौट-
कर) हे प्रिय मित्र कृष्ण ! देख वृन्दा के साथ सुबल तुम्हारे पास आ
रहा है ॥१४७॥

श्रीकृष्ण—(स्नेह पूर्वक देखने हुए) बाह्वा ! प्रिय सखा सुबल को
देखकर मेरे नेत्र परम मुग्ध का अनुभव कर रहे हैं । (धूमकर) अहो ! सखं
छप्पा तिरोमणि ! शीघ्र निरुद्ध आओ ॥१४८॥

राधिका—(सम्मितमपवार्य) हला ललिते । म षड् सुभल जेव
जाणादि दे वअस्सो । [हला ललिते । मा खलु सुबलमेव जानाति तव
वयस्य] ॥१४८॥

श्रीकृष्ण—सखे मधुमङ्गल । पश्य सविधानकस्य किमपि सीष्ठवम्,
यदसौ साक्षादप्रतो राधिकेव सवयस्या प्रतिभाति ॥१५०॥

ललिता—हला राहिए । अपरिफुल्लो एसो सुरवल्लहो । [हला राधिके
अपरिफुल्ल एव सुरवल्लभ ।] ॥१५१॥

मधुमङ्गल—(सेर्व्यम्) ठगिणि वृन्दे । अज्ज वि किं ति अम्हाए पुरवो
राहो रहि ति भणसि ? सुभल ति उज्जुअ कहेहि । [ठगिणि वृन्दे । अद्यापि
किमित्यस्माक पुरत राधा राधेति भणसि ? सुबलेति ऋजुककथय ॥१५२॥

श्रीकृष्ण—सखे सा त्वमेव सखी प्रकाम राधाभिधान धिनोति माम्,
तदनेनाहमप्यामन्त्रयिष्ये । (इतिसन्निधाय) सखि राधे । परिष्वजस्व माम्,
क्षणमहं तदेव प्रियाभिमर्शसौख्यमनुभवामि ॥१५३॥

श्रीराधिका—(मुस्कराते हृष्ट हाथ की ओट में) सखि ललिते ।
तुम्हारा सखा मुझको सुबल हो समझ रहा है ॥१४९॥

श्रीकृष्ण—सखे मधुमङ्गल । देख तो, कारीगर का कैसा आश्चर्यमय
सीष्ठव है, जो मुझे सामने आता हुआ यह सुबल साक्षात् सखि के सहित
श्रीराधा की भाँति लग रहा है ॥१५०॥

ललिता—सखि राधे । यह सुरवल्लभ अर्थात् पुत्राग प्रकुल्लित नहीं
हो रहा है ॥१५१॥

मधुमङ्गल—(ईर्ष्या सहित) अरी ठगनी वृन्दे । अभी भी हमारे
सामने 'राधा-राधा' ऐसे बोल रही है । यह सुबल है—ऐसी सीधी बात
बोल ॥१५२॥

श्रीकृष्ण—सखे । तुम ऐसा मत कहो, राधा नाम आपके अतिशय
सुख देता है, इसलिए मैं तो राधा-नाम से ही सम्बोधित करूँगा । (ऐसा
कहकर निकट जाते हैं) सखि राधे । मुझे आलिंगन करो, क्षणकाल के
लिए मैं उस प्रिया-आलिंगन के सुख को अनुभव कर सकूँ ॥१५३॥

ललिता—(राधां पृष्ठतः कृत्वा ।) नागर ! तस्य गदुष सुअलं जेव्य
आलिङ्गेहि । अलं इमिणा दम्भमुद्रापउण । [नागर ! तत्र गत्वा सुबलमेवा-
लिङ्गस्व । अलमनेन दम्भमुद्राप्रयोगेण ।] ॥१५४॥

मधुमङ्गलः—(सरोपम् ।) वृन्दे, तुमं पइविएवि नूणं ललिता सवृत्ता,
जं पज्जुस्सुअं पिअवअस्सं वारेसि । [वृन्दे ! त्वं प्रकृतितोऽपि नूनं ललिता
संवृत्ता, यत्पयुं त्मुकं प्रियवयस्यं वारयसि ।] ॥१५५॥

∴ (प्रविश्य)

वृन्दा—सखि राधे ! त्वद्भुजवत्सरीस्पर्शकामुकोऽयं पुरस्तात्पुं नागः
तवेनं बोहददानेनोत्फुल्लय ॥१५६॥

मधुमङ्गलः—(सविस्मयम्) वमस्स ! विट्ठं वृन्दाए इन्द्रजालम् !
(इति सकौतुकमवेक्ष्य ।) इन्द्रजालानि वृन्दे ! घनाइवी वि धूमलेहा विअद्ध-
सारङ्गं आकट्ठिङ्गं जादिहदि । [वयस्य ! दृष्टं वृन्दाया इन्द्रजालम् ? इन्द्र-
जालानि वृन्दे ! घनाकृतिरपि धूमलेखा विदग्धसारङ्गमाक्रष्टुं नार्हति ।]

ललिता—(श्रीराधा को पीछे करके) वहाँ जाकर सुबल को ही
आलिंगन कर । यहा कपटपूर्ण बाल का कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥१५४॥

मधुमङ्गल—(क्रोध सहित) वृन्दे ! तू स्वभाव से ही निश्चय ललिता
अर्थात् स्वेच्छाचारिणी नारी हो हो, जो उत्कण्ठित प्रिय सखा-कृष्ण को रोक
रही हो ॥१५५॥

(वृन्दा प्रवेश करती है)

वृन्दा—सखि राधे ! अग्रवर्ती यह पुष्पाग तुम्हारी भुज-लताओं को
स्पर्श करना चाहता है, इसलिए पुष्पोत्पत्ति की औपच्य विशेष द्वारा इसे
प्रफुल्लित करो

(पद्यान्तर में—सखि राधे ! अग्रवती यह पुरुष श्रेष्ठ श्रीकृष्ण
तुम्हारी भुज-लताओं को स्पर्श करना चाहता है, अतएव उसकी अमीष्ट
पूति करते हुए उसे आनन्दित करो ॥१५६॥

मधुमङ्गल—(विस्मय मुक्त) मित्र ! देग रहे हो वृन्दा का इन्द्रजाल
(ऐसा पहकर धमिल दृष्टि से) अरी इन्द्रजालिनि वृन्दे ! तू घने धूँए की
मेघ यताकर विदग्ध मापत्र को आकणित नहीं कर पायेगी ॥१५७॥

वृन्दा—आर्य ! तडिहामकण्ठीय कादम्बिनी प्रतीयताम् ॥१५८॥

श्रीकृष्ण—(निमात्य सविस्मयम्) कथं सत्यमेवानया रङ्गणमालिका दुस्तपजकण्ठीय प्रिया मे वार्यभानवी ॥१५९॥

मधुमङ्गल—अइ देइ वृन्दे ! प्रसीद प्रसीद, मा कबु बुद्धि मोहेहि ? ज राहा चँसखलतले पत्थिया । [अयि देवि वृन्दे ! प्रसीद, प्रसीद। मा खलु बुद्धि मोहय । यद्वाधा चैत्यवृक्षमूले प्रस्थिता ।] ॥१६०॥

वृन्दा—आर्य ! रङ्गणमालिकास्पर्शमानभिन्नकण्ठी कृत्रिमेव राधिका विशाखा साद्धं तत्र गता ॥१६१॥

श्रीकृष्ण—(राधामालोक्य) ।

तवानुकारात्सुखल दिहक्षुणा मया त्वमाप्ता पुरत सुदुर्लभा ।

सादृश्यत काचमिवाभिलष्यता प्रेमाग्रभूमिर्वणिजा हरिन्मणि ॥१६२॥२७

वृन्दा—आर्य ! मेघमाला के कण्ठ में यह विद्युत्तमाला है ऐसा विश्वास करो । (इसलिए अवश्य ही अकर्पण करने की शक्ति इस में है । अर्थात् यह सुखल नहीं है, राधा ही है तडिहदाम कण्ठी होने के असाधारण लक्षण से कृष्ण ही इस तथ्य का परिचय पायेंगे) ॥१५८॥

श्रीकृष्ण—(देखकर विस्मय पूर्वक) सचमुच क्या यह रङ्गणमाला से कण्ठ को विभूषित करते हुए मेरी प्रिया वृषभानुनन्दिनी आ रही है ! ॥१५९॥

मधुमङ्गल—अरी देवि वृन्दे ! प्रसन्न होवो, कृपा करो, और अब बुद्धि को विमोहित न करो । श्रीराधा तो चैत्य वृक्ष के नीचे चली गई हैं ॥१६०॥

वृन्दा—जिसके कण्ठ में रङ्गण माला का स्पर्श नहीं हुआ है, यह कृत्रिम राधा ही विशाखा के साथ चैत्य वृक्ष के नीचे चली गई है, वस्तुतः यही ही ययार्य राधा है ॥१६१॥

श्रीकृष्ण—(श्रीराधा को देखकर) हे प्रिये ! जैसे काच को दूण्डने के इच्छुक किसी धनिक को काच दूण्डते दूण्डते आगे पृथ्वी पर पड़ी काच के सदृश मरकट मणि प्राप्त हो जाए, उसी प्रकार मैं तो तुम्हारे समान वेशधारी सुखल को देखने की इच्छा कर रहा था, किन्तु सुदुर्लभ प्रेममयी तुम ही मुझे प्राप्त हो गई हो ॥१६२॥२७॥

श्रीराधिका—चिट्ठ, चिट्ठ, विष्णादोसि । [तिष्ठ, तिष्ठ, विज्ञातोऽसि ।
सनिता—

जलइ सहो मह राहो मन्दा जं होइ नीलिनी-राजा ।
कण्ह तुमं णन्दसि ज घण्णो हसिहराओ सि ॥
[ज्वलति सखी मम राधा मन्दा यद्भवति नीलिनीरागा ।
कृष्ण त्वं नन्दसि यद्वन्यो हरिद्वारागोऽसि ॥१६४॥२८]

श्रीकृष्णः—

रोहिण्याधरशोभया विहरसे ज्येष्ठसि वामभ्रूयां
याण्या राजसि चित्रया परिजनेष्वाद्रां धियं यच्छसि ।
राधे त्वं श्रयणोत्तरेति परितस्तारोदयोत्तासिनी
नाश्नेपार्षणदीक्षिते मयि कथं वाक्षिष्यमातिष्ठसि ? ॥१६५॥२९

श्रीराधा—ठहरो, ठहरो, मैं जान गई ॥१६३॥

सनिता—हे कृष्ण ! हमारी प्रिय सखी राधा नील रागमयी होने से
मन्दभागिनी है, इसलिए निरन्तर जलती अर्थात् सतप्त होती रहती है । किन्तु
कृष्ण ! तुम हरिद्वाराग मय होने से सदा आनन्द अनुभव करते रहते हो, इस-
लिए तुम घन्य हो ॥१६४॥२८ ।

[तात्पर्य यह है कि श्रीराधा का प्रेम नीले रंग की तरह पक्का है—
छुटाने से भी नहीं छूटता । इसलिए वह प्रेम में निरन्तर दुखी रहती है ।
और श्रीकृष्ण का प्रेम हरिद्रा-पीले रंग की तरह कच्चा है—सहज में छूट
भी जाता है चढ़ भी जाता है । इसलिए वे राधा के लिए अति कातर
नहीं रहते]

श्रीकृष्ण—हे राधे ! तुम अरुण वर्ण अपरो की क्षोभा से सुशोभित
होने से समस्त मुन्दरियो ने श्रेष्ठ हो, विचित्र योनिनि होने के कारण
समस्त परिकरजनों को सुन्दर बुद्धि प्रदान करने वाली हो । तुम्हारे समान
जान तो किसी के हैं ही नहीं । तुम मुत्तामाना से उत्त्माना प्रदान करने
वाली हो । तब फिर आना आनिगन मुझे प्रदान कर तुम क्यों नहीं अनु-
ग्रहणा विधान करती हो ? ॥१६५॥२९॥

वृन्दा—

मुघा भानोप्राहावृत्त्यपयपि किमङ्गानि कठिने
रूपे यत्से किं वा प्रियपरिजनाभ्यर्पनविधौ ।

प्रकामं ते कुञ्जालयगृहपतिस्ताम्यति पुरा ।

कृपासम्प्रीवन्तं चटुलय दृगन्तं क्षणमिह ॥१६६॥३०॥

श्रीकृष्णः—

निष्ठुरा भव मुदो वा प्राणात्त्वमसि राधिके ।

अस्ति नान्या चकोरस्य चन्द्रसेखा बिना गतिः ॥१६७॥३१॥

श्रीराधिका—सख्यं भाव्यं वि सुनं, मोहोति । [सत्यम्, मायिनामपि
त्वं विमोहोऽसि ।] ॥१६८॥ (इति सख्यब्द क्रन्दति)

ललिता—(संस्कृतेन ।)

धारा बाधयमयी न याति विरति लोकस्य निमित्ततः

प्रेमास्मिन्निति नन्दनन्दनरतं लोभाग्मनो मा कृपाः ।

वृन्दा—हे कठोर चित्त राधे ! वृथा अभिमान में भरकर अपने अङ्गों को क्यों प्लेस दे रही हो ? और क्यों अपने प्रियजनों की प्रार्थना पर क्रोधित होती हो ? देखो यह तुम्हारे आगे कुञ्जालय गृहपति अर्थात् श्रीकृष्ण पथेष्टरूप से अधीन हो रहे हैं । अतः क्षण काल के लिए इन के प्रति कृपा शोभाशालिनि तैल-दृष्टि डालो ॥१६६॥

श्रीकृष्ण—राधिके ! तुम कठोर हो, या कोमल, किन्तु तुम ही मेरी प्राण-जीवन हो, जैसे चन्द्रकला के बिना चकोर की और गति नहीं है । उसी प्रकार तुम्हारे बिना मेरी जीवन गति और नहीं है ॥१६७॥३१॥

श्रीराधिका—सत्य है, आप मायावियों को भी विमोहित करने वाले हो।
(ऐसा कहकर उच्च स्वर में रोने लगती है) ॥१६८॥

ललिता—सुन्दरि ! मैं ने तो तुम्हें कहा था कि जो व्यक्ति नन्दनन्दन से प्रेम करता है, उसकी अध्रु धारा कभी बन्द नहीं होती । इसलिए तू इन में लोभवश मन न लगा । मैं ने तुम्हें कई बार रोका था, परन्तु हे कोमल-

इत्थं भूरि निवारितोपि तरले मद्वाचि साचीकृत-
 भ्रूद्वन्द्वा नहि गौरवं त्वमकरोः किं नाद्य रोदिष्यसि ? ॥१६६

(कृष्णः करारविन्देन राधिकायु विन्दूनपसारयति)

थीराधिका—सुद्वज्जले वि वङ्कं व्यवहरन्तो कीस ज लज्जसि ? [मुग्ध-
 जनेऽपि वक्रं व्यवहरन् कस्मान्न लज्जते ?] ॥१७०॥

श्रीकृष्णः—

स्मरक्रीडालुब्धः पशुपरमणीषु स्फुटमहं
 तथाप्यक्ष्णोर्वेतिस्त्वमसि मम दिव्याञ्जनमयी ।
 तथाद्याः किं भुङ्गं पृथुलमुतुलक्ष्मीनं भजते
 रसोत्तासादेनं तदनि हि मधुभ्रोमंदपति ॥१७१॥३३॥

वृन्दा—सपि, यथापं वक्ति वनमाली ॥१७२॥

श्रीकृष्णः—प्रिये, त्वया सहचर्या वनविहारचर्यामङ्गीकृतुं निश्चामि ।

चित्त राधे ! तुमने मेरे वचनों का आदर नहीं किया बल्कि तेवड़ी चढ़ा ली
 थी। अब आज तू क्यों नहीं रोयगी ? ॥१६६॥

(श्रीकृष्ण अपने हस्तकमलों से श्रीराधा जी के अश्रु विन्दुओं को
 पोंछते हैं)

थीराधिका—भोले-भाले व्यक्ति के प्रति टेढ़ा बर्ताव करने में क्या
 आप को लज्जा नहीं आती ? ॥१७०॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिय ! यद्यपि मैं स्पष्ट रूप से समस्त गोपरमणियों के
 साथ कन्दर्पकेलि में सुव्य रहता हूँ, तथापि तू ही मेरे नेत्रों के दिव्य अंजन
 के समान हो। देखो शोष्मादि सब शत्रुओं के गुणों पर क्या मधुकर रमण
 नहीं करता ? तथापि वसन्त अतिशय शोभाशाली रसोत्तास से अमर को
 आमोदित किया ही करता है ॥१७१॥

वृन्दा—ससि ! वनमाली सच्ची बात कहते हैं ॥१७२॥

वृन्दा—तेनाहं सखिवृन्दमवपधापयामि । (इति परितः पश्यन्ती ।)

स्मितं वितनु भावयि प्रपय मल्लि हानोद्गमं

मुदा विकस पाटले पुरटयूयि निद्रां त्यज ।

प्रसीद शतपत्रिके भज लवङ्गवलि श्रियं

वधार सह राधया हरिरयं विहारस्पृहाम् ॥ १७४॥१४॥

मधुमङ्गलः—ही, ही कहं कन्तारजविलिणीए बाआमेतएण उप्फुल्ली-
किअं बल्लीमण्डलम् ! [ही ही, कथं कान्तारयक्षिणी बाबामात्रेणोत्फुल्ली-
कृतं बल्लीमण्डलम् !] ॥१७५॥

श्रीकृष्णः—सखे ! चित्तमामोदयन्ति पुष्पामोदवत्यो मे धीरघः ॥१७६॥

मधुमङ्गलः—वयस्स ! तुम्हारं सव्वाओ चित्तं आमोदेन्ति लवाओ,
मम उण एक्का हेमज्जही जेव्व, जा गोकुलेसरीए सब्बिक्कं गव्वधिसं त्रिअंभवज
घारेइ ॥ [वयस्य ! युष्माकं सर्वाश्चित्तमामोदयन्ति लताः । मम पुनरेका हेम-

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! तुम्हारे साथ वन-विहार आचरण करने की
मेरी इच्छा है ॥१७३॥

वृन्दा—तो मैं सब सखियों को सूचित किये देती हूँ । (यह कहकर
घारों ओर देखने लगती है) ओ माधव ! तू मुस्कान का विस्तार कर, ओ
मल्लि के ! तू हास्योद्गम का प्रकाश कर, अरी पाटले ! आनन्द से तू
प्रफुल्लित हो, हे स्वर्ण यूयिके तू नीद का त्याग कर, ओ शतपत्रिके ! तू
प्रसन्न हो और हे लवङ्गवलि ! तू भाव्य मना, आज श्रीराधा के साथ श्री
माधव विहार करने की इच्छा कर रहे हैं ॥१७४॥

मधुमङ्गल—आहा, हा, कैसा आश्चर्य ! वनयक्षिणी इस वृन्दा ने
कहने मात्र से ही सब लताओं को कैसे प्रफुल्लित कर दिया है ? ॥१७५॥

श्रीकृष्ण—सखे ! ये पुष्पगन्धसालिनि लताए मेरे चित्त को आनन्दित
कर रही हैं ॥१७६॥

मधुमङ्गल—मित्र ! तुम्हारे चित्त को ये सब लताएँ आनन्दित कर
रही हैं, यह बात ठीक है, परन्तु मुझे तो केवल एक यह स्वर्ण यूयी ही
यच्छी लग रही है । जो गोकुलेन्दरी यत्नोदा के द्वारा निशाने हुए गोवृन्द

यध्येव, या गोकुलेश्वर्या संस्कृतं गव्यघृततमिव स्तवकं धारयति ।] ॥१७७॥

ललिता—(स्मित्वा) अज्ज ! तदो बधु पअडिदा दे रसण्णदा ।

[आर्य ! ततः खलु प्रकटा ते रसजता] ॥१७८॥

मधुमङ्गलः—(सेध्यंम्) वअस्स ! पेवस्स पेक्ख, इमाओ रत्ताओवि घड्ढाओ वि मुअकलिइआओ गोइआओ यिअं भं ण सुहावेत्ति । [वयस्य ! पश्य पश्य, एता रक्ता अपि चक्राकिशुककलिका गोपिका इव मां न सुखयन्ति ।]

ललिता—वृन्दे ! एदे वल्लवा विअ पेक्खीअन्तु जवात्थवआ, जा बधु लोअणलोहणिज्जा वि आमोदं ण विट्ठारेन्ति । [वृन्दे ! एते वल्लवा इव प्रेक्ष्यन्ता जवास्तवका, ये खलु लोचननोभनीया अपि आमोदं न विस्तारयन्ति]

मधुमङ्गलः—(सरोपम्) जाणम्ह तुम्हाणं गोइआणं कम्म जाओ रसकुम्भं वि दिहं निम्मन्थिअ सिणेहं कडुन्ति । [जानामि युग्माकं गोपिकानां कर्म, या रसकुम्भमपि दृढ निमंथ्य स्नेहं कर्षन्ति ।] ॥१८१॥

वृन्दा—(स्मित्वा) सखि सलिते !

की तरह स्तवक धारण कर रही ॥१७७॥

ललिता—(मुस्कराते हुए) आर्य ! इसलिए तो तुम्हारी रसजता विरपात है ॥१७८॥

मधुमङ्गल—(ईर्ष्या सहित) हे सखे ! देखो, देखो, ये सब रक्तवर्णा होते हुए भी चक्र पलाश की कलिपा गोपिकाओं की तरह मुझे सुख प्रदान नहीं कर रही है ॥१७९॥

ललिता—वृन्दे ! गोपगण की भांति इन सब स्तवकों को देख, ये देखने मात्र की ही सुन्दर है, किन्तु सुगन्ध द्वारा आनन्द विस्तार नहीं कर सकते हैं (अर्थात् ये श्रीकृष्ण देखने को सुन्दर है, इन में प्रेम की गन्ध नहीं है) ॥१८०॥

मधुमङ्गल—(क्रोध सहित) मैं जानता हूँ तुम सब गोपियों के कर्मों की । तुम रस(दूध) कलशों को दृढता पूर्वक मयकर स्नेह (मात्सर्य, घी) को निष्काश लेने वाली हो— अर्थात् दूध-दही की भी घी रहित कर देने वाली हो—तुम में मत्वा स्नेह सम्बन्ध कहाँ ? ॥१८१॥

वृन्दा—(मुस्कराते हुए) सखि सलिते ! स्पष्ट रूप से जो पत्थर के

ये दण्डपाशभाजस्फुट वहन्तो मन गिलाकल्पम् ।

कान्तारमाश्रयन्ते तेभ्यो च क्षेममूलसतु ॥१८२॥३५॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) वृन्दे ! ज्ञात ज्ञातम् । बुद्धि मूर्च्छयता कूचि-
कालोभेन गोपिकाचलप्राहिणी त्वं कृतासि ॥१८३॥

(नेपथ्ये)

कस्तूरिकेष धुरवच्छदसगमेयं

गोपीततिर्मदमयी किल पिच्छिला च ।

दाक्षिण्यतस्तनुभूतामनुरञ्जनीयं

वासन्नवायुरिव हन्त मुरान्तकारी ॥१८४॥३६॥

श्रीकृष्ण — (पृष्ठतो दृष्टि क्षिपन् ।) साधु भो कीरराज ! साधु ॥१८५॥

मधुमङ्गल — विहङ्गपुङ्गव ! चउहहविज्जाविभक्खणो दीहाउ होहि ॥

[विहङ्गपुङ्गव ! चतुर्दशविद्याविचक्षणो दीर्घायुर्भव] ॥१८६॥

वने मन को लेकर दण्डा और रस्सी लिए दुर्गम वन में डोलते हैं, ऐसे इन लोगो से तुम्हारा कल्याण साधित हो, अर्थात् हमे इन से कुछ हित की अभिलाषा नहीं दीखती) ॥१८२॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) वृन्दे ! मैं जान गया हू, जान गया हू, खुर-
चन के लोभ से तुम्हारी बुद्धि भ्रम में पड़ रही है, तभी तू गोपियों का
मक्षपात कर रही है ॥१८३॥

(पर्दे के पीछे से तांते की आवाज आती है)

गोपी मण्डली कस्तूरी की तरह दुर्लभ है—एक मादकता उत्पन्नकारी
तथा बड़ी चिकनी है । किन्तु अनुकूलता के कारण वसन्त की वायु की
भाति श्रीकृष्ण सबको सुलभ तथा सबको सुखप्रदान करने वाले
हैं ॥१८४॥

श्रीकृष्ण—(पीछे की ओर देखकर) ठीक है ॐ शुक श्रेष्ठ ! ठीक
है ॥१८५॥

मधुमङ्गल—हे पक्षीराज ! तू चौदह विद्याओ में विस्तारद हो, और
चिरजीव रह ॥१८६॥

सलिता—हण्डे चण्डालकीर । पण्डससाअणतुण्डराहुणो पाहुणो होदु
वे पिण्डससी । [हण्डे चण्डालकीर । प्रचण्डशशादनतुण्डराहो प्राधुणो भवतु
ते पिण्डशशी] ॥१८७॥

श्रीकृष्ण—सखे । तूरांमस्मै समर्पय पाकिमानि दाडिमीबीजानि ॥

मधुमङ्गल—भो विन्दावनविहृष्य । दाडिमीबीजमहिन्तो धि सुदु-
कान्त ललिदाए दन्तपत्ति दे दाइस्सम् । [भो वृन्दावनवृहस्पते । दाडिमी-
बीजैभ्योऽपि सुदु कान्ता ललिताया दन्तपत्ति ते दास्यामि ।] ॥१८८॥

(पुनर्नैपथ्ये)

चञ्चलसध्याघन विअ मुहुत्तराम तणोदि दे सामी ।

वहह सिण्णेह राहो जबर जमणीमपुत्तीव्व ॥

[चञ्चलसध्याघन इव मुहूर्तराग तनोति ते स्वामी ।

वहति स्नेह राधा केवल नवनीतपुत्तीव्व ॥] ॥१८९॥

सलिता—(सानन्दम्) सहि सारिये । सोहणवदी होहि, ज पच्चुत्त-
रेण निजिजवो तुए दुम्भो कीरी । [सखि सारिके । सीमाग्यवती भव,
यत्प्रत्युत्तरेण निजितस्त्वया दुमुंत्त कीर] ॥१९१॥

सलिता—अरे चाण्डाल शुभ । तुम्हारा यह शरीर, रूप, चन्द्रमा
प्रचण्ड बाजपक्षी की चोचरूप राहु का अतिथि जा वने । (अर्थात् तुम्हें बाज
पक्षी निगल जाए) ॥१९३॥

श्रीकृष्ण—मधुमङ्गल । शीघ्र इस शुक्रपक्षी की पके हुए अनार के
दाने बाल दो ॥१९५॥

मधुमङ्गल—हे वृन्दावन वृहस्पति । अनार के दानों की अपेक्षा भी
अति सुन्दर कात्तिघातो सलिता के दान्त तुम्हें ला दूंगा ॥१९६॥

(पर्दे के पीछे से सारिका की आवाज आती है)

अरे चञ्चल शुभ । तुम्हारा स्वामी श्रीकृष्ण रक्त सध्या की भाति
दाण मात्र अनुराग प्रवाह किया करता है, किन्तु श्रीराधा नवनीत की पुत्तली
की भाति सर्वदा स्नेह ही धारण करती है ॥१९७॥

सलिता—(आनन्द सहित) सखि सारिके । सीमाग्यवती हो, क्योंकि
तुमने आज प्रत्युत्तर देकर इस दुमुंत्त शुभ की पराजित कर दिया है ॥१९९॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) घ्रुवं वृन्दयेदमध्यापितकीशलं विहङ्गमयो-
द्वन्द्वम् ॥१८२॥

मधुमङ्गल—(सक्रोधम्) हज्जे, भज्जेमि दे तिवखजप्पिरं चञ्चुपुटम् ।
[हज्जे, भनजिम ते तोक्षणजल्पिण चञ्चुपुटम् ।] ॥१८३॥

(इति सव्याज दण्ड क्षिपति)

श्रीराधिका—हन्त, कथ उडडोएणं वावट्ठअं विहङ्गमिहुणम् । [हन्त,
कथमुड्डोन वावट्ठक विहङ्गमियुणम् ।] ॥१८४॥

श्रीकृष्ण—(राधामवेक्ष्य)

सेवन्ते तरणेहिन् सुमनसां वृन्दैर्मधुस्पग्निभि-

यन्त्रोत्फुल्ललतावधूभिरभित सगत्य भृङ्गातिथीन् ।

सवीता पशुभिस्तथा खगकुलै खेलद्भिरव्याहृतं

न स्यात्कस्य सुकण्ठि सेयमधिकानन्दाय वृन्दाटवी? ॥ १८५

अथवा—

हरिणीविडम्बयति नेत्रखेलया ललितैर्लतापिककुलं कनोक्तिभि ।

श्रीकृष्ण—(अपने मन में) निश्चय वृन्दा ने ही इन दोनों पक्षियों को
इतनी निपुणता की शिक्षा दी है ॥१८६॥

मधुमङ्गल—(क्रोध सहित) अरी दासी ! कटुवचन बोलने वाली
तेरी चोच को अभी तोड़े देता हूँ (यह कहकर धनपूर्वक अपनी लाठी को
फेंकता है) ॥१८७॥

श्रीराधिका—हाय प्यारा बोलने वाले दोनों पक्षी क्यों उड़ गये? ॥१८८॥

श्रीकृष्ण—(श्रीराधे की देखकर) हे सुकण्ठि ! जिस वृन्दावन के
वृक्षरूप ग्रहस्थजन लतारूपी वन्धुओं के साथ मिलकर पुष्पो में चुवाने वाले
मकरन्द से भवररूपी अतिथियों की सेवा किया करते हैं और जिन पर सब
पशु-पक्षी स्वच्छन्द रूप से सर्वदा विहार करते हैं, वह श्रीवृन्दावन किस का
आनन्द वर्धन नहीं करता है ? ॥१८९॥

अथवा—तुम्हारे आगे इस श्रीवृन्दावन की शोभा वर्णन करने का
कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि तुम अपने नेत्रों द्वारा हरिणियों को लज्जित
करने वाली हो, तुम्हारे मनोहर अङ्गों को देखकर ननाएँ पराजित होती

शिखिनश्च कुन्तलकलापविचमैरिति ते पुर किमिव मे वनश्रिया? ॥१८६॥

वृन्दा—पश्य पश्य,

विरतोमिरिय सुनीरजा धृतशुद्धोज्ज्वलसत्त्वसतति ।

स्फुटकृष्णवर्चिर्ममाहता मुनीगोष्ठोव चकास्ति भानुजा ॥१८७॥४०

कृष्ण —प्रिये, पश्य पश्य,

स्मितरधिविराजित ते मुखमिव नीराजयत्यधीरादि ।

नीरजया-धवदुहितुर्नीरजराजो मरुद्भ्रमिता ॥१८८॥४१॥

वृन्दा—(परिक्रम्य नीरजान्याहृत्य च ।) पुण्डरीकाक्ष ! स्तोकोत्फुल्लमिव गूहाण लीलापुण्डरीकम् । तथावतसोचित कोकनवद्वन्द्वम् ॥१८९॥

श्रीकृष्ण —(सहर्षमादाय ।) वृन्दे ! रक्तोत्पले राधाकर्णयोराधानेत धिय लभेताम् । (इति तथाकृत्वा सकीर्तुवम्) हस्त, पुण्डरीकशोभे चञ्चरीको वर्तते ॥२००॥

हैं तुम्हारी सुमधुर बोलिन कोकिलाओ के कुल को लज्जित करती है एव मोर केश-जलाप के सौष्ठव को देखकर अपने को तुच्छ ही मानते हैं । अतएव हैं राधे । तुम्हारे आगे किस की शोभा वर्णन की जा सकती है ? ॥१९६॥

वृन्दा—देखो, देखो, यह सूर्यकन्या यमुना सरङ्गो से रहित हो रह है और कमलो से अतिशय शोभित होकर शुद्ध सत्त्वोज्ज्वल श्री एव कृष्ण-वर्ण कान्ति धारण करते हुए मुनियों की मण्डली की तरह विराज रही है ॥१९७॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिये देखो, देखो, अरविन्द बन्धु नन्दिनी (सूर्यकन्या-यमुना) की कमल श्रेणी वायु से आन्दोलित होकर तुम्हारे मुस्कान भरे मुख मण्डल की आरती उतार रही है ॥१९८॥

वृन्दा—(जाकर कुछ कमल ले आकर) हे कमलनयन ! यह अधपुले श्वेतवर्ण के लीला कमल तथा कर्णभूषण के योग्य ये दो नाल कमल ग्रहण कीजिए ॥१९९॥

श्रीकृष्ण—(हर्ष सहित लेते हुए) वृन्दे ये लाल कमल तो राधे के कानों में निभूषित होकर विस्तार करें (ऐसा कहकर उन कमलों को

वृन्दा—

मधुप कमलेन सार्धं मुद्यन्मकरदन्देन मुकुन्दमाससाद ।

सरसेषु विनिर्मितो हि सङ्ग परमानन्वभरोतति तनोति ॥२०१॥४२॥

श्रीकृष्ण — प्रिय पश्य पश्य

अस्मिन्मदोयकरसङ्गिनि पुण्डरीक—

कोशे क्षण किल बिलम्ब्य शिलीमुखोप्यम् ।

कणपिलम्बि तव कोकनद प्रपेदे

क वा बलात् हि हरत्पनुरागसदसो ॥२०२॥४३॥

(राधिका सभ्रम नाटयन्ती भुजलता क्षिपति)

श्रीकृष्ण — (स्फुट विहस्य)

कर्णोत्त सितरत्नपङ्कजजुषो भृङ्गीपतेर्लज्जया-

प्राप्तेनाद्य हगञ्जलेन दधती भृङ्गावसौविभ्रमम् ।

राधा के कानो मे अर्पण करते हुए आश्चर्य पूर्वक कहते हैं) आहा ! इस श्वेत कमल मे तो भ्रमर बैठा है ॥२००॥

वृन्दा—मकर-द युक्त कमल के साथ मधुकर आज मुकुन्द को प्राप्त हुआ है, क्योंकि रसशालि वस्तु (श्रीराधा) के साथ मिलन हुआ है न ! यह मिलन परमानन्द की आतिशयता की वृद्धि विस्तार करे ॥२०१॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिय देखो, देखो—मेरे हाथ के श्वेतकमल मे यह मधु-कर कुछ क्षण रहकर अब तुम्हारे कर्णभूषण लाल कमलों पर जा बैठा है अतः अनुराग सदसो बलपूर्वक किसको नहीं आकर्षण करती ? वरन् सबको ही अपनी ओर आकर्षित करती है । २०२॥

(श्रीराधा सभ्रम पूर्वक भुजाओं को निक्षेप करने लगती है)

श्रीकृष्ण—(जोर से हसते हुए) हे राधे ! आज तुम कर्णभूषणों के रूप में धारण किये हुए लाल कमलों पर गुस्सार करते हुए भवरो की ध्वनि से नेत्रावलो को भ्रात कर मधुकरवृन्द की भाति विभ्रम धारण कर रही हो, भववश अपनी भुजलताओं को आन्दोलित करते हुए चूड़ियों की झकार

प्राप्तान्दोलितदोलंतान्तविचलच्चूडाक्षणत्कारिणी

राघे व्याकुलतां गतापि भवती मोदं समाधास्यति ॥२०३॥४४

श्रीराधिका—(सत्रासं चेलाञ्चलमुदन्वयन्ती ।) कथं अज्जवि न चलवि धिट्ठो ? कथमद्यापि न चलति घृष्टः ?] ॥२०४॥

श्रीकृष्णः—

मधुराक्षि ! मृगाद्य संश्रमेण सिप चेलाञ्चलमञ्जुता न भूयः ।

पिबतु श्रवणोत्पलोद्गतं ते मधुपोऽयं मधुमङ्गलं कृशाङ्गि ॥२०५॥४५॥

मधुमङ्गलः—भो वयस्स ! कीस बम्हणं भं महुवेण पिघाएसि ?

[भो वयस्य ! कस्माद्ब्राह्मणं मा मधुपेन पाययसि ?] (इति दण्डेन भ्रमरं साहयति ।) ॥२०६॥

श्रीराधिका—(सहसाधम् ।) अज्ज ! पिअंकरो ममासि संवृत्तो ।

[आर्य ! प्रियंकरो ममासि संवृत्तः ।] ॥२०७॥

मधुमङ्गलः—कहं महूसूअणो तवकालं जेव्व तिरोहिदो, जं कुदो वि न लक्खीअवि? [कथं मधुसूदनस्तत्कालमेव तिरोहितः, यत्कुतोऽपि न लक्ष्यते?]

कर व्याकुलता को प्राप्त कर रही हो, तथापि मुझे अतिशय आनन्द प्रदान कर रही हो ॥२०३॥

श्रीराधिका—(भयपूर्वक वस्त्राञ्चल को निक्षेप करते हुए) अभी भी यह दीठ भ्रमर क्यों नहीं जा रहा है ॥२०४॥

श्रीकृष्ण—हे मधुराक्षि आज भयभीत होकर तुम बार-बार अपने वस्त्राञ्चल को मृगा मत्त फँको । हे कृशाङ्गि ! इस मधुकर को स्वच्छन्दरूप से अपने कर्णोत्पल के मधु-मङ्गल को (मङ्गलमय मकरन्द को) पान करने दो ॥२०५॥

मधुमङ्गल—हे सखे ! किस लिए मुझ ब्राह्मण को इस मधुप द्वारा पान (भोजन) करवाते हो ? (यह कहकर दण्डे द्वारा मधुकर को प्रहार करता है) ॥२०६॥

श्रीराधिका—(प्रशंसा करते हुए) आर्य ! आज तुम मुझे भी प्रिय लग रहे हो ॥२०७॥

मधुमङ्गल—यह क्या ! मधुसूदन अति द्योत कहां दिया गया ? यह

श्रीराधिका—(सव्यामोहम्) हड्डी हड्डी, कहीं गवो महमहणो ? [हा धिक् हा धिक् । कुत्र गतो मधुमथन ।]

(इति सस्कृतेन)

समजनि दद्याद्विस्ताना किमार्तरवो गवा

मयि रिमभवद्वं गुण्य वा निरङ्कुशमोक्षितम् ।

व्यरच्च निभृत किं वा हूति कयाचिदभीष्टया

यदिह सहसा मामत्याक्षोद्वने वनजेक्षण, ॥२०८॥४६

(कृष्ण सज्ञया सर्वाभिचार्यं स्मित करोति)

श्रीराधिका—हन्त हन्त, (सस्कृतेन ।)

वासन्तीभिरय मे कचभर कसारिणोत्त सित-

स्तस्योरस्थलचुम्बिचम्पकमयैर्नागुम्फि मास्य मया ।

मल्लीभिश्च निरर्गस परिहसन्नाय वलात्ताडित

प्रारम्भेऽद्य वनोत्सवस्य विरहच्छयावय प्रोदयात् ॥२१०॥४७॥

तो अब कही नहीं दीखता है ॥२०८॥

श्रीराधिका—(व्याकुल होकर) हाय ! हाय ! कहा गये मधुसूदन ? क्या दावानल के भय से व्याकुल होकर गौओ ने आर्तध्वनि की है ? या मेरे ही किसी निरकुश दोष को उन्होंने देखा है ! अथवा कोई प्रियतमा से ही उन्हें सकेन देकर निभृत स्थान पर ल गई है वरना कमललोचन एक-दम मुझे इस वन में छोड़कर क्यों चले गए हैं ? ॥२०९॥४६

(श्रीकृष्ण इशारे से सबको अपने वताने का रोककर हसते है)

श्रीराधिका—हाय ! हाय ! दयामसुन्दर ने माधवी पुष्पो से मेरे केशपाशो को विभूषित न किया और न ही मैं चम्पक कलियों से उनके वक्षस्थल को चुम्बन करने वाली माला ही गूथ सकी । और स्वच्छन्द रूप से परिहास करते करते जोर से उनकी मल्लीपुण्य से ताड़ना भी न कर पाई । हाय ! आज वन विहार आरम्भ होने से पहले ही विरह के ध्वज से दावानल आ उपस्थित हुई । २१०॥४७॥

वृन्दा—(अपवायं।) काममन्धंकरणीयं प्रेमबन्धकन्दली या छतु विस्प-
ष्टमपि नानुसंधायति ॥२१॥

श्रीराधिका—(पुरो विलोक्य) सहि वृन्दे ! रक्खेहि मम् । (इति त्रासं
नाटयन्ती ।)

सत्पौ सत्पद्म भिङ्गपन्तिमिसदो काली रसालांकुरे
रत्तासोमसिरे विरेहइ तथा पुष्पच्छलादो मिही ।
सिङ्गे केसुअसाहिणो अ कलिकादम्भेण संभेदिनी
मं भेत्तुं कुसुमायुधस्य वलइ कुराद्धचन्द्रावली ॥

[सखि वृन्दे ! रक्ष माम् ।

सर्पा सर्पति भृङ्गपत्तिमिपतः काली रसालांकुरे
रत्ताशोकशिरसि विराजति तथा पुष्पच्छलाच्छिखी ।
शृङ्गे किमुकशाखिनश्च कलिकादम्भेन संभेदिनी
मां भेत्तुं कुसुमायुधस्य वलते क्रूराध्वचन्द्रावली ।] ॥२१॥४८८
(इति वैवश्यं नाटयन्ति)

श्रीकृष्णः—(संभ्रमादभ्युपेत्य पाणि गृह्णन्नुच्चैः ।) सुकुमारि ! किम-
काण्डे कातरासि ? यतः ।

वृन्दा—(हाथ की ओट में) प्रेमबन्धन का अंकुर अच्छी प्रकार
अधा ही कर देता है, जिससे स्पष्ट रूप से दीखती हुई वस्तु को भी वह
नही देखने देता ॥२१॥

श्रीराधिका—(सामने देखकर) हे सखिवृन्द ! मेरी रक्षा करो ।
(यह कहकर भय प्रकाश करती हुई) यह देखो, कालरूपी कालीसर्पिणी
मधुकर पत्ति के छल से आग्न मुकुल की ओर जा रही है, अग्नि पुष्प धनकर
अशोक वृक्ष के नवीन पल्लवों पर बैठ रहा है, और पलाश वृक्ष की कलिका
के रूप ने कर्प का मर्मभेदी क्रूर अर्द्धचन्द्रावली नायक अस्त्र मुझे फाड़ने
के लिए दम्भपूर्वक जबरदस्ती कर रहा है ॥२१॥४८८॥

(यह कहकर वेसुध हो जाती है)

श्रीकृष्ण—(तत्काल निकट आकर श्रीराधा का हाथ पकड़कर उच्च-
स्वर में) हे सुकुमारि ! तुम बिना कारण इतनी व्याकुल क्यों हो ? जय

त्वमुखलक्ष्मीगलपिता चन्द्रावलिर्ह विभेतिपूर्णपि ।
प्रणयान्धे तव वत्तु विमर्षचन्द्रावलो क्षमते? ॥२१३॥४६॥

श्रीराधिका—(सधैर्यं लज्जा नाटयन्ती स्वगतम् ।) कथं अच्छिलाग
चेअ हारिदं मणन्ती खिण्णस्मि? । [कथमक्षिलग्नमेव हारित मन्यमाना
खिण्णस्मि?] ॥२१४॥

श्रीकृष्ण—प्रिये । पश्य पश्य,

परिणतयज्ञोजस्पर्धित्तोक्तमास

कुसुममुपहसन्त्यास्तन्वि दन्तच्छदेन ।

फलविजयि कुवायास्सव-ब्रूयाद्दाडिमोय

मृदुलपवनबोलादम्भत बम्पतेऽद्य ॥२१५॥५०॥

वृन्दा—सखि राधे! निर्वर्ण्य तव कर्णकोचितकोरक कर्णिकारममूषु।

श्रीराधिका—

णजकर्णिकारकुसुमे भसलो रसलोहणिवचलो भोदि ।

[नवकर्णिकारकुसुमे भसलो रसलोभनिश्चलो भवति] ॥२१७॥

तुम्हारे मुख की शोभा को देखकर चन्द्रावलि भी भयभीत (ग्लानियुक्त) हो
रही है, फिर हे प्रणयान्धे ! अर्द्धचन्द्रावलि तुम्हारा क्या कर सकेगी ? ॥२१३॥

श्रीराधिका—(धैर्यपूर्वक लज्जित होकर अपने मन ही मन में) हाय!
नेत्रों से लगी वस्तु को छोड़ी हुई मानकर कैसे व्याकुल हो रही हूँ ? ॥२१४॥

श्रीकृष्ण—प्रिये देखो, देखो, तुम्हारे दाँतों की पक्ति की शोभा को
अपने पके हुए बीज या दानों की स्पर्धा—निन्दा करते हुए देखकर, एवं
तुम्हारे अघरोष्ठ द्वारा अपने फलों का परिहास होता जानकर तथा अपने
फलों के शोभा को तुम्हारे उरोज युगल की शोभा द्वारा पराजित हुआ
देखकर, हे कुशाङ्गि ! आज यह दाडिमी (अनार का वृक्ष) कोमल पवन से
आन्दोलित होने के चहाने भयभीत होकर मानो कांप रही है ॥२१५॥

वृन्दा—सखि राधे ! अपने कर्णमूषण योग्य कोरक (कलिका) श ली
इस कलिका के वृक्ष को देखो ॥२१६॥

श्रीराधिका—नवीन कर्णिका-पुष्प पर रसलोभी अमर निश्चल रूप
से शोभित हो रहा है ॥२१७॥

श्रीकृष्णः—

काञ्चनमञ्जनिविण्टो रत्नराजोऽयं शरीरोव ॥२१८॥५१॥

श्रीराधिका—पेख पेख । [प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व ।] (संस्कृतेन)

उद्धुरमरन्दमत्ता रुद्धे सारेण गन्धविसरेण ।

इह सुन्दर मल्लिगणे रोलम्बा हन्त गुञ्जन्ति ॥२१९॥५२॥

(कृष्णः 'उद्धुरमरन्द~' इत्यादि पठति ।)

वृन्दा—

पीतातिसूक्ष्मशिखरा चम्पककलिकेयमायताभाति ॥२२०॥

श्रीकृष्णः—

मानवतोद्गम्यनी हैमो कामस्य शक्तिरिव ॥२२१॥५३॥

मधुमङ्गलः—भो वयस्स, एसा कामस्स सत्ती न होइ । पेख, जडिला-
बिल्ला सा हरिभालगोरी लउडिआ । [भो वयस्य ! एसा कामस्य शक्तिर्न
भवति । पश्य, जटिलाक्षिप्ता सा हरितालगोरी लकुटिका ।] ॥२२२॥

(प्रविश्य)

श्रीकृष्ण—स्वर्ण मंच पर बैठा हुआ यह रत्नराज ही मानो शरीर
धारण कर रहा है ॥२१८॥

श्रीराधिका—देखो-देखो, अतिशय सुगन्ध विस्तार से अवलम्ब करने
वाले मनोहर मल्लिपुष्प पर मकरन्द में मस्त हुए सब मधुकर गुंजार कर
रहे हैं ॥२१९॥

(श्रीकृष्ण—“उद्धुर मरन्द”—अर्थात् मकरन्द मत्त—इस पद को बार
बार कहने लगते हैं ।)

वृन्दा—पीत एवं सूक्ष्माग्रभाग वाली यह चम्पक कलि अत्यधिक
शोभा पा रही है ॥२२०॥

श्रीकृष्ण—मानवतो रमणी के हृदय को मन्थनकारी कन्दपं की शक्ति
पी भांति—(शोभा पा रही है) ॥२२१॥

मधुमङ्गल—हे मित्र! यह कन्दपं की शक्ति नहीं है। देख, जटिला द्वारा
फेंकी हुई वह पीली—गोरी मण्डुटी है ॥२२२॥

जटिला—अरे जिम्ह बह्मण, एत्थ लघुडो मए विमुमरिदा ।
[अरे कुटिल ब्राह्मण ! अत्र लघुडो मया विस्मृता ।] ॥२२३॥

श्रीराधिका—(अपवार्य समयम्) सहि^१ परित्ताहि, परित्ताहि, ऐसा
कालरत्नोच्च दारुणा बुझीआ मं दिट्ठवदी । [सखि ! परित्रायस्व परित्रायस्व ।
एषा कालरात्रीच दारुणा वृद्धा मा दृष्टवती ।] ॥२२४॥

(इति ललितावृन्दाभ्यां सह निष्कान्ता)

श्रीकृष्ण.—(अपवार्य ।)

मम संगमामृतरसं न जिघृक्षसि न च जिहाससि प्रकटम् ।

जटिलाख्याघ्नीचकिता तृपिता राधाकुरङ्गोदयम् ॥२२५॥५४॥

मधुमङ्गल —भो सरमालाङ्गलकुटिले । घेप्प अप्पणो जटिम् ।

[भो सरमालाङ्गलकुटिले ! गृहाणारमनो यट्टिम्] ॥२२६॥

जटिला—(यट्टिमादाय ।) अरे सुअल ! कौस तुमं बट्टडिआवेसेण
मं सदा विडम्बेसि ? [अरे सुअल ! कस्मात्त्व वधूटिकावेदोऽन मां सदा
विडम्बयसि ?] ॥२२७॥

(जटिला प्रवेश करती है)

जटिला—अरे कुटिल ब्राह्मण ! मैं यन्त्री लाठी भूल गई थी ॥२२३॥

श्रीराधिका—(कानाफूमी करती हुई भयभीत होकर) सखि ! मेरी
रक्षा करो, रक्षा करो । कालरात्रि की भाँति इस दारुण वृद्धा ने मुझे देख
लिया है ॥२२४॥

(ऐसा कहने हुए ललिता तथा वृन्दा के साथ श्रीराधा चली जाती हैं)

श्रीकृष्ण—(हाथ की ओट कर) जटिला रूपिणी व्याघ्री के मय से
तृष्णाकुला राधारूपी हरिणी स्पष्ट रूप से मेरे सङ्गमरूप अमृत रस का न
तो आस्वादन कर पाती है और न त्याग हो कर सकती है ॥२२५॥

मधुमङ्गल—अरी कुक्कुर-लागुलनुत्य कूटिले । यह से अपनी लाठी ॥

जटिला—(लाठी लेकर) अरे सुअल ! किम लिए तू मुझे सदा वधू-वेश
धारण कर धोका देता है ? ॥२२७॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम् ।) दिष्टया सुवलतया ज्ञातमभूत् । (प्रकाशम् सनर्मस्मितम् ।) जटिले ! गुरुभ्यः शपमानोऽस्मि, राधिकैव साधयति, न खल्वसौ सुवलः ॥२२८॥

जटिला—रे धूर्त ! विअखणाहं सत्त्वं परीखिदुं बखमम्हि । ता अलं एत्थ ठगत्तणेण । [अरे धूर्त ! विचक्षणाहं सर्वं परीक्षितुं क्षमास्मि, तस्मादलमत्र ठगत्वेन] ॥२२९॥

(इति निष्क्रान्ता)

श्रीकृष्णः—सखे ! समागच्छ, गोकुलमेव प्रविशायः ॥२३०॥

(इति निष्क्रान्तौ)

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीविदग्धमाधव-नाटके श्रीराधाप्रसादनो नाम पञ्चमोऽङ्कः ॥५॥

श्रीकृष्ण—(मन में) याह ! कैसा सोभाग्य ! अब भी इसे राधा सुवल ही दिखाई दी है । (स्पष्ट परिहास पूर्वक हंसी करते हुए) जटिले ! मैं गुरु-जनों की दापय खाता हूँ, यह राधा ही जा रही है, सुवल नहीं है ॥२२८॥

जटिला—अरे धूर्त ! मैं चतुर हूँ, मैं सब की परीक्षा करना जानती हूँ । वस मेरे सामने और धूर्तता मत करना ॥२२९॥

(यह कहकर चली जाती है)

श्रीकृष्ण—मित्र मधुमङ्गल ! आओ, हम गोकुल चलते हैं ॥२३०॥

(यह कहकर चले जाते हैं)

(इसके बाद सब चले जाते हैं)

इस प्रकार श्रीश्यामदामानुवादित श्रीविदग्धमाधव नाटक का 'राधाप्रसाद'—नामक पाचवाँ अंक समाप्त हुआ ॥५॥

पाठोऽङ्कः।

(ततः प्रविशति जटिला)

जटिला—सुखं मएजं अज्ज पीअपडेण विट्ठलरीआ बहू धिरे विट्ठह । ता गदुअ जहत्थं णिद्वारइस्सम् । (इति परिक्रम्य पश्यन्ती) कथं एसा! विशाखा घुम्मिअ घुम्मिअ अलिन्दे पड़ेई ? ता सद्दाइस्सम् । (इत्युपमृत्य ।) विशाखे! जावो एक्कपहरो, तहंवि घुम्मसि ? [अतं मया पदघ पीतपट्टेन कृतोत्तरीया वधूगृहे तिष्ठति । तद्गत्वा यथार्थं निर्धारयिष्यामि । कथमेया विशाखा घुणि-त्वा घुणित्वा अलिन्दे पतति ? तच्छब्दादिष्ये । विशाखे ! जात एकप्रहरस्त-थापि घुणोमे ? ॥१॥

(प्रविश्य)

विशाखा—(स्वगतम्) संपदं रासमहसवगग्भासु सव्वरीसु कुदो णिदा-गन्धोवि अम्हाणम् ? ता जुत्तं जेव्व घुम्मणम् । (इति हठादहशी विकाश्य

श्रीगोराङ्गविधुजयति

छठा अंक

[तव जटिला प्रवेश करती है]

जटिला—आज (पक्षा से) सुना है कि राधा पीतपट्ट ओढ़कर घर में बैठी है, वहा जाकर सत्य-भूठ का निर्णय करती हूँ। (धूमकर देखती है) यह क्या ? विशाखा धूम धूमकर द्वार-घोतरे पर पड़ी है । चलकर आवाज दू । (निकट आकर) विशाखे ! एक पहर दिन चढ़ आया है, अभी तक तू सो रहीं है ? ॥१॥

(विशाखा प्रवेश करती है)

प्रकाशम् ।) लज्जे, लज्ज भञ्जबोए णिदेसेण देअदाअदरो अम्हे दिण्णजाअ-
रम्ह । [सांप्रतं रासमहोत्सवगर्भासु शर्वरीषु कुतो निद्रामन्धोऽप्यस्माकम् ।
तद्युक्तमेव भ्रमणम् । आर्ये ! अद्य भगवत्या निदेयेन देवतायतने वयं दत्त-
जागराः स्मः ।] ॥२४॥

जटिला—(स्वगतम् ।) लखी जेव्व पदेसे वहुए सेज्जा सुण्णाअसि । *
(प्रकाशम् ।) विसाहे ! आमा रेहि वहुअम् । [अत एव प्रदोषे वध्वाः शम्पा
धून्यासीद् । विशाखे ! आकारय वधूम् ।] ॥३॥

विशाखा—हला राहे ! इबो इबो । [हला राधे ! इत इतः]

(प्रविश्य)

श्रीराधा—(चक्षुषो विमृज्य सजृम्भम् ।) विसाहे बाई गिद्दाजलन्हि ।
(इति हृष्टिं दरोक्षपाटय सशङ्कं स्वगतम् ।) कथं इव जेव्व लज्जा । [विशाखे,
बाई निद्राकुलास्मि । कथमित एव आर्या] ॥५॥

जटिला—(राधां निर्वर्ण्यं स्वगतम्) हद्दी, हद्दी सच्चं जेव्व एवं पीअम्ब-

विशाखा—(मन मन में) खै इत रासमहोत्सव प्रवान करने वाली
रासियो मे भना हमे निद्रा की गन्ध ही कहाँ प्राप्त होती है ? इसलिये
सोते रहना ही उपयुक्त है । (यह कहकर एकदम नेत्र खोलते हुए स्पष्ट कहती
है) हे आर्ये ! आज भगवती पौर्णमासी के आदेशानुसार देव-मन्दिर मे मैने
जागरण किया है ॥२॥

जटिला—(मन में) इसीलिए ही आज संध्या के समय राधा की
शम्पा सूनी पड़ी थी । (स्पष्ट कहती है) विशाखे ! राधा को तो बुला ॥३॥

विशाखा—हे राधे ! इधर (देख) इधर ॥४॥

(श्रीराधा प्रवेश करती है)

श्रीराधिका—(आँखो को मलती एवं जम्हाई लेती हुई) विसाखे !
मुझे बहुत नींद आ रही है । (यह कहते हुए जरा नेत्र खोलकर दाँबा सहित
मन में कहती है) अरे यहां आर्या (जटिला) कैसे ? ॥५॥

जटिला—(श्रीराधा को देखकर, मन ही मन में) हाय धिक्कार !

रम् । [हा धिक् हा धिक्, सत्यमेवं पीताम्बरम् ।] ॥६॥

श्रीराधिका—(जनान्तिकम्) हला ! सुदं मए सारङ्गीमुहादो, जं
णितीधे बुद्धिआए तस्स विलासपुल्लिणे गदं आसि । ता गूलंअम्हे तत्थ
दिट्ठम्ह । [हला ! श्रुतं मया सारङ्गीमुखात्त्रिशीथे वृद्धया तस्मिन् इदं विला-
संपुल्लिने गतमासीत् । सन्नुनं वयं तत्र दृष्टाः स्मः ।] ॥७॥

विशाखा—णहू णहू । जं कधिदं बुन्दाए तुमं घेत्तूण तिरोहिदे कण्ठे
तथा अम्हेसु दोसु सहोसु सयङ्कं चुइ उद्देसस्स गदासु एसा बुद्धो उअत्थिदा ।
[न खलु न खलु । यत्कथित वृद्धया त्वा गृहीत्वा तिरोहिते कण्ठे तया आ-
वयोर्द्वयोः सख्योः सशङ्कं तबोद्देशाय गतयोः एषा वृद्धा उपस्थिता] ॥८॥

श्रीराधिका—तवो कीस इअ कोअभअंकरोए दिट्ठीए मं पेवणन्ती
चिट्ठवि ? [ततः कस्मादिय कोपमयकर्या दृष्टया मा पश्यन्ती तिष्ठति] ॥९॥

जटिला—(सेष्यम्) मिच्छाजल्पिणि विसाहे ! किं नाम अन्धासि
तुमम् ? [मिथ्याजल्पिनि विशाने । किं नामअन्धासि त्वम् ?] ॥१०॥

धिवकार ! यह तो सचमुच पीताम्बर ओढ़ रही है ॥६॥

श्रीराधिका—(कानाफूसी करते हुए) सखि ! मैं ने सारङ्गी के मुँह
से सुना है कि वृद्धा (जटिला) आधी रात को उसी क्रीड़ा-पुल्लिन में गई थी ।
इसलिए जान पड़ता है, उसने हमें निश्चय देख लिया है ॥७॥

विशाखा—न न ऐसी बात नहीं है, जैसा कि बुन्दा ने कहा है, तुम्हें
लेकर श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने पर हम दो जनों और सखियाँ जब सका-
कुल होकर तुम्हें ढूँढ़ने गईं, उसके बाद वह वृद्धा बहा गई थी ॥८॥

श्रीराधिका—तब यह वृद्धा क्रोधपूर्वक आँखें फाड़कर मेरी तरफ क्यों
देख रही है ? ॥९॥

जटिला—(ईर्ष्या पूर्वक) अरी मिथ्यावादिनि विशाखे ! क्या तू अन्धी
हो रही है ? ॥१०॥

विशाखा—(राधां विलोक्य सूखेदं जानान्तिकम्) अइ विलासविह्वले !
किं वधु एदम् । (अयि विलासविह्वले ! किं खलु इदम् ?) ॥११॥

श्रीराधिका—(स्वं वक्षो निरीक्ष्य ससंभ्रमम्) ! हला ! तुम जेव सर-
णम् । [हला त्वमेव शरणम्] ॥१२॥

विशाखा—(जटिलामवेक्ष्य । संस्कृतेन)

मुदाक्षिप्तः पर्वोत्तरत्तुहृदयाभिर्युवतिभिः

पद्मः पुरैः पीतोक्तमतिहरिद्रावभयैः ।

दुकूलं दोर्मलोपरि परिदधानां प्रियसखी

कथं राधामार्ये, कुटिलितदृगन्तं वत्सपति ॥१३॥१॥

जटिला—(सविभ्रमम्) बिसाहे ! तुए जेव चंचलाए मम पुत्रघर-
-दिपासिदम्, जं जोखणघाणं गोइणं मण्डे वहरिमा निज्जइ । [बिसाहे !
श्वयैव चंचलया-मम पुत्रगृहं विनाशितम्, यद्गोवतान्धानां गोपीनां मध्ये वधू-
टिकानीयते ।] ॥१४॥

विशाखा—(श्रीराधा, को देखती हुई, दुखपूर्वक कान में, धीरे से) ! श्री
विलास-विह्वले ! यह क्या ? (पीताम्बर ओढ़ रही हैं ?) ॥११॥

श्रीराधिका—(अपने वक्षस्थल की ओर देखकर भयपूर्वक) हास !
अब तु ही मेरी रक्षा कर ॥१२॥

विशाखा—(जटिला की तरफ देखते हुए) आर्ये ! उत्सव के उपलक्ष्य
में चंचल-चित्त रमणियों ने आनन्द में भरकर हल्दी आदि द्रव्य घुले जल को
छिरका है, उसी से ही राधा के कंधों पर पीला वस्त्र ओढ़े हुए तुम देख
रही हो अतः तुम किस लिए प्रिय सखी राधा के प्रति कुटिल दृष्टि से देख
रही हो ? ॥१३॥

जटिला—(विश्वास करके) विशाखे ! तुम बड़ी चंचल हो । तुम ने
मेरे घेटे का धर बिगाड़ रखा है । यौवन-मद में खड़ी हुई गोपियों में
मेरी पुत्रवधू को क्यों ले जाती हो ? ॥१४॥

विशाखा—अज्जे ! किं त्ति म उवाल्हेसि । ए उवसणं दीधमा-
लिआएव्वलच्छी उवाल्हेहि, जाए सव्व आवालवुद्ध गोउलं जेव्व उम्मादिदम्
[आर्ये ! किमिति मामुपानभसे । एनमुपसत्ता दीपमालिका-पर्वलक्ष्मीमपाल-
भस्व, यया सर्वमावालवृद्ध गोकुलमेवोन्मादितम् ।] ॥१५॥

जटिला—वच्छे, सज्जं पहेसि । अज्ज रत्तिम्मि दिट्ठं मए सव्वाओ
गोउलकिसोरीओ तस्य पुलिणे उम्मत्तीभविसि किमि किपि चेटुन्दि । [वत्से !
सत्यं कथयसि । अद्य रात्रौ दृष्टं मया सर्वा गोकुलकिशोर्यस्तत्र पुलिने उन्म-
त्तीभूय किमपि किमपि चेष्टन्ते ।] ॥१६॥

(विशाखा सदृग्भङ्ग राधिकामीक्षते)

जटिला—(सदैन्यम्) अइ विसाहे ! पसीद पसीद । एसा अङ्गुलिसि-
हरं मुहे णिखविअ अङ्गमयेपि । ता मइ एव्वक अणुग्गह करेहि । [अयि
विशाखे ! प्रसीद प्रसीद । एषा अङ्गुलिशिखर मुखे निक्षिप्य अभ्यर्थयामि ।
तन्मय्येकमनुग्रह कुरु ।] ॥१७॥

विशाखा—(सप्रथमम् ।) अज्जे ! किं त्ति एव्व भणसि ? णिकाम
भाणवेहि । [आर्ये ! किमित्येव भणसि ? निक्काममाज्ञापय] ॥१८॥

विशाखा—आर्ये ! मुझ क्यों दीप दे रही हो ? इस निकटवर्ती दीप-
राधिका उत्सव की शोभा की निन्दा कर, जिसके लिए वच्चे से लेकर बूढ़ों
तक सभी गोकुल ही उनमत हो रहा है ॥१५॥

जटिला—बेटी तू सत्य कहती है । मैं ने भी देखा, आज रात कर
गोकुल की सब युवतियाँ उन्मत्त होकर पुलिन में इधर उधर भ्रमण कर
रही थी ॥१६॥

(विशाखा नेत्र-भङ्गी से राधिका की ओर देखती है)

जटिला—(दीनतापूर्वक) विशाखे ! प्रसन्न रहो, खुश रहो । देख मैं
मुह ने अगुली डालकर तुम्हारे प्रति एक प्रार्थना करता हूँ । तुम मुझ पर
एक अनुग्रह करो ॥१७॥

विशाखा—(आदरपूर्वक) आर्ये ! ऐसा क्यों करती हो ? जो इच्छा
हो आज्ञा करो न ॥१८॥

जटिला—वच्छे ! तुम विमुद्धासि । ता कण्हस्सहस्तादो रक्खेहि यह-
डिअम् । [वत्से ! त्वं विशुद्धासि । तत्कृष्णस्यहस्तात् रक्ष वधूटिकाम्] ॥१६

विशाखा—अज्जे ! निश्चिन्ता होहि, जं सतिदा वधु एत्थ दक्खा
विअक्खणा अ [आयें ! निश्चिन्ता भव, यत्नलिता खल्वत्र दक्षा विचक्षणा च।]

जटिला—कहि गदा सतिदा ? [कुत्र गता ललिता ?] ॥२१॥

विशाखा—वेक्ख . पउमाए समं इदो जेव्व एसा आअच्छदि ।
[प्रेक्ष्यस्व ! पद्मया सममित एवैषा आगच्छति ।] ॥२२॥

जटिला—अहं उप्पलिभानिप्पावणस्स गमिस्सम् । [अहमुत्पलिकानि-
प्पादनाय गमिष्यामि ।] (इति निष्क्रान्ता ।) ॥२३॥

(प्रविश्य पद्मया सह)

ललिता—सहि पउमे! कुहो आअच्छसि [सखि पद्मे, कुत आगच्छसि?

पद्मा—ह्ला! कण्हस्स सआसादो । [ह्ला कृष्णस्य सकाशात् ।] ॥२४॥

जटिला—देख बेटी ! तुम अति निर्मल-चरित्रा हो । इसलिए कृष्ण
के हाथ से मेरी इस पुत्रवधू की तू रक्षा कर ॥१६॥

विशाखा—आयें ! तुम निश्चिन्त रहो । इस विषय में निश्चय ही
ललिता बड़ी चतुर व होशियार है ॥२०॥

जटिला—ललिता कहां गई है ? ॥२१॥

विशाखा—देखो, पद्मा के साथ अभी ललिता आती होगी ॥२२॥

जटिला—अच्छा, मैं ऊपले थापने जा रही हूं ॥२३॥

(ललिता पद्मा के साथ प्रवेश करती है)

ललिता—सखि पद्मा ! कहां से आ रही हो ? ॥२४॥

पद्मा—सखि ! श्रीकृष्ण के पास से ॥२५॥

ललिता—कहि कण्हो ? [कुस इदानी कृष्ण] ॥२६॥

पद्या—मालदीवाटिकापेरन्ते । [मालतीवाटिकाप्रान्ते] ॥२७॥

ललिता—किं कृण्वि । [किं करोति ?] ॥२८॥

पद्या—मधुमङ्गलद्विजो बिहरवि । [मधुमङ्गलद्विनीयो बिहरति] २९

ललिता—(सपरिहासस्मितम्) हला । किं णाम सपूरिदाहिट्ठासि ?

[हला । किं नाम सपूरिताभीष्टासि ?] ॥३०॥

पद्या—(विहस्य) मा अण्णघा सभावेहि । मए मालदीसेहरो एकत्तो गण्ठिअ तस्स उवहारीकिदो (स्मृतिमभिनीय) हत्ता, कधिअ मै कण्हेण—
'पउमे । तुम जया सनद माल समप्पेसि, एव ललिदावि मे विविस्ताहउ-
लच्छीम् । ता एसा मे लेहपत्तिआ तुए तिस्सा हस्ये वेआ' ति । [मा अन्यथा
सभावय । मया मालतीशेखर एको ग्रथिरत्वा तस्योपहारीकृत हला । कतिथ
मे कण्णेन—पद्ये त्व यथा सतत माला समर्पयसि, एव ललितापि मे विचित्र-
धातुलक्ष्मीम् । तदेवा मम लेखपत्रिणा त्वया तस्या हस्ते देया' इति] (इति
पत्रिकामर्पयति) ॥३१॥

ललिता—कहा हैं श्रीकृष्ण अब ? ॥२६॥

पद्या—मालती वन मे ॥२७॥

ललिता—क्या कर रहे हैं ? ॥२८॥

पद्या—मधुमङ्गल के साथ खेल रहे हैं ॥२९॥

ललिता—(मुस्कान सहित दिलगी करते हुए) सखि । तुम्हारी अमि-
लापा पूर्ण हो गई है क्या ? ॥३०॥

पद्या—(हसकर)मन मे कुछ और मत लाना, मैं ने मालती की एक
माला गूथकर उन्हे उपहार म दी है । (इतना कहकर स्मरण करते हुए)
सखि । मुझे श्रीकृष्ण ने कहा—पद्ये । तुम जैसे मुझे नित्य माला अर्पण
करती हो, उसी प्रकार ललिता भी गेरिकादि धातुओं से मेरी चित्र-विचित्र

ललिता—(गृहीत्वा स्वगतम् ।) कदावि कण्हस्त मए ढाउराओ ण समप्पिदोसिथ । ता एध अवरेण केणावि रहस्सेण होदव्वम् । [कदापि कृष्णस्य मया धातुरागो न ससपितोऽस्ति । तदत्रापरेण केनापि रहस्येन भवितव्यम् । एवं सकेतेनानेनयाज्ञप्तम् । सखि, तथा करिष्यामि । तदग्रतो राधिकामापृच्छय साधय ।] ॥३२॥

(इति प्रकाशं पत्रिकां वाचयति ।)

‘स्वया मुक्तगिरिः पाणो ममातुच्छपदस्थितिः ।

निधोयतामधीरासि रागिधातुपरिच्छदः ॥३३॥२॥

इति क्षण विमृश्य स्वगतम्) राधा मम पाणौ निधीयाताम्—
एवं संकेदेण इमिणा अणत्तम् । (प्रकाशम्) सहि तथा करिस्सम् । ता अगवो राहिअं आपुच्छिअ साहेहि ॥३४॥

शोभा सजाती! है । इसलिए मेरी यह एक पत्रिका उसे दे देना ।” (यह कह कर पद्मा ललिता के हाथ में पत्रिका देती है) ॥३१॥

ललिता—(पत्रिका लेकर मन ही मन में) मैं ने तो कभी श्रीकृष्ण के अङ्गो पर धातु-राम नहीं किया है, इस बात में कोई रहस्य जान पड़ता है ॥

(यह सोचकर स्पष्टतः पत्रिका पढ़ती है)

हे चञ्चलनेत्रे (ललिते) मेरे हाथ में रागिधातु-परिच्छद अर्थात् पर्वत के क्षितिज पर स्थित लाल रंग की धातु से(रंगी) पोशाक समर्पण कर ॥३३॥

(पत्र को पढ़कर एक क्षण सोचने के बाद ललिता समझ गई कि) ‘मेरे हाथ में श्रीराधा को अर्पण कर?’ इस बात की श्वेतपूर्यंक मुझे आज्ञा की है। (स्पष्टतः बोली) सखि! ऐसा ही करूँगी । पहले श्रीराधा को पत्रकर देना करूँगी ॥३४॥

१. [श्री कृष्ण ने पत्र में लिखा था—हे चञ्चलनेत्रे ललिते ! मेरे हाथ रागि-धातुपरिच्छद को अर्पण कर, किन्तु गिरि को छोड़कर तथा अतुच्छद स्थिति अर्थात् त्रिगुणमुच्छद नहीं है । तात्पर्य यह है कि रागिधातु परिच्छद शब्द में गि, री, पु, णा, प, द इनको निवास देने में श्वेत राधा शब्द ही रह जाता है । अ. योऽप्य ने लिखा था कि मेरे हाथ में श्री राधा को अर्पण कर]

पद्मा—(राधिकामुपेत्य सनर्मस्मितम्) हन्ता राहे! दिट्ठिआ णिविवादं जादम् । जघा गोउलिन्दणन्दणेण अम्हाणं अंसुआइं अवहरिदाइं, तथा अम्हेहि तस्स इदं पीदंसुअम् ॥३५॥

ललिता—(स्मित्वा) अइ णिल्लज्जे ! कुङ्कुमपङ्कपिञ्जरिदं पिअसहीए उत्तरोअं पेविण्णअं किं ति अणत्थं आसङ्कुसि ? [अयि निलज्जे ! कुङ्कुमपङ्क-पिञ्जरितं प्रियसख्या उत्तरोअं प्रेक्ष्य किमित्यनर्थं आशङ्कुसि ?] ॥३६॥

पद्मा—(सस्मितम्) हला राहे ! अणुजारेहि मम् । तुरिअं सहिस्वलीं गदुअ कण्हस्स लीलं गाअन्तीं पिअसहीं चन्दाअलिअं सुहावइस्सम् [हला राधे ! अनुजानीहि माम् । स्वरितं सखीस्यन्ती गत्वा कृष्णस्य लीलां गायन्ती प्रियसखी चन्द्रावली सुखयिष्यामि] ॥३७॥

विशाखा—(विहस्य) पडमे, घण्णाओ तुम्हे । जाहि अवंसणे वि कण्हस्स विलासगीदिहि पिअसही चन्दाअली सुहावीअदि [पधे ! धन्या यूयम् । याभिरदर्शनेऽपि कृष्णस्य विलासगीतिभिः प्रियसखी चन्द्रावली सुखाप्यते ।] ॥३८॥

पद्मा—(श्रीराधा के पास आकर दिल्लगीपूर्वक मुस्कराते हुए) सखि राधे ! दैवयोग से विवाद मिट गया है । गोकलेन्द्रनन्दन ने जैसे हमारे वस्त्र हरण कर लिए थे, उसी प्रकार आज हमने भी उनका पीताम्बर हरण कर लिया है ॥३५॥

ललिता—अरी निलज्ज ! प्रिय सखी राधा के कुंसेर रंजित पीत वस्त्र को देखकर क्यों अनर्थ (अर्थात् कृष्ण संगम चिह्न) की आशंका रहती कर रही हो ? ॥३६॥

पद्मा—(मुस्कराते हुए) हे राधे ! मुझे आज्ञा दो तो शीघ्र सखीस्थल गाँव में जाकर कृष्णलीला गान-परायण प्रिय सखी चन्द्रावली को सुनो करूँ ॥३७॥

विशाखा—(हंसकर) हे पधे ! तुम धन्य हो, जो श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त न होने पर भी तुम श्रीकृष्ण की लीला गान कर चन्द्रावली को सुनो करती रहती हो ॥३८॥

पद्मा—विसाहे! तुम्हेंहि कीस तथा ण किञ्जइ? [विशाखे! युष्माभिः कस्मात्तथा न क्रियते?] ॥३६॥

विशाखा—अइ कुदो अम्हाणं इदिसंभाअधेअम् ? [अयि! कुतोऽस्माक-
मीदृशं भागधेयम्] ॥४०॥

पद्मा—हला कयं गत्थि [हला ! कयं नास्ति ?] ॥४१॥

विशाखा—पूछे, कण्हस्स णाममेसो पत्थुदे सही राहिआ विपखुअमादि!
[मुग्धे ! कृष्णस्य नाममात्रे प्रस्तुते सखी राधिका विशुभ्यति] ॥४२॥

पद्मा—(स्वगतम्) सपखे पेम्मुक्करित्तो इमाए विपळाविदो होवु ।
(प्रकाशम् ।) विसाहे ! तुम्हे जेव्व सुट्ठु, सुहिणीओ । अम्हाणं वखु कावि
दुक्खवसा अणुअट्ठिदि । [स्वपक्षे प्रेमोत्कर्षोऽनया विख्यापितः । भवतु । विशाखे,
यूयमेव सुष्टु, सुखिन्यः । अस्माकं खलु कापि दुःखवशा अनुवर्तते ।] ॥४३॥

ललिता—पउमे ण वखु तुम्हाए किवि दुक्खं संभावअदि । [पद्मे, न
खलु युष्माकं किमपि दुःखं संभाव्यते ।] ॥४४॥

पद्मा—सलित्ते ! मा एव्वं भण । जं हारगण्ठण-केसप्पसाहणधिम्विआ-

पद्मा—विशाखे ! तुम भी ऐसा क्यों नहीं करती हो ? ॥३६॥

विशाखा—सखि ! हमारे ऐसे भाग्य कहाँ ? ॥४०॥

पद्मा—अरी ! क्यों नहीं है ? ॥४१॥

विशाखा—अरी मुग्धे ! यहां तो कृष्ण का नाम मात्र लेने पर ही
हमारी सखी राधा धुग्ध हो उठती है । (लीलागान मुनना तो दूर रहा)

पद्मा—(मन में) ये तो अपने पक्ष का प्रेमोत्कर्ष ही वर्णन करती हैं,
ठोक है । (स्पष्ट कहती है) विशाखे ! तुम ही यथार्थ में सुखी हो । हमारे
लिए न जाने कैसा दुःख पैदा हुआ है ॥४३॥

ललिता—पद्मे! तुम्हारे लिए तो हमें कोई भी दुःख की सम्भावना नहीं
दीसती है ॥४४॥

पद्मा—सलिते! ऐसा मत कहो । चन्द्रावली के लिए हर समय माता-

हररञ्जनपट्टदीहि चन्दाअलीए खेवच्छइं सव्वदा कुणन्तोणं अम्हाण दुख-
जालस्य अन्तो णत्थि [ललिते] मैव भण । यत्तहारण्यन-केशप्रसापन-विम्बा-
घर-रञ्जन प्रभृतिभिश्चन्द्रावल्या नेपथ्यानि सर्वंश कुर्वन्तीतामस्माक ॥ ख-
जालस्यान्तो नास्ति] ॥४५॥

विशाला—(विहस्य ।) हला पउमे, सच्च तुम्हाणं वहुइं दुवत्ताइं ।
अम्हाण उण एक्क जेअ [हला पये] सत्य युष्माक वहुनि दु खानि ।
अस्माक पुनरेकमेव ।] ॥४६॥

पद्मा—हला किं तस्स [हला । किं तस्स] ॥४७॥

विशाला—पउमे । जा कावि मच्चुल्लहा आगासतारा पप्फुरदि, तत्थ
जावाहिलासस्स कस्स वि कालिन्दोकूलणन्दिणो समवस्स गन्धकलहिम्बस्स
सव्वदा अभत्थणकवत्थणम् । [पये । या कापि मत्त्यं दुर्लभा आकाशतारा

गुन्यन, केश-संस्कार, विम्बाघर-रजन इत्यादि करते करते तो हमारे दुख
का कभी अन्त ही नहीं हो पाता । (अर्थात् चन्द्रावली तो इतनी सौभाग्य-
शाली है कि एक दिन में ही कई बार उसे श्रीकृष्ण-मिलन प्राप्त होता है ।
इसलिए हमें बारम्बार उसका श्रृंगार करना पड़ता है । किन्तु तुम्हारी
सखी राधा को तो कभी कभी ऐसा सौभाग्य मिलता है, और तुमको भी
कभी कभी ऐसा परिश्रम करना पड़ता है । अब हमारे दुख की क्या सीमा ?)

विशाला—(हस्यर) सखि पये । सबमुच तुम्हे वहुत से कष्ट है, हमें
तो केवल एक दुःख है ॥४६॥

पद्मा—सखि । वह क्या ? ॥४७॥

विशाला—पये । इस जगत् में अति दुर्लभ अनिर्वचनीय आकाश का
तारा स्फुरित हो रहा है । उसे प्राप्त करने के लिए कोई एक कालिन्दोकूल
विहारो जन्मल हस्तिनावक लालायित होकर मदा सदा हमारी प्रार्थना
करता रहता है, यह एक हमें बड़ा दुःख लगता है । [अर्थात् तुम्हारी प्रिय
सखी चन्द्रावली से दिन में अनेक बार ही श्रीकृष्ण का मिलन होता है,
होना होगा, परन्तु हमारी प्रिय सखी श्रीराधा, तो श्रीकृष्ण के लिए एक
आकाश के तारे की तरह मुदुर्लभ है, उससे साक्षात् मिलन की प्रार्थना पर

प्रस्फुरति, तत्र जातामिवापस्य कस्यापि कालिन्दीकूलतन्दिनः समदस्य गन्ध-
कलभेन्द्रस्य सर्वदाअभ्यर्थनकदर्शनम्] ॥४८॥

ललिता—(स्मित्वा ।) विसाहे अण्णं एक्कं गरुअं दुक्खं तुए कधं
विमुमरिदम् ? [विशाखे ! अन्यदप्येकं गुरकं दुःखं त्वया कथं विस्मृतम् ?]

विशाखा—सलिवे ! किं तं मुमरावेहि [ललिते ! किं तत्स्मारया।]

ललिता—अइ उज्जुए ! राहाए पाअपल्लअस्मि जावअराअस्स वखणे
वखणे विरअणम् [अयि ऋजुके ! राधायाः पादपल्लवे यावकरागस्य क्षणे
विरचनम् ।] ॥४९॥

विशाखा—(सहासम्) अलिआसङ्किणि सलिवे ! विरमेहि विरमेहि ।
कण्हस्य उत्तमङ्गे ढ'उरां राओ जेव्वं रेहदि, न वल्लु जावआणम् । [अलि-
काशङ्किणि सलिते ! विरम विरम । कृष्णस्योत्तमाङ्गे घातुनाराग एव राजते,
न खलु यावकानाम् ।] ॥५०॥

श्रीकृष्ण के लिए दुर्लभ है । इसलिए हमे प्रिय राधा की सखी जानकर
बार बार श्रीकृष्ण जो हमें श्रीराधा को मिलाने की प्रार्थना करते रहते हैं,
यही हमे बहुत अलङ्गता है और दुःख देता है ॥४८॥

ललिता—(हसते हुए) हे विशाखे ! और एक जो बहुत बड़ा दुःख है,
उसे क्यों भूल रही हो ? ॥४९॥

विशाखा—सलिते ! वह क्या ? मुझे याद दिला दो न ॥५०॥

ललिता—अरी सरल स्वभावे ! राधा के चरण कमलों में बार-बार
अलक्तक (महावर) लगाना । (अर्थात् हर समय श्रीकृष्ण राधा को रिझाने
के लिए उसके चरणों में पड़ते हैं, उससे श्रीराधा के चरणों में लगी महावर
उत्तर जाती है और हमें ही उसे बार-बार लगाना पड़ता है—इस दुःख को तू
क्यों भूल रही है ? ॥५१॥

विशाखा—(हंसते हुए) अरी मिथ्याशङ्किणि सलिते ! चुप रहो, चुप;
श्रीकृष्ण के सिर पर घातुराग लगा रहता है, महावर नहीं होती ॥५२॥

श्रीराधिका—(सलज्जम्) हला पउमे । इमाण दुम्मुहीण पत्तावं
अणाण्णिअ तुण्ण पिअसहो चन्द्रावलीअ जेव्व जाहि । [हला पउमे । आसा
दुमुंखीना प्रलापमनाकण्यं तूर्णं प्रियसखी चन्द्रावलीमेव याहि] ॥५३॥

पद्मा—जघा आदिसदि पिअसहो । [यथा आदिशति प्रियसखी । (इति
निष्क्रान्ता ।) ॥५४॥

ललिता—(स्वगतम् ।) एहि कण्हस्य आण्ण करिस्समा । (प्रकाशम् ।)
हला राहे । एहि । पुष्प अवचिणिअ भअवन्त सूर पूएम्ह । [इदानीं कृष्ण-
स्याज्ञा करिष्यामि । हला राधे, एहि पुष्पमवचित्य भगवन्त सूर्य पूजयाम]

श्रीराधिका—(स्वगतम् ।) दिट्ठिआ हिअअट्ठिदो जेव्व मे कामो इमाए
उवणीदो, ज कण्हस्य इस्सण एत्थ सभवे । (प्रकाशम् ।) जघाहिरोअदि पिअ-
सहीए । [दिष्टया हृदयस्थित एव मे कामोजनयोपनीत यत्कृष्णस्य दर्शनमत्र
सम्भवेत् । यथाभिरोचते प्रियसख्यै] (इति निष्क्रान्ता ।) ॥५५॥

(तत्तः प्रविशति मधुमङ्गलेनोपास्यमान कृष्ण)

श्रीराधिका—(लज्जा सहित) सखि पउमे । तू इन दुमुंखी सखियो के
प्रलाप-वचनो को मत सुन । शीघ्र अपनी प्रिय सखी चन्द्रावली के पास
चली जा ॥५६॥

पद्मा—हे प्रिय सखि । जैसी आपकी आज्ञा ॥ (इतना कहकर चली
जाती है) ॥५७॥

ललिता—(अपने मन में) अब श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन करती
हूँ । (स्पष्ट कहती है) हे राधे । जाओ, फूल चुन कर भगवान् सूर्यदेव की
पूजा करेंगी ॥५८॥

श्रीराधिका—(मन में) कैसे सोभाग्य की बात है, ललिता ने मेरे मन
के भाव को जान लिया है । वहा पर श्रीकृष्ण के दर्शन होंगे । (स्पष्ट कहती
है) सखि ललिते । जैसे तुम्हारी इच्छा हो ॥ (ऐसा कहकर चली जाती है)

[तत्पश्चात् मधुमङ्गल द्वारा उपास्यमान श्रीकृष्ण वहा प्रवेष्ट करते हैं]

श्रीकृष्णः—

नवस्तवकवत्तरोचदुत्तगन्धबन्दीकृत-
 भ्रमद्भ्रमरसंकृतिप्लुतमुदप्रगुञ्जाबुदम् ।
 शरत्कृशकलिन्दजापुत्तिनवृन्दसंवर्धितं,
 परिस्फुरति चन्द्रकस्थगितमद्य वृन्दावनम् ॥५७॥३॥

(पुनर्निरूप्य सानन्दम् ।)

शरदि मुखरिताशास्तारनादावलीभि-
 वलदविचलनेत्राः पश्य वृन्दावनेऽद्य ।
 विदधनि रणरङ्गं वासितासङ्गहेतोः
 सरभसगुणभृङ्गं सङ्गवे पुङ्गवेन्द्राः ॥५८॥४॥

मधुमङ्गलः—(सर्वतो विलोक्य ।)

तुह संगमेण पूषं, मुञ्च वृन्दावई घणछाया ।
 सध दम्नेण कुरण्डुअ-भरस्स पोवम्परं धरइ ॥

श्रीकृष्ण—हे सखे ! देखो तो आज मयूरपिच्छों से व्याप्त श्रीवृन्दावन की कैसी शोभा है ! नवीन पुष्प गुच्छों सहित लताओं की मनोहर सौरभ छा रही है भ्रान्त भ्रमरगण स्थिर होकर गुंजार कर रहे हैं, असंख्य पुष्प गुच्छ प्रफुल्लित हो उठे हैं, शरदकाल की कृशता के कारण यमुना अपने पुलिनों की शोभा सम्बर्धन कर रही है ॥५७॥३॥

(फिर देगकर आनन्द सहित कहते हैं)

मधुमङ्गल—देखो, शरदकाल के आज पूर्वाह्न समय में श्रीवृन्दावन के सब वनतान बल उच्च स्वर करते हुए दिशाओं को पूरित कर रहे हैं । शत्रु-मनी गौओं का सङ्गम करने के लिए टिकटकी बाँधकर ऊँचे-ऊँचे शृंगों में परस्पर युद्ध कर रहे हैं ॥ ५८॥४॥

मधुमङ्गल—(चारों ओर देगकर) हे मुकुन्द ! देखो, तुम्हारे सङ्गम के लिए मेघ-जालि हो इस वृन्दावती का सयम्प धारण कर बटसंरया

[तव सगमेन नून, मुकुन्द वृन्दाटवी घनच्छाया ।

पश्य दम्भेन कुरण्टकभरस्य पीताम्बर धरति ॥] ॥५६॥५॥

वृष्ण — (स्वगतम्) किमद्य निष्टुष्टितसकेतलेखार्थया पूर्णमनोरथी-
करिष्येऽहं ललितया ? हन्त, शारदमाधुरीसदोहसन्दानितापि वृन्दाटवीकक्षा
खञ्जनाक्षीविप्रकर्यादानन्दबिन्दुमपि न मे सन्दधाति। तद्वेणुसकेत सचारयामि।
(इति तथा कुर्वन्) ॥६०॥

दिध्यो रयाङ्गि समय सखि सगमस्य,

जम्ने वराङ्गि तरसा कुरु पक्षपातम् ।

अध्वानमर्धनयनेन विलोकमान ,

शोकादय सहचरस्तव रौरवीति ॥६१॥६॥

मधुमङ्गल — (विहस्य) भो घमस्त । किं एवं अपूर्व्यं वादिदम् ?

[भो वयस्य ! त्रिमेदतपूर्वं वादितम् ?] ॥६२॥ .

श्रीकृष्ण — सखे ! कुरङ्गीलोकनार्थं ममायमुद्यम । ॥६३॥

(सतिवार) के फूलों का भानो पीताम्बर ही ओढ रही है ॥५६॥५॥

श्रीकृष्ण — (मन-मन मे) ललिता क्या आज मेरे सकेतार्थं युक्त पत्र का
अभिप्राय जानकर मेरे मनोरथ को पूर्ण करेगी ? हाय ! राजननेयनी श्री-
राधिका के विरह में यह शरदकालीन माधुरी-समूह से परिपूर्ण वृन्दावन भी
मुझे एक बिन्दु मान भी आनन्द प्रदान नहीं कर रहा है । इसलिए वशी के
द्वारा सकेत करता हूँ । (यह सोचकर वशी ध्वनि करते हैं) ॥६०॥

हे सखि चक्रवाकि ! सङ्कम का यह समय उपस्थित है । हे वराङ्गि !
शीघ्र अनुकूलता प्रदान कर । व्याकुल होकर तुम्हारा यह सखा अघणुने नेत्रों
से तुम्हारी वाट देखते हुए जोर से रा रहा है ॥६१॥६॥

मधुमङ्गल — (हसकर) हे सखे ! यह कैसी अपूर्व्य है नि की है ? ॥६२॥

श्रीकृष्ण — हे मित्र ! हरिणि को देखने के लिए मैं यह उद्यम
किया है ॥६३॥

मधुमङ्गलः—सस्रं वल्लु कश्चिदम् । किं तु उक्कं अक्खरं अण्णघा किअम् ।
[सत्यं कथितम् । किं त्वेकमक्षरमन्यथा कृतम् ।] ॥६४॥

श्रीकृष्णः—सखे साधु विदितं कुरङ्कोलोकनार्यमेव ॥६५॥

(नेपथ्ये)

पियन्तोनां घंशोरवमिह गवा कर्णं चुलुकैः,

पयःपूरा दूराद्दिशि दिशि तथा शुश्रु वुरमी ।

अकाले पुण्यद्विस्तर्लभिरभितः शोभितमिदं,

यथा वृन्दावण्यं दधिमयनदीमातृकममृतम् ॥६६॥७॥

कृष्ण—सखे दक्षिणतः पश्य ।

तुङ्गस्ताम्रोत्प्लवङ्गः स्फुरदरण्यपुरो रम्यविङ्गक्षणाधीः

कण्ठस्थः सन्ध्याघण्टो घरणिचिलुठितो वृण्डलाङ्गुलदण्डः ।

सोऽयं कैलासपाण्डुरतिरतुलककृन्मण्डलो मञ्चिकीनां

चक्रे भाति प्रियो मे परिमलतुलितोत्फुल्लपद्मः ककुप्ती ॥६७॥८॥

मधुमङ्गल—सखे कह रहे हो, किन्तु एक अक्षर रह गया है ॥६४॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! तुमने ठीक समझा है—हरिणि-नयनी (श्रीराधा)
को देखने के लिए ही ॥६५॥

(वेशधर से आवाज जाती है)

गोओं ने दूर से कानरूपी दोनों से जब मुरली ध्वनि का दान किया
॥ अयस्या में चारों दिशाओं में दूध प्रवाहित करने लगी । असमय में
समस्त वृक्ष पुष्पो से शोभित हो उठे । (दूध एवं पुष्पों के अम्लरस के मिराने
से यह दूध दही में बदल गया) जिससे समस्त वृन्दावन दधिमय नदी की
सदृह शोभित होने लगा ॥६६॥७॥

श्रीकृष्ण—हे सखे ! दक्षिण दिशा में देखो—

तावे की तरह ऊँचे सींग एवं सात गुरोंवाला और जिसके नेत्र तनाई
लिए भूरे रंग की घोड़ा देते हैं, कण्ठ में जिसके विनाल घण्टा लटक रहा है,
पृष्ठी तक जिसकी रुम्हो पूँछ एवं कैलास पर्वत के समान विस्तृत पीले वर्ण
की चिमरी बानि है, कर्ण पर विनाल टिल्ला शोभित है, जो उत्तम गोश्री
के शीघ्र में अवस्थित है, वही मेरा प्रियतम पद्मगन्ध-नामक बैल है ॥६७॥८॥

(ततः प्रविशति सखीभ्यामनुगम्यमाना राधा ।)

श्रीराधा—(स्वगतम्) जदो दिसादो वेणुसहो आअदो, ता दिसा मोहिदाए मए ण संभाविदा । [यतो दिशातो वेणुशब्द जागतः, सा दिशा मोहितया मया न संभाविता । ॥६८॥]

ललिता—(सोत्प्रासस्मितम्) हला राहिए ! कीस अकण्डे हरिणकणी तुमं जादासि ? [हला राधिके ! कस्मादकाण्डे हरिणकर्णी त्वं जातासि ?]

राधिका—ललिते किं त्ति अप्पणो घम्मं परस्स अप्पेसि ? सच्चं तुमं जेव्व हरिणी, जं कलसद्वेण हरिज्जन्तो बीससि । [ललिते ! किमिति आत्मनो घर्मं परस्मार्यमसि ? मत्स्य त्वमेव हरिणो, यत्कलशब्देन ह्रियमाणा दृश्यसे]

ललिता—राधे ! तुमं पळु हरिणी, जं एसा रङ्गिणीणाम हरिणीतुम्ह सही [राधे ! त्वं पळु हरिणी, यदेपा रङ्गिणी नाम हरिणी तव सखी] ॥७१॥

श्रीराधिका—(स्वगतम्) दिट्ठिआ एसा कावि सोरस्सधारा पुरोवाडि-
आओ हूदीव्व मं आअड्ढवि । [दिष्टया एषा कापि सौरभधारा पुरोवाटिकातो

(तव ललिता-विद्यास्त्रा दोनो सखियो के साथ श्रीराधा प्रवेश करती है)

श्रीराधिका—(मन मे) जिस दिशा से वेणुध्वनि आई थी, मैं तो मोहित हो जाने के कारण उस दिशा को नहीं पहचान पा रही हूँ ॥६८॥

ललिता—(उत्कण्ठा सहित मुस्कराते हुए) हे राधिके ! तुम किस लिए असमय मे मृगकर्णी—हरिण के से कानो बाती हो उठी हो ? ॥६९॥

श्रीराधिका—ललिते ! तू अपने स्वभाव को दूसरे पर क्यों थोप रही हो ? वास्तव मे तुम ही मृगकर्णी हो, क्योंकि उस मधुर ध्वनि से तुम्हारा हृदय आनन्दित हुआ दीखता है ॥७०॥

ललिता—राधे ! तुम ही यथार्थ हरिणी हो, क्योंकि रङ्गिणी नाम की हरिणी के साथ तुम्हारी मित्रता है ॥७१॥

श्रीराधिका—(मन मे) कैसा सौभाग्य है ! इस पुण्योद्यान से अनि-

दूतीव मामाकर्षन्ति] ॥७२॥ (इति सव्याज पुर प्रयाति)

विशाखा—(स्मृत्वा ।) हला राहि ! कीस तुम भिङ्गीव कपि गन्ध सप्पसि । [हला राधे, कस्मात्त्व भृङ्गीव कमपि गन्ध सर्पसि] ॥७३॥

श्रीराधिका—विशाहे ! अगगदो फुल्लाइ कुसुमाइ' दोसन्ति । ता एदाइ घेतूण तम्मिस्त पूअइस्सम् । [विशाखे ! अग्रत फुल्लानि कुसुमानि दृश्यन्ते । तदेतानि गृहीत्वा तन्मित्र पूजयिष्यामि ।] ॥७४॥

सलिता—हला ! सच्च मित्तस्य अणुराओ तुम तरलेदि । सो दाव गहन-चरस्सजेव्व, ण वणु गअणचरस्स । [हला ! सत्य मित्रस्यानुरामस्त्वा तरसपति । स तावद्गहनचरस्येव न खलु गगनचरस्य ।] ॥७५॥

श्रीराधिका—(सप्रणयरोपम्) अइ अदक्खिणे ! कमलवणु कथेमि । [अयि अदक्खिणे ! कमलवणु कथयामि ।] ॥७६॥

सलिता—सहि ! कीस आमार सगोवेसि ? [सखि ! कस्मादाकार सगोपयसि ।] ॥७७॥

वंचनीय सौरभ धारा दूती की तरह मुझे आकर्षण कर रही है । (यह कहकर धूलपूर्वक आगे जाती है) ॥७२॥

विशाखा—(मुस्कराते हुए) हे राधे ! किसलिए तुम भृङ्गी की तरह किसी सुगन्धी का पीछा कर रही हो ? ॥७३॥

श्रीराधिका—विशाखे ! सामने सब प्रफुल्लित पुष्प दीप्त रहे हैं, इन को चुनकर इनके मित्र—सूर्यदेव की पूजा करूँगी ॥७४॥

सलिता—सखि ! यह सच है, मित्र का अनुराग ही मुन्हें चञ्चल कर रहा है वह यनविहारी मित्र है, गगनचारी (सूर्य) नहीं ॥७५॥

श्रीराधिका—(प्रणय सहित) अरी भूगों ! मैं कमल-वणु (सूर्य) की बात यह रही है ॥७६॥

सलिता—सखि ! आमार छिदा रही हो ? अर्थात् कमला-वणु की वजाय कमल-वणु (सूर्य) क्यों कह रही हो ? ॥७७॥

विशाखा—ललिते ! सवत्तीभाएण ईसा ज्ञेअ सगोवेदि । न खलु उण पिअसही। [ललिते ! सपत्नीभावेनेऐएय्येव सगोपयति । न खलु पुन प्रियसखी।]

श्रीराधिका—(सभ्रू भङ्गम्) अइ वामे ! अत्तणो हिअअट्ठिदं अत्थं पर-
मुण्डे कीस पाडेसि ? ता तुवरेहि, जं णादिदूरे जेव्व सो तुम्हाए विम्बाहर-
कण्डूखण्डणो । [अयि वामे ! आत्मनो हृदयस्थितमर्थं परमुण्डे कस्मात्पातयसि ?
तत्त्वरय, यन्नातिदूरे एव स युष्माक विम्बाधरकण्डूखण्डन ।] ॥७८॥

ललिता—राहे ! आकौमारं अम्हाएण अक्खडिदं कुलङ्गणाव्वव वुन्दा-
वणलदाओ जेव्व जाणेन्ति । ता अत्तणो मुहेण किं कथइस्सम्ह ? [राधे !
आकौमारमस्माकमस्त्वन्नित कुलाङ्गनाव्रत वृन्दाननलता एव जानन्ति
सदात्मनो मुत्तेन किं कथयिष्याम. ?] ॥८०॥

श्रीराधिका—(विहस्य) अइ पइव्वदे ! जाणेन्ति जाणेन्ति । तदो
जेव्व कल्ले तुइ भुअवल्लिणो अङ्गे सकमिव दिट्ठु मए मअरकुण्डललङ्घणं ।
तथा जेव्व विसाहाए तप्पतुलिओवरि प्फुडिद सिहण्डकिरीडम् ।

विशाखा—ललिते ! सपत्नि भाववश ईर्ष्या ही (आकार को) छिपा
रही है, हमारी प्रिय सखि राधा उसे नहीं छिपा रही है । (अर्थात् कमला
(लक्ष्मी) श्रीराधा की सपत्नि है, इसलिए ईर्ष्यावश उसका नाम लेना नहीं
चाहती है । इसलिए कमला की बजाए कमल कह रही है) ॥७८॥

श्रीराधिका—(भृकुटी टेढ़ी करते हुए) अरी कपटनि ! अपने हृदय के
अभिप्राय को दूसरे के माथे नयो मढ रही हो ? अब जल्दी करो, तुम्हारे
विम्बाधरो की खुजली मिटाने वाला (श्रीकृष्ण) अब दूर नहीं है, समीप ही
ही मौजूद है ॥७९॥

ललिता—राधे ! कौमार काल से ही हमारा कुलाङ्गनाव्रत अखण्डित
है, इस बात को वृन्दावन की समस्त लताएँ जानती हैं, इसलिए हम अपने
मन से क्या कहे ? ॥८०॥

श्रीराधिका—(हसकर) अरी पतिव्रते ! जानते हैं, जानते हैं । इस-
लिए ही कल प्रातः काल मैं ने तुम्हारी भुजाओं में मकर-कुण्डल के चिन्ह देखे

[अयि पतिव्रते ! जानन्ति जानन्ति तत एव कल्पे तव भुजवल्लया अङ्गे संक्रान्तं दृष्टं मया मकरकुण्डललाञ्छनम् । तथैव विसाखायास्तल्प तुलिकोपरि स्फुटितं शिखण्ड-किरीटम् ।] ॥८१॥

ललिता—(स्मित्वा) परपरिवादिणी ! अवेहि अवेहि । [परपरिवादिनि ! अपेहि अपेहि ।] ॥८२॥

विशाखा—राहे ! कित्तिअं अप्पिस्ससि ? न पल्लु चन्द्रालोए चन्द्रकान्त-सिला अप्पसिण्णा होदुं पहवदि । [राधे ! कियदाच्छादयसि ? न पल्लु चन्द्रालोके चन्द्रकान्तसिला अप्रस्विन्ना भवितुं प्रभवति ।] ॥८३॥

श्रीराधिका—(पुरो दृष्ट्वा सचमत्कारम्) ललिते, तुण्णं अणुजाणैहि पलाइस्सम् । [ललिते ! तूणंमनुजानहि । पसायिण्ये] (इत्युत्कम्पते) ॥८४॥

ललिता—(सशङ्कम्) राहे ! कीस भाएसि ? [राधे ! कस्माद्विभेयि ?]

श्रीराधिका—(साम्यसूयम्) अइ वड्डु ! अलं अलिण्ण इमिणा उज्जु-अत्तरोण । तूणं इमस्स लम्पटस्स हत्थे पवण्डुं मं दूरे आणीवासि । [अयि वक्रे ! अलमलीकेनानेन ऋजुकत्वेन । नूनमस्य लम्पटस्य हस्ते प्रक्षेप्तं मां दूर मानीतासि ।] ॥८६॥

ये और विशाखा की शय्या पर मयूरपुच्छ का किरीट पड़ा हुआ था ॥८१॥

ललिता—(मुस्कराकर) हे परिनन्दा कारिणी ! जा, जा ॥८२॥

विशाखा—राधे ! क्यों धृष्या छिपा रही हो ? चन्द्रा की चांदनी में क्या चन्द्रकान्त मणि बिना द्रवीभूत हुए रह सकती है ? ॥८३॥

श्रीराधिका—(सामने देखकर आश्चर्य सहित) ललिते ! तू कह तो मैं सीधे भाग जाऊँ । (ऐसा कहकर काँपने लगती है) ॥८४॥

ललिता—(सद्भा सहित) राधे क्यों डर रही हो ? ॥८५॥

श्रीराधिका—(अगूया सहित) अरी वक्रे ! इस भोले भाले स्वभाव का इस समय कोई प्रयोजन नहीं है । निश्चय ही तুম मुझे इस लम्पट के हाथों में सोंपने के लिए यहां से आई हो ॥८६॥

ललिता—(निपुणं निभाल्य स्वगतम्) पूर्णं दूरदो विलोडज्जन्तं तमालं जेव्वे इअं कण्हें मण्णेदि । (प्रकाशम्) हुं, दाणि कधं पलाइस्ससि ? लद्धो मए ओसरो । [नूनं दूरतो विनोक्त्यमानं तमालमेवेयं कृष्णं मन्यते । हुं, इदानीं कथं पलायिष्यसे ? लब्धो मयावसरः] (इति राधिकामांकर्षति) ॥८७॥

श्रीराधिका—(सकातर्यम्) सहि विंसाहे ! परिस्ताहि परिस्ताहि । शरणाग्रमिह् । [सखि विशाखे ! परित्रायस्व, परित्रायस्व । शरणागतास्मि] ॥८८॥

विशाखा—अइ पेम्मुब्भमिदे ! कधं तिल्लोकं जेव्वे वे कण्हाएदि ? पेक्ख, एसो पत्तालो ण वंखुं तुज्झ विलासी । [अयि प्रेमोद्भ्रान्ते ! कथं त्रिलोक्यमेव ते कृष्णायते ? प्रेक्षस्व एष पलाशी न खलु तव विलासी] ॥८९॥

श्रीकृष्ण.—कथं नेदानोमपि प्रत्यासन्ना तन्वङ्गी ? तन्मुरलीमीर-मानि । (इति तथा कुर्वन्) ॥९०॥

अयि सुधाकरमण्डलि मण्डय, स्वमटवीं मृदुपादत्रिसंपर्कः ।
उदयशैलतटीनिहितेक्षणो ननु चंफोरयुवा परितप्यते ॥९१॥६॥

ललिता—(ध्यान पूर्वक देखकर अपने मन में) निश्चय ही यह दूर से तमाल वृक्ष को देखकर उसे कृष्ण मान रही है । (स्पष्ट कहती है) हा अब कहां भाग जाओगी ? आज मुझे अवसर मिला है ॥ (यह कहकर राधे को लीचत है) ॥८७॥

श्रीराधिका—(कायर होकर) सखि विशाखे ! मेरी रक्षा कर, रक्षा कर, मैं तेरी शरण ॥ ॥८८॥

विशाखा—अयि प्रेम-पगलि ! क्यों तेरे लिए त्रिभुवन कृष्णमय हो रहा है ? देख यह वृक्ष है न कि विलासी-कृष्ण ॥८९॥

श्रीकृष्ण—न जाने अभी तक वह कुशाङ्गी राधा मेरे निकट क्यों न आई ? एक बार और वंशी बजाता हूँ । (यह कहकर श्रीकृष्ण वंशी बजाते हैं) ॥९०॥

—हे सुधाकर मण्डलि ! मृदु-मृदु चरण धरते हुए इस वनभूमि को अलङ्कृत कर । यह चंफोर-युवा उदय पर्वत के किनारे दृष्टि लगाये हुए संतप्त हो रहा है ॥९१॥६॥

विशाखा—(स्वयं धैर्यमवष्टभ्य) हला राहि ! कीस तुमं भवन्ती कलम्बं ओलम्बेसि ? [हला राधे ! कस्मात्त्वं भ्रमन्ती कदम्बमवलम्बसे ?]

ललिता—सहि वंसिए ! वारं वारं तुमं वन्देमि । जं उग्धाड़िदरहस्ता तुए राही किदा । [सखि वंशिके ! वारं वारं त्वां वन्दे यदुद्घाटित-रहस्या त्वया राधा कृता ।] ॥६३॥

(राधिका सलज्जमवहित्यां नाटयति)

ललिता—(संस्कृतेन)

विशङ्खुः कर्णान्ते तव विसृमरंरद्य मुरली-

कलैरुस्तम्भो गुरुरजनि रम्भोर तरसा ।

विलुप्तमृष्टष्टिनंयनजलवृष्टिव्यतिकरैः

प्रणीताभिर्यत्नात्तदलमवहित्यासहरिभिः ॥६४॥१०॥

विशाखा—ललिदे ! को क्षणि अवहित्याए ओसरो ? [ललिते क इदानीमवहित्याया अवसरः ?] (इति संस्कृतेन)

त्रयाम्बिचरणक्रमे परमसिद्धिरायवंशी

स्मरानलसमिन्धने सपदि सामिघेनीध्वनिः ।

विशाखा—(स्वयं धीरज धारण पूर्वक) सखि राधे ! क्यों तू भ्रमण करते करते कदम्ब वृक्ष का सहारा ले रही है ? ॥६२॥

ललिता—सखि वंशि ! तुम्हें मैं बारम्बार प्रणाम करती हूँ । तुमने राधा के सब राज को खोल दिया है ॥६३॥

[श्रीराधा लज्जापूर्वक अपने भावों का गोपन करती हैं]

ललिता—हे रम्भोर ! आज तुम्हारे कानों में मधुर वंशी-ध्वनि के प्रवेश होने से सत्काल तुम्हारे उरु स्तम्भित हो सठे हैं, नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने के कारण तुम्हारी दृष्टि भी विलुप्त हो गई है । इसलिए अब यत्नपूर्वक अपने मनोभावों को छिपाने का प्रयोजन नहीं है ॥६४॥१०॥

विशाखा—ललिते ! अब भावों को छिपाने का अवसर ही कहाँ है ?

हे राधे ! वंशीध्वनि तुम्हारा लज्जा को ध्वंस करने हेतु अम्बिचार यज्ञ में अयवं वेदोक्त, मन्त्रों के समान हो रही है और कामाग्नि प्रज्ज्वलित

तथात्मपरमात्मनोरुपनिषन्मयी सगमे

विलासमुरतोभवा विहृतिरद्य वैरायते ॥६५॥११॥

श्रीराधिका—(सखीभम्) सहि ! सञ्च कवेसि । अम्हाण वडरिणी
सवुत्ता दारुणि वसिअ । ता उवालिहिस्सम् । [सखि ! सत्य कथयसि ।
अस्माक वरिणी सवुत्ता दारुणा वशिका । तदुपालप्स्ये ।] (इति सस्कृतेन)

सूतिस्ते धनुषश्च वशवरतो वन्दे तथोरन्तिम

विद्धो येन जनस्तनु विरहयन्त्रान्तश्चिर ताम्पति ।

करने में सामिधेनी मन्त्र के समान । आत्मा और परमात्मा के एकीकरण में
अर्थात् प्रेम मूर्च्छा उत्पन्न करने में उपनिषत्प्रमयी अर्थात् तत्त्वमसि वाक्यमयी हो
रही है । इसलिए यह वशी-ध्वनि आज तुम्हारे प्रति वैरता विधान कर
रही है ॥

[इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार है—मानो श्रीराधा जी की
लज्जा को मारने या नाश करने के लिए एक अभिचार यज्ञ (तत्रोक्त मरण-
मोहन-उच्चाटन करने का अनुष्ठान) वशी द्वारा अनुष्ठित किया जा रहा है ।
उस अनुष्ठान में यह वशी-ध्वनि अथर्ववेद के मन्त्रों के समान है । (अथर्व-
वेद में प्रायः अभिचार यज्ञों के मन्त्रों का उल्लेख है) और यज्ञों में सामिधेनी
मन्त्रों के द्वारा अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है । उसी प्रकार श्रीराधा जी में
कामाग्नि उत्पन्न करने के लिए वशीध्वनि मानो सामिधेनी मन्त्र का काम
कर रही है । और उपनिषत् में 'तत्त्वमसि' वाक्य जैसे जीव के अस्तित्व
को लोप करने वाला है, उसके स्वरूपानुबन्धिमं कृष्ण-सेवा को लुप्त कर देता
है । उसी प्रकार मानो वशी-ध्वनि भी श्रीराधा को प्रेम-मूर्च्छा के द्वारा वेमुद्ध
एव वर्तव्य शून्य कर रही है—इस प्रकार यह वशी मानो श्रीराधा से दुश्मनी
कर रही है ॥] ॥६५॥११॥

श्रीराधिका—(क्षोभ सहित) सखि ! तू सच कह रही है, दारुण वशी
ही हमारी दुश्मन है, तभी तो मैं उसकी निन्दा किया करती हूँ—

हे क्रूर वशि ! तुम्हारा और धनुष का एक ही वश से जन्म हुआ है ।
परन्तु मैं धनुष को नमस्कार करती हूँ । क्योंकि धनुष से जिसका शरीर
घायल होता है, उसे फिर शरीर त्यागने की दुःख यातना नहीं भोगनी पड़ती—

विद्वानां हृदि मारपत्रिविषमैर्घ्वनिपुभिर्नस्त्वया

क्रूरे वशि न जीवनं न च मृतिर्घोराविरासीद्दशा ॥६६॥१२॥

श्रीकृष्णः—(पुरो विलोक्य सानन्दम् ।)

भविता सविधेऽत्र राधिका, यदियं रिङ्गति रिङ्गिणी पुरः ।

मृगलाञ्छनलेखेव या, मृगमूर्तिर्न तथा वियुज्यते ॥६७॥१३॥

(पुनर्निरूप्य) सखे ! ज्ञात ज्ञातम् । नासौ राधिकान्यङ्कुः यदयं निरङ्कु
नेदीयानिन्दुः । (इति विस्मयमभिनीय) ॥६८॥

अङ्कुत्परित्यज्य पुर कुरङ्ग, शङ्कु सुधांशुभुं वमाससाद ।

(पुनर्निभात्य)

आ ज्ञातमुत्फुल्लविलासवृन्दैरानन्दं राधोवदनं प्रकाशति ॥६९॥१४॥
(इत्यग्रे सरति)

मधुमङ्गलः—(सपरिहासम्) भो यमस्त ! मा घाव । लघु लघु जाहि।

वह तत्काल मर जाता है, किन्तु तुम्हारे ध्वनिरूप कामवाणो से घायल होकर
हमारे हृदयो की जो घोर दुखमयी अवस्था हो रही है, न तो उससे हमारा
मरण ही होता है और न हम जीवित रह सकती है ॥६६॥१२॥

श्रीकृष्ण—(सामने देखकर आनन्द पूर्वक) जब यह रिङ्गिणी नामक
हरिणी आगे आ रही है, तब निश्चय ही जान पड़ता है कि राधा भी अवश्य
यहाँ कहीं आस-पास घूम रही है । क्योंकि मृग-मूर्ति के बिना जैसे मृग-छाया
सम्भव नहीं है, उसी प्रकार यह रिङ्गिणी हरिणी श्रीराधा के बिना नहीं
रह सकती ॥६७॥१३॥

(फिर देखकर) हे सखे ! मैं जान गया, जान गया, यह राधिका की
हरिणी नहीं है यह तो निष्कलङ्क चन्द्र ही है । (इतना कहकर आश्चर्य
प्रकट करते हैं) ॥६८॥

यह तो ऐसा मालूम होता है, अपने अङ्ग से मृग की आगे छोडकर
चन्द्रमा ही पृथ्वी पर आ रहा है । (फिर देखकर) ओ ठीक है, अब जान
गया, विशाल विलास-राशि से परिपूर्ण राधा का ही मुख प्रकाशित हो रहा
है । (इतना कहकर आगे बढ़ते हैं) ॥६९॥

मधुमङ्गल—(मुस्कराते हुए) हे मित्र ! दौड मत, धीरे-धीरे चल ।

अहवा तुम किं ति दूस्सिज्जसि, जं घुत्ताकिसोरिहिं दूट्टमन्तेण उम्मादिदोसि ।
ता इमस्सि जोगे ओसरे तुम निवारिअ सिण्णेहस्स निविकदिं करिस्सम् ।

[भो वयस्य । मा घाव । लघु लघु याहि । अथवा त्व किमिति द्रुप्यसे, यद्-
घूर्तकिशोरोभिदुष्टमन्येणोन्नादितोऽसि । तदस्मिन्योग्येऽवसरे त्वा निवार्य
स्नेहस्य निष्कृतिं करिष्यामि । (इति पाणिमाददाति) ॥१००॥

श्रीकृष्ण — सखे । साधु चेष्टसे, यद्य राधिकोपसर्पणे कम्पेन कृत-
विघ्नस्य मे दत्तहस्तावलम्बोऽसि । (इति परिक्रम्य) ॥१०१॥

इयमसितुषित धरानुरागोज्ज्वलसुमना कमनीयपत्रलेखा ।
मम धरतनुरावकथं विश, मधुपमशोकततेव पुष्पिताम् ॥१०२॥११॥

श्रीराधिका—(कृष्णमपाङ्गेन विलोक्य स्वगतम् मस्कृतेन)

नवमनसिजलोलाभ्रान्तनेत्रान्तभाज,
स्फुटकिसलयभङ्गीसङ्गिर्गार्ज्वलस्य ।

परन्तु तुम्हारा भी दोष क्या है ? इस घूर्त किशोरियो ने ही दुष्ट मन्त्र द्वारा
तुम्हें पागल कर रखा है । इसलिए इस उपयुक्त अवसर पर तुम्हें रोककर
प्रेम को ही तोड़ देंगा । (यह कहकर श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ता है) ॥१००

श्रीकृष्ण—सखे । तुमने अच्छा किया है, आज राधा के पास जाते
समय मुझे कम्प विघ्न कर रहा था, तुमने मुझे हाथ का सहारा दे दिया है।
(यह कहकर पीछे मुड़ते हैं) ॥१०१॥

—जैसे फूलों से खिली हुई अशोक-लता मधुकर को आकर्षित करती
है, उसी प्रकार उत्कृष्ट नवीन अनुराग से सुशोभित मन वाली एव चित्र-
विचित्र पलावली से रजित उत्तमाङ्गी श्रीराधा आज अति तृपात्तुर मेरे
चित्त को आकर्षण कर रही है ॥१०२॥११॥

श्रीराधिका—(नेत्र-कोण से श्रीकृष्ण को देखकर मन ही मन में)
नवीन वन्दर्प-सीला के कारण जिनके नेत्र-कोण भ्रान्त हो रहे हैं, जिनके
बानों में सुन्दर गुन्धों की रचना सुशोभित है, तथा जिनके सिर पर मालती

मिलितमुकुटमौलेर्मालया मौलतीनां,

मदयति मम मेघां माधुरी माघवैर्य ॥१०३॥१६॥

विशाखा—(विहस्य संस्कृतेन)

वशीचक्रे कृष्णस्तव परिमलैरेव वलिभि-

चितासामां कुन्दं कयमिव मुघा कन्दलयसि ?

जये पाणौ दत्ते रणपटुभिरग्रेसरमदैः

स्वय को विक्रान्ति पुनरिह जिगीषुः प्रणयति? ॥१०४॥१७॥

श्रीराधिका—अइ दुम्मुहि! एलिअम्मि संकडे भं आरोविअ अज्जवि
ण यिस्तन्तासि ? ता णिक्खिअहिअमं तुमं उज्झिअ अहं सिणिद्धं पिअसही
ललिदं सरणं पविस्सामि । [अयि दुम्मुहि ! एतावति सकटे मामारोप्या-
द्यापि न विश्रान्तासि ? तस्मिं कृष्णहृदयो त्वामुज्झित्वाह स्निग्धां प्रियसखी
ललितां शरणं प्रविशामि ।] (इति तयां कृत्वा संस्कृतेन) ॥१०५॥

अत्रायान्त चलमपि हरि लोकयन्ती वलिष्ठां

त्वामालम्ब्य प्रियसखि घने नास्मि कुड्मे निलीना ।

माला द्वारा मुकुट सजा हुआ है, उन श्रीमाघव की माधुरी मेरी बुद्धि को
समस्त कर रही है ॥१०३॥१६॥

विशाखा—(हंसकर) हे राधे ! तुम्हारी अङ्ग सौरभ ने श्रीकृष्ण को
वशीभूत कर लिया है, फिर तुम ध्येय किस लिए विम्बोक-विभ्रमादि विलासों
को प्रकाशित कर रही हो? रण में आगे-आगे रहने वाले निपुण योद्धागणों के
हाथ में जय शत्रु जय या आत्म समर्पण कर देता है, फिर ऐसा कौन जय
चाहने वाला योद्धा है जो अपने आप पराक्रम दिखाता है ? ॥१०४॥१७॥

श्रीराधिका—अरी दुर्गुणि ! मुझे आज सकट में डालकर अभी भी
तू विश्राम नहीं ले रही है । इसलिए तुझ निर्दय हृदयवाली को छोड़कर मैं
शृपालु हृदयवाली अपनी प्रिय सखी ललिता की शरण लेती हूँ । (इतना कह-
कर ललिता का आश्रय ग्रहण करते हुए कहती है) ॥१०५॥

हे प्रिय सखि ! चञ्चल हरि यहां मेरे पीछे आ रहे हैं, इसी आशंका
से तुम्हें बलवती जानकर तुम्हारा आश्रय लेकर इस घनी पुच्छ में छिप
जाती हूँ । (आधा दलोक कहने पर बीच में रोधाजी कहती हैं)—

ललिता—(सनर्मस्मितम् संस्कृतेन)

अस्मान्मुग्धे हृदयनिहितादद्य पीताम्बरात्

शक्तो नान्यः कुचपरिचये गत्पुरो मा व्यथिष्ठाः ॥१०६॥१८॥

श्रीकृष्णः—(सानन्दम्) कल्याणि ! काले सम्धासि । (इति राधा-
मनुसर्पति) ॥१०७॥

ललिता—(साटोपं परिक्रम्य कृष्णं वारयन्ती) छइल्ल ! ण हु ण हु
एसा तुम्ह परिहासजोग्या अम्हाणं पिअसही । ता अवेहि अवेहि । [विदग्ध!
न खलु न खल्वेपा तव परिहासयोग्या अस्माक प्रियसखी । तदपेहि अपेहि]

श्रीकृष्णः—(सस्मितम्) ललिते नेव गोष्ठाङ्गनम् । पश्य घृन्दाटवी
कुक्षिरसौ । तत्रेह वः प्रभविष्णुता ॥१०८॥

ललिता—कण्ह ! अण्णाओ तामो वधु मुद्धिआओ जाओ तुमत्तो वि

ललिता—(परिहास पूर्वक मुस्कराते हुए) हे मुग्धे ! आज तुम्हारे
हृदय-स्थित पीताम्बर को छोड़कर और अन्य कोई भी व्यक्ति मेरे सामने
तुम्हारे वक्षस्थल का परिचय प्राप्त करने में समर्थ नहीं होगा । इसलिए भय
मत करो ॥१०६॥१८॥

(श्लेषार्थ—हे राधे ! आज तुम्हारे हृदय में अवस्थान करने वाले
श्रीकृष्ण को छोड़कर और अन्य कोई भी व्यक्ति मेरे सामने तुम्हारे वक्ष-
स्थल का आलिगन करने में समर्थ नहीं होगा, इसलिए तुम भय मत करो ।)

श्रीकृष्ण—(आनन्द पूर्वक) हे कल्याणि ! ठीक समय पर मैं तुम्हें
मिला हूँ । (यह कहकर श्रीराधा के निकट जाते हैं) ॥१०७॥

ललिता—(पीछे हटकर, श्रीकृष्ण को गर्व के साथ रोक्ते हुए) ओ
नागर ! नहीं, नहीं, यह हमारी प्रिय सखी तुम्हारे परिहास करने योग्य नहीं
है । अतः तुम यहाँ से हट जाओ, चले जाओ ॥१०८॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराते हुए) ललिते ! यह गोष्ठांगन है, देख यह घृन्दा-
वन का मध्य स्थान है, यहाँ तुम्हारी प्रभुता नहीं है ॥१०९॥

ललिता—कृष्ण ! जो बौर् मुग्धा रमणी होगी, वही तुमसे भली

सुदृढ भाएन्ति । एसम्हि पसिद्धा ललिता [कृष्ण! अन्यास्ताः खलु मुग्धिकाः
याः त्वत्तोऽपि सुष्ठु विम्यति। एपास्मि प्रसिद्धा ललिता] ॥११०॥

(राधिका चलापाङ्गेन कृष्णं विलोक्य कम्पं नाटयति)

ललिता—राधे ! कीस सज्जसेण कम्पसि, जं एसा जीअदि ललिता ?

[राधे ! कस्मात्साध्वसेन कम्पसे, यदेपा जीवति ललिता?] ॥१११॥ .

श्रीराधिका—ललिते ! गृहीदाइं बन्धूकपुष्पाइं । ता एहि कालिन्दी-
तीरं गच्छन्ह । [ललिते ! गृहीतानि बन्धूकपुष्पाणि । तदेहि कालिन्दीतीरं
गच्छामः] ॥११२॥

श्रीकृष्णः—कठोरे ! कयमाहुतबन्धुजीवा दूरं गन्तुमुद्युतासि ? (इति
पन्यानमावृण्वन्) ॥११३॥

परीतं शृंगेण स्फुटतरशिलाश्यामसरुचं

चलद्वेष्टं वंशम्यतिकरलसन्मेखलममुम् ।

प्रकार भयभीत होगी । देखो, मैं हूँ वह प्रसिद्ध ललिता ॥११०॥

[श्रीराधा चञ्चल नेत्र-कोणों से श्रीकृष्ण को देखकर कांपने लगती
है]

ललिता—राधे ! क्यों डर से काँप रही हैं ? जब यह तुम्हारी
ललिता जीवित है ॥१११॥

श्रीराधिका—ललिते ! बन्धूक-पुष्प हमने सब ले लिए हैं । आओ, हम
'कालिन्दी तीर पर चलें ॥११२॥

श्रीकृष्ण—अरी कठोरे ! तुम बन्धु-जीवन को लेकर क्यों दूर जाने
की चेष्टा कर रही हो ? (इतना कहकर रास्ता रोक्ते हैं) ॥११३॥

—हे राध ! जो शृंगों से आवृत है, जिसकी उज्ज्वल शिलाओं की
रम्यता शान्ति है, जिसमें वेष्ट चञ्चल हो रहे हैं, एवं यंदा वृद्धा मेखला के रूप
में गुह्योभित हो रहे हैं, ऐसे सामने उपस्थित धरणीधर का उल्लंघन कर
तुम कैसे मूर्खबन्या कालिन्दी के किनारे जा सकती हो ?

(पद्यान्तर में—जिसके हाथ में शृंग है और जिसकी उज्ज्वल शिला
की भांति रम्य-शान्ति है, जो वेष्ट की हाथ में लिए चला आ रहा है एष

अतिक्रम्योत्तुङ्ग धरणिधरमये कथमित्त

स्त्वया गन्तु शक्या तरणि दुहितुस्तोरसरणिम् ॥११४॥१८॥

श्रीराधिका—(वक्र विलोक्य हु कुवती) भाअर मह दोसो नरिय ।
वाणि एसा गोडलेसरि अणुसरिस्सम् । [नागर ! मम दोपो नास्ति । इदा-
नोमेपा गोकुलेश्वरीमनुसरिप्यामि ।] ॥११५॥

श्रीकृष्ण—राधे ! किं विभीषिकया ? काम गम्यताम् । तदुज्ज-
मस्य पीतदुकूलमेव समानुकूलम् । (इति राधा दिव्योपति) ॥११६॥

श्रीराधिका—(भ्रुकुटीमाबध्य सस्कृतेन)

साध्वीना धुरि धार्या ललितासङ्गेन गविता चास्मि ।

हितमालपामि माधव, पयि माद्य भुजङ्गता रचय ॥११७॥२०॥

श्रीकृष्ण—ललिते ! किमश्रावि वाग्मङ्गिरस्या ? तद्वह नापराध्यामि ।
(इति भुजङ्गवाहुदण्डयति) ॥११८॥

वशी के सहित छोटी छोटी घण्टिकाओ से सुशोभित है ऐसे सामने खड़े हुए
मुझ गोवधनधारी कृष्ण से बचकर तुम कैसे कालि दो तौर पर जा सकती
हो ? ॥११४॥१९॥

श्रीराधिका—(टेढ़ी दृष्टि से देखकर अहंकार करती हुई) हे नागर !
मेरा कोई दोष नहीं है । अब मैं गोकुलेश्वरी—श्रीयशोदा के पास जाऊँगी ॥

श्रीकृष्ण—राध ! डराने की क्या बात है ? बड़ी खुशी से जा सकती
हो । तुम्हारी भुजाओ में लिपटा पीताम्बर ही मेरी अनुकूलता करेगा (यह
कहकर श्रीराधा को पकड़ने लगते हैं) ॥११६॥

श्रीराधिका—(भ्रुकुटी सानकर) हे माधव ! मैं साध्वीगणों में अग्र-
गण्या हूँ और ललिता का साथ पाकर गर्व रखती हूँ । इसलिए तुम्हारे हित
की बात कह रही हूँ कि रास्ते में तुम कामुकता मत करो—अथवा मुझे
भुजाओं में मत भरों ॥११७॥२०॥

श्रीकृष्ण—ललित ! सुन रही हो तुम क्या इसकी वाग्मङ्गि ? अब
मेरा कोई अस्वभाव नहीं है (यह कहकर भुजाओं को उठाते हैं) ॥११८॥

ललिता—(राधां पृष्ठतः कृत्वा) कण्ह ! सखलोअ सलाहणिज्जगुणोवि
तुमं गोउलिन्दस्स नन्दणोसि । ता ऐवं दे दुल्लीलत्तणं अम्हेसु जोगगम् ।
[कृष्ण ! सर्वलोक-इलाघनीयगुणोऽपि त्वं गोकुलेन्द्रस्य नन्दनोऽसि । तन्नेदं
ते दुर्लोलत्वमस्मासु योग्यम्] ॥११६॥

मधुमङ्गलः—अइ गव्विदे ! किं त्ति वुन्दाअणं विद्धंतिअ तुम्हेहि
अम्ह-पिअवअस्सस्स पुप्फाइं हरिज्जन्ति ? [अयि गव्विते ! किमिति वृन्दा-
वनं विध्वंस्य युष्माभिरस्मत्प्रियवयस्यस्य पुष्पाणि ह्रियन्ते ?] ॥१२०॥

श्रीकृष्णः—सखे ! तूणं गणयासां पुष्पाणि, यथा तत्संख्यया कण्ठतो
हारमणीनाहरामि ॥१२१॥

मधुमङ्गलः—पिअवअस्स ! किइ गणणं । ता रत्ताणं पुप्फाणं परि-
घट्टेण पडनरागाइं गेअहु । पण्डुराणं उअ हारमोत्तिआइं । [प्रिय वयस्य !
कृत गणनम् । तदक्तानां पुष्पाणां परिवर्त्तेन पद्मरागाणि गृहाण । पाण्डुराणां
पुनर्हीरमोक्तिकानि ।] ॥१२२॥

श्रीकृष्णः—सखे ! पर्यालोचयम् । नामूनि पुष्पमूल्यतुल्यानि रत्नानि,
ततः कथमेभिरेव पर्याप्तिः ? ॥१२३॥

ललिता—(श्रीराधा को पीछे करके) कृष्ण ! सब लोग ही तुम्हारे
गुणों की प्रशंसा किया करते हैं और तुम गोकुलेन्द्र-नन्दराज के पुत्र हो ।
इसलिए तुम्हारा हमारे प्रति इस प्रकार का दुर्नितितूर्ण आचरण उपयुक्त
नहीं है ॥११६॥

मधुमङ्गल—अरी अभिमाननी ! तुम वृन्दावन को बिगाड़ कर वयो
मेरे प्रिय मित्र के फूलों को चुरा रही हो ? ॥१२०॥

श्रीकृष्ण—मित्र ! तुम शीघ्र इनके चुराये हुए फूलों की गिनती करो।
मैं उतनी ही मणियाँ इनके गले के हारों की छुड़ा दूँगा ॥१२१॥

मधुमङ्गल—हे प्रिय सखे ! मैंने गिन लिये हैं । साल रंग के पुष्पों के
बदले पद्मराग मणियाँ तथा पीले पुष्पों के बदले पीले रंग के हीरा और मोती
इनके सब छुड़ा लो ॥१२२॥

श्रीकृष्ण—मित्र मैंने विचार किया है । इनकी मणियाँ और हीरे मेरे
वृन्दावन के फूलों की समानता नहीं कर सकते, इनसे हमें क्या मिलेगा ? ॥

मधुमङ्गल — (सकाकुप्रपञ्चम्) वयस्स ! एसो अणुगदो बम्हणो अबभ-
त्येदि । ता इमेहि जेव्व सतुट्ठो होहि । [वयस्य ! एपोऽनुगतो ब्राह्मणोऽभ्य-
र्णयति । तदेभिरेव सतुट्ठो भव ।] ॥१२४॥

श्रीकृष्ण — यथा ब्रवीति वयस्य ॥१२५॥

ललिता — (विहस्य) अज्ज ! सामिणो जोग्गो जेव्व अमत्तोसि ।
[आर्य ! स्वामिनो योग्य एवामात्योऽसि] ॥१२६॥

विशाखा — (सालीकसभ्रमम्) कण्ह ! दूरे चिट्ठेहि । [कृष्ण ! दूरे
तिष्ठ] ॥१२७॥

श्रीकृष्ण — कुटिले ! किमिति ? ॥१२८॥

विशाखा — पेक्ख, सरम्भेण सगर गमिवा चन्द्रहास उल्लासेवि अम्ह-
पिअसही राहा [प्रेक्षस्व ! सरम्भेण सगर गमिता चन्द्रहासमुल्लासयत्य-
स्मत्प्रियसखी राधा ।] ॥१२९॥

मधुमङ्गल — (विनय-अनुमय करते हुए) मित्र ! यह तुम्हारा दास
ब्राह्मण प्रार्थना करता है । तुम इस में ही सन्तोष कर लो ॥१२४॥

श्रीकृष्ण — तू जैसे कह मित्र ॥१२५॥

ललिता — (हसकर) आर्य ! स्वामी के योग्य ही मन्त्री है ॥१२६॥

विशाखा — (अकारण सम्भ्रम प्रकाश करते हुए) कृष्ण ! तुम दूर
रहो ॥१२७॥

श्रीकृष्ण — अरी कुटिले ! ऐसा क्यों ? ॥१२८॥

विशाखा — देख, हमारी प्रिय सखी राधा क्रोध में भरकर युद्ध करने
के लिए चन्द्रहास (खड्ग) निकाल रही है ।

(पक्षान्तर ने — देख हमारी प्रिय सखी राधा रसावेश में तुम्हारे साथ
सम्मिलित होने के लिए उत्कण्ठित होकर चन्द्र के समान हास्य प्रकाश कर
रही है) ॥१२९॥

श्रीकृष्ण — (मुस्कराकर) अरी मुग्धे ! देख मैं भी विस्तृत रोमाञ्च-

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) मुग्धे ! पश्य । अहञ्च प्रपञ्चितगाढरोमाञ्च-
कञ्चुकोऽस्मि । तयत्नं रामारत्नं हरिष्यामि । (इति राघामनुसर्पति) ॥१३०॥

ललिता—(सरम्भमभिनीय) कण्ह ! येखलामि दे साहसं । राहीए
छाभं पि तुमं फसेहि । [कृष्ण ! पश्यामि ते साहसम् । राघायाश्छायामपि
त्वं स्पृश] ॥१३१॥

श्रीकृष्ण—सखे ! तूने ललितारूपेण महाभैरवीयं प्रादुर्भूता ॥१३२॥

श्रीराधिका—हला ! कल्याणी होहि । [हला ! कल्याणी भव ।] (इति
ललिता साकृतमालिङ्गति) ॥१३३॥

श्रीकृष्णः—(जनान्तिकम्) ललिते ! विमुच्य काठिन्यम् ॥१३४॥

ललिता—उक्कोभं मे देहि । [उक्कोचं मे देहि] ॥१३५॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा) ललिते, सत्यं ब्रवीमि ते राघामपि विप्रलम्ब्य
सायमनङ्गसंगरे त्वामेव प्रतिरीरयिष्ये ॥१३६॥

जाल रूपी कवच को धारण कर रहा हूँ । इसलिए बिना यत्न में रामारत्न
हरण करूँगा (यह कहकर श्रीराघा के निकट जाते हैं) ॥१३०॥

ललिता—(क्रोध प्रकाश करती हुई) कृष्ण ! मैं देखूँ तुम्हारा साहस ।
तुम एक बार तो राघा की छाया का स्पर्श करो ॥१३१॥

श्रीकृष्ण—सखे ! निश्चय ही यह ललिता तो महा भैरवी उत्पन्न
हुई है ॥१३२॥

श्रीराधा—सखि ! तेरा बल्याण हो । (यह कहकर अमितापपूर्वक
ललिता का आलिंगन करती है) ॥१३३॥

श्रीकृष्ण—(बान में घीरे से) ललिते ! बठोरता को छोड़ दे ॥१३४॥

ललिता—मुझे दो कुछ रिदवत ॥१३५॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) ललिते ! तुम्हें सत्य कहता हूँ, राघा को भी
बन्धना पर मैं गन्ध्याकाश मे अनङ्ग-मुष्ट मे तुम्हे ही अपना प्रतियोडी
बनाऊँगा ॥१३६॥

ललिता—(सरोप परावृत्य) अवेहि, दिदूखअ अवेहि [अपेहि, विदूषक ! अपेहि ।] ॥१३७॥

श्रीकृष्ण—कययोत्कोचं यत्र ते तुष्टिः ॥१३८॥

ललिता—णाअर ! पुष्फमगणरङ्गेण वृन्दावणं भम्मन्ती दूएवि मे सही । ता विव्व-पुष्फेहिं ए अलकदुअ सुहावेहि । [नागर । पुष्पमार्गण-रङ्गेण वृन्दावन भ्रामयन्ती दूयते मे सखी । तद्विव्यपुष्परेणाम अलकृत्य सुखय ।] ॥१३९॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) यथाभिरोचते तुभ्यम् । (इति परिक्रम्य दर्पार-भटी नाटयन्) ललिते, बाढं विक्रुश्यताम्, न त्वां तृणाय मन्ये (इति डाधिका-हारमाक्रष्टुं कर प्रसारयति) ॥१४०॥

ललिता—(नाम विलोक्य सस्मितम्) छइल्ल ! सूरदेवपूजाकिद्रे किध-सिणाए प्रियसखीं अकिदसिणाणो वलु तुम मा प्फसेहि । [विदग्ध ! सूर्यदेव-पूजाकृते कृतस्नाना प्रियसखीमकृतस्नानः खलु त्व मा स्पृश] ॥१४१॥

श्रीकृष्ण—अयि मदाधे ! समन्तादुत्तासिति प्रस्वेदाम्बुपुरे मयि वषं कृतमहाभिषेक न पश्यसि ? ॥१४२॥

ललिता—(क्रोध मे पीछे हटकर) दूर रह रे कामुक ! दूर रह ॥१३७॥

श्रीकृष्ण—तुम ही बोलो, किस निश्चित मे तुम सन्तुष्ट होओगी ? ॥

ललिता—नागर ! फूल चुनने की अभिलाषा से वृन्दावन मे भ्रमण करते करते हमारी प्रिय सखी राधा थक गई है । इसलिए तुम दिव्य पुष्पो से इसको अलकृत कर इसे सुखी करो ॥१३९॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराकर) जैसे तुम्हारी इच्छा हो । (यह कह पीछे हटकर और अति गर्व प्रकाशित करते हुए) ललिते ! तू बहुत भारी क्रोध करती है । परन्तु मैं तुम्हे तृण के समान भी नहीं समझता हूँ । (यह कह श्री राधा का हार खींचने के लिए हाथ बढ़ाते हैं) ॥१४०॥

ललिता—(टेढ़ी दृष्टिपूर्वक मुस्कराते हुए) नागर ! सूर्यदेव की पूजा करने के लिए प्रियसखी राधा स्नान कर चुकी है, तुम अभी नहाए नहीं हो । अतः इसे मत छुओ ॥१४१॥

श्रीकृष्ण—अरी मदान्ये ! मेरा तो मारा शरीर पसोने से तरबतर हो रहा है, मैं तो महाभिषेक किए हुए हूँ—तुम्हे नहीं दीखता है क्या ? ॥

ललिता—(राधामन्तरयन्ती समान्तर्यम्) हला ! उद्दण्डकालतमाल-
मण्डलघोलेण वणखण्डेण इमस्स पअण्डदा दूसहा किदा । ता अम्हे हार
रविखट्टु बखणं सोम्मा होम्ह । [हला ! उद्दण्डकालतमालमण्डलघोरेण
वनखण्डेनास्य प्रचण्डता दु सहा कृता ।] ॥१४३॥

विशाखा—कीविस सोम्मा होम्ह ? [कीदृश सोम्मा भ म ?] ॥

मधुमङ्गल—ही, ही निज्जिदाओ गविदगोविआओ । [ही ही,
निज्जिता गवितगोपिका ।] (इति नृत्यति) ॥१४५॥

श्रीराधिका—अइ मुद्धे ललिते ! भअव-तस्स उवासण तुए अज्ज कि
विस्मुरिवम् ? [अयि मुग्धे ललिते ! भगवत उपासन खयाद्य कि विस्मृतम् ।]

मधुमङ्गल—देइ राहिए ! केअलं तुम्हे जेव उवासण करेय सि
मा गव्हाएय अम्हे वि उवासण करेम्ह । [देवि राधिके ! केवल भूयमेव-
मुपासन कुर्वेति मा गर्वाण्वम्, यद्वयमप्युपासन कुर्मः] ॥१४७॥

विशाखा—अज्ज ! कीविस तम् ? [आर्य ! कीदृश सत्] ॥१४८॥

ललिता—(श्रीराधा को छिपाते हुए धीमी आवाज में) हे सखि !
उद्दण्डकाल स्वरूप तमाल वृक्ष से ढके हुए इस घोर वन में श्रीकृष्ण की
प्रचण्डता अतिशय असह्य हो रही है, इसलिए हम हार की रक्षा के लिए
कुछ देर तक सौम्य—शान्त हो आती हैं ॥१४३॥

विशाखा—कैसे सौम्य हो सकती हैं ? ॥१४४॥

मधुमङ्गल—ही-ही, अभिमान-भरी गोपिका हार गई (यह कहकर
नाचने लगता है) ॥१४५॥

श्रीराधिका—अरी मुग्धे ललिते ! क्या तू आज भगवान् सूर्यदेव की
उपासना भूल रही है ? ॥१४६॥

मधुमङ्गल—देवि राधिने ! तू ही केवल उपासना करती हो—इस
गर्व को छोड़ दो, हम भी उपासना करते हैं ॥१४७॥

विशाखा—आर्य वह कैसे ? ॥१४८॥

मधुमङ्गल—भोवि विसाहे । सुणाहि । गन्धपुष्पपुरस्सर निजकुवे-
दिआमज्जे उज्जावरणमुद्धट्ठं तदेकगचित्तदाए कङ्कणरोउराण सद्दोवासणम् ।
[भवति विशाखे । शृणु । गन्धपुष्पपुर सर निकुञ्जवेदिकामध्ये उज्जागरण-
भूयिष्ठ तदेकाग्रचित्ततया कङ्कणनूपुराणा शब्दोपासनम् ।] ॥१४६॥

(सर्वा स्मयन्ते)

मधुमङ्गल —(सश्लाघम् सस्कृतेन)

आडम्बरोज्ज्वलगतिर्वरकुञ्जरक्त ,
स्वैरो परिस्फुरितपुष्करचारहस्य ।
घग्मासि सुन्दरि यया मृदुल हसन्त्या,
बन्दीकृतस्तरलबल्लवकुञ्जरोऽयम् ॥१५०॥१२१॥

श्रीकृष्ण —प्रिये ।

रक्षिरसहचरीणा धीयिभि सेव्यमाना,
मदमृदुलमरालीरभ्यसीतागतिधी ।

मधुमङ्गल—हे विशाखे । सुनो, गन्ध-पुष्पमयी निकुञ्ज वेदिका मे
जाकर अतिशय जागरण करके वहा एकाग्रचित्त से कङ्कण-नूपुरो की उपा-
सना किया करते है ॥१४६॥

(यह सुनकर सब हस पडते हैं)

मधुमङ्गल—(प्रशंसा सहित) घमण्ड से जिनकी गति उज्ज्वल है, जो
कुञ्जगृह मे घिरी हुई हैं और स्वेच्छाचारी हैं एवं जिनके हाथ मे लीला कमल
सुशोभित है, हे सुन्दरि । ऐसी आप धन्य हैं । क्योंकि मृदुल हास्य द्वारा इस
चञ्चल प्रियतम गजराज को तुमने बाध लिया है अथवा इसे बन्दीजन—स्तुति
करने वाला बना लिया है ॥१५०॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिये । हे चन्द्रवदनि । तुम मनोहर सलियों के यूप मे
सेवित होकर मतवाली हसी की भांति रमणीय लीला-गति की शोभा विस्तार
कर रही हो । जिससे मेरी निद्रा उवाट हा चुकी है और तुम शरद श्रुतु की
भाति सब लोको की अथवा नेत्रो की सम्पत्तिशोभा प्रसारित कर रही हो। इस

शशिमुखि गतनिद्रं कुर्वन्ती मामिदानीं,

शरदिव भवतीयं लोकलक्ष्मीं तनोति ॥२२॥

तदर्वाचोनेन हारिण वण्णभृङ्गारेण भवतीमलंकुर्वाणः शारदीं श्रियम-
बन्ध्ययामि ॥१५१॥

मधुमङ्गलः—(संस्कृतेन)

बलानुज कलापिनामवकलय्य कालज्ञतां,

मनः किल बलीयसी मम विभर्ति विस्मेरताम् ।

यदद्य शरदागमे तय विलोदय लीलोत्कतां,

किरन्ति रुचिमण्डलोज्ज्वलमग्नी शिखण्डावस्त्रीम् ॥१५२॥२३॥

श्रीकृष्णः—रुखे ! साधु लक्षितं तन्मौलिकल्पनाय चन्द्रकानाहरामि ।
(इति बटुना सह तथा करोति) ॥१५३॥

श्रीराधिका—सहि ललिते ! जस्य दिग्गभारा अहं निश्चिन्तस्मि, सा
तुमं जइ सोम्मासि, ततो जाय कण्हो दूरे गदो दाव कङ्कल्लिकुङ्खं प्रवे-
सिस्सम् । [सखि ललिते ! यत्र दत्तमाराह निश्चिन्तास्मि, सा त्वं यदि
सौम्यासि, ततो यावत्कृष्णो दूरे गतः, तावत्कङ्कल्लिकुङ्खं प्रवेक्ष्यामि । (इति
तथा स्थिता) ॥१५४॥

लिए नवीनतम मनोहर वन्य-वेश द्वारा तुम्हें अलंकृत कर मैं शरद का नवीन
शोभा की सफलता विधान करता हूँ ॥१५१॥

मधुमङ्गल—हे कृष्ण ! मोरों की समय के अनुसार कर्ताव्य-युद्धि की
देखकर मेरे मन को वरवश अचम्भा हो रहा है । क्योंकि आज शरद ऋतु
के आने पर तुम्हारी क्रीड़ा उत्सुकता देखकर इन समस्त मोरों ने परम
शोभामय अपनी पुच्छ-श्रेणी को फेंक दिया है । १५२॥

श्रीकृष्ण—मित्र तुमने ठीक देखा है, आओ चलें, मुकुट बनाने के
लिए मोर-चन्द्रिकाओं को ले आवें । (यह कहकर मधुमङ्गल के साथ मोर-
चन्द्रिका चुनने लगते हैं) ॥१५३॥

श्रीराधिका—सखि ललिते ! मैं जिस पर मार अपेण कर निश्चिन्त
हो रही हूँ । यह तुम यदि सौम्य हो रही हो तो कृष्ण जब तक दूर चले गए
हैं तब तक चलो हम भी असोक वृक्ष में चली हैं ॥ (यह कहकर असोक-
वृक्ष में जाकर छिप जाती हैं) ॥१५४॥

श्रीकृष्ण—सखे ! निर्मित प्रचलारु-शलाकामि किरीटं पञ्जरीट-
नेत्राया सीमान्ततीमनि विन्याससौभाग्यमालम्बताम् । (इति परिक्रम्य)
ललिते ! त्वं सा ते प्रियसखा ? ॥१५५॥

ललिता—अतणो घर गदा । (आत्मनो गृह गता) ॥१५६॥

श्रीकृष्ण—निष्ठुरे ! तिष्ठ निष्ठ, तूष्णंममू ते धूर्तनागर्वमपहरामि ।
(इति समन्तात्पश्यन् सहर्षम्) वयस्य ! पश्य, सहसेयमवाप्ता गौराङ्गी प्रिया ।
(इत्युपसर्पति) ॥१५७॥

मधुमङ्गल—(विहस्य) भो वयस्य ! चक्षकवादेन तिणावट्टेण भामि-
दस्स वे अज्जवि पूर्णं भमो ण गदो । पेवल, एसा पीवपराअपुञ्जपिञ्जरिदा
थलणनिणी । [भो वयस्य ! चक्रवातेन तृणावर्त्तेन भ्रामितस्य तेऽद्यापि नून
भ्रमो न गतः । प्रेक्षस्व एषा पीतपरागपुञ्जपिञ्जरिता स्थलनलिनी ।]

श्रीकृष्ण—(निष्टप्य) सखे ! सत्य वरीयि । (इत्यग्रतो गत्या) भो सखे !

श्रीकृष्ण—सखे ! मोर चन्द्रिकाओ से मुकुट तो मैंन बना लिया है,
अब तुम उस खज्जनाओ राधा के सीमान्त मे इसे सजाकर शोभा सम्पादन
करो । (यह कहकर लौट अते है) ननिने ! तुम्हारी प्रिय सखो कहा है ? ॥

ललिता—वह अपने घर चली गई है ॥१५६॥

श्रीकृष्ण—अरी निष्ठुरे ! ठहर जा, अभी तुम्हारी धूर्तता का अभि-
मान पूर्ण करता हूँ । (यह कहकर चारो ओर दखकर आनंद सहित) मधु-
मङ्गल ! देख, यह मिल गई वह प्रिया गौराङ्गी । (यह कहकर निकट
जाते है) ॥१५७॥

मधुमङ्गल—(हँसकर) अरे मित्र ! चक्रवात दृष्ट तृणावर्त्त दैत्य ने
जो तुम्हे चक्र दिया था, अभी तक वह चक्कर तेरा नष्ट नहीं हुआ है । देख
तो सही, यह पीले रंग की पराग पुञ्ज से आवृत्त स्थल-नलिनी है, (न दि-
राधा) ॥१५८॥

श्रीकृष्ण—(ध्यानपूर्वक देखकर) सखे ! तू सत्य कहता है । (यह कह-
कर आगे जाते है) हे मित्र यह ! देव, अब तो मैंने निश्चय ही राधा को प्राप्त

पश्य कुङ्कुमाङ्गी निष्टब्धतमिदानीमेव सद्यः। (इति दिधीर्षुः प्रधावति) ॥

मधुमङ्गलः—(सहस्रतालमुच्चैर्विहस्य) ओ प्रिय वयस्त ! एतत् तुज्ज अवराहो गत्यि । किंतु प्रेमलहरी ए जेव, जाए सव्या बुन्दाई राहिआ निम्मिदा । [ओ प्रिय वयस्य ! अत्र तवापराधो नास्ति, किंतु प्रेमलहरी एव, यया सर्वा वृन्दादेवो राधिका निर्मिता ।] ॥१६०॥

श्रीकृष्णः—(सर्वलक्ष्यं विनोदय) कथमुत्फुल्लेयं सहचरी ? (पार्श्वतो-
विलोक्य) ललिताङ्गि ललिते ! इतो याम्यपर्वतादधरोहन्तो कान्तारमितस्य
दवस्त्र मे हस्तावलम्बम् ॥१६१॥

ललिता—(स्मिन्वा) सुन्दर ! यिसाहं पुच्छेहि। एसा पछु एं जानावि ।
[सुन्दर ! विशाखां पृच्छ । एषा सत्वेनां जानाति] (इति संज्ञा नाटयति) ॥

श्रीकृष्णः—(सहर्षमपवार्ये) सखे ! पश्य विशाखायाः परोक्षं किंचि-
त्तिरोऽवलगन्ती ललिता भ्रूसंज्ञया कदम्बकुञ्जं सूचयति । तदत्र नास्ति मना-

कर लिया है । (ऐसा कहकर पकड़ने के लिये दीड़ते हैं) ॥१५९॥

मधुमङ्गल—(ताली बजाकर जोर से हँसते हुए) अरे प्रिय भिल !
तुम्हारा इसमें कुछ दोष नहीं है, दोष है प्रेम की तरङ्गों का । जो यह समस्त
वृन्दावन तुम्हें राधा का ही बना हुआ दीख रहा है—सर्वत्र राधा ही राधा
दीख रही है ॥१६०॥

श्रीकृष्ण—(विस्मयपूर्वक देखकर) यह क्या ! सहचरी (पीली बट-
सरैया) प्रफुल्लित हो रही है ! (पार्श्व में देखकर) हे मनोहराङ्गि ललिते !
मुम प्रतिबलता रुगी पर्वत से नीचे उतर आओ और मुझ प्रिया-ग्रीहीन का
प्रिया को सोजने में हाथ बटाओ ॥१६१॥

ललिता—(मुसकराकर) हे सुन्दर ! विशाखा से पूछो, यह यही
जानती है (यह कहकर हाथ का इशारा देती है) ॥१६२॥

श्रीकृष्ण—(हर्ष पूर्वक हाथ की ओट में) भिल ! देख, विशाखा में
दिखाकर ललिता टेढ़ी धाम में भृङ्गुटी के इशारे में कदम्ब कुञ्ज बता रही है ।
दगलिये दगमें जरा भी सन्देह नहीं है । (धूमकर गवँ सहित धुमकराते

गपि सविग्धता । (इति परिक्रम्य सदपंस्मितम्) प्रिये ! विलोकितासि निष्क्रम्यताम् । (इत्युदग्रीविका कृत्वा सहासम्) ललिते ! साधु साधु. जातं तव धूर्तता-लतिकायाः साफल्यमिदम् ॥१६३॥

मधुमङ्गल — वअस्स ! एसा मए जेव्व लद्धा तुह राहा । (वयस्य ! एषा मयैव लब्धा तव राधा) ॥१६४॥

श्रीकृष्ण. — (सकोतुक्म्) वयस्य ! ललितेव कश्चिद्विधम्भर्णायभ-
णितिर्नासि ॥१६५॥

मधुमङ्गल. — गाअत्तोए सवामि । [गायत्र्यै शपामि] ॥१६६॥

श्रीकृष्ण. — (सविभ्रमम्) सखे ! वत्र सा वध सा ? वशंय शीघ्रम् ॥

मधुमङ्गल. — तुम्ह हस्यगद जेव्व एं करोमि । ता देहि मे पारितोसि-
धम् । [तव हस्तगतामेवैना करोमि । तद्देहि मे पारितोषिकम्] ॥१६७॥

(कृष्ण सद्गन्ध मालतीमालया मण्डयति ।)

मधुमङ्गल — घेप्पिज्जउ एषा । (गृह्यतामेपा) (इति 'राधा' इति
वर्णद्वयीभाज पत्रलेखामर्पयति) ॥१६८॥

हुए) प्रिये मैंने तुझे देख लिया है, बाहर निकल आओ । (यह कहकर गर्दन ऊँची ठठाकर हँसते हुए) ललिते ! ठीक है, ठीक है, तुम्हारी धूर्ततावेलि मे फन लगा है ॥१६३॥

मधुमङ्गल — मित्र ! यह ते मैंने तुम्हारी राधा को छूट लिया है ॥

श्रीकृष्ण — (कौतुकपूर्वक) सखे ! ललिता की तरह तू अविश्वस्त बादी मत होना ॥१६५॥

मधुमङ्गल — गायत्री की शपथ खाता हूँ ॥१६६॥

श्रीकृष्ण — (विश्वास सहित) मित्र ! कहा है, कहाँ है ? जल्दी लिखा ।

मधुमङ्गल — तुम्हारे हाथो मे देता हू । ता कुछ पारितोषिक (इनाम) दे ॥१६७॥

(श्रीकृष्ण प्रशंसा करते हुए मानती माला से मधुमङ्गल को सजाते हैं)

मधुमङ्गल — तो पकड़ो ! (यह कहकर "राधा" यह दो वर्ण लिखा हुआ एक पत्र हाथ मे देता है) ॥१६८॥

श्रीकृष्ण — (स्मित्वा) सखे ! सत्यमनेनापि भवदर्पितेन तर्पितोऽस्मि ।
यत् ,

क्रमात्स्वर्क्षामकणो परिसरभुव वा श्रवणयो-

मंनागध्यारूढ प्रणयिजन-नामाक्षरपदम् ।

कमप्यन्तस्तोष वितरदविलम्बादनुपद

निसर्गाद्विश्वेषा हृदयपदवीमुत्सुकयति ॥१७०॥

(इति परावृत्त्य दक्षिणतो विकसन्तमशोकमवलोक्य सविस्मयम्) —

शङ्के सकुलितान्तराद्य निबिडव्रीडानुबन्धेच्छया

कुञ्जे बद्धुलशास्त्रिन शशिमुखी लीना वरीवर्त्ति सा ।

नो चेदेव तदङ्घ्रिसगमविनाभावादकाले कथं

पुष्पामोदनिर्मन्त्रितालिपटलीस्तोत्रस्य पात्रीभवेत् ? ॥

इति परिक्रामन्तुद्वीविकया राधा हृद्वा सानन्दम्) प्रिये ! कथ्यतामिदानीं
का वार्त्ता ? ॥१७१॥२५॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराकर) ठीक है तुम्हारे द्वारा दी हुई इस वस्तु से मैं
परितृप्त हो गया हूँ क्योंकि—

सखे! प्रेमीजनो के नामाक्षर नेत्रो और कानो से देखने-सुनने से तत्क्षण
किस की सन्तोष वृद्धि नहीं होती है ? अधिक क्या कहूँ, प्रेमीजनो के नामा-
क्षर स्वभावतः समस्त जगत् के हृदय स्थल को उत्सुकता प्रदान करते हैं ॥

(यह कहकर घूमते हुए दक्षिण दिशा में अशोक वृक्ष को प्रफुल्लित
देखकर आश्चर्यपूर्वक कहते हैं) —

मैं समझता हूँ आज चन्द्रवदनी श्रीराधा रहस्यमयी क्रीड़ा करने की
इच्छा से व्याकुल चित्त होकर अशोक-कुञ्ज में छिप रही हैं । यदि ऐसा न
होता तो राधा के चरणो के स्पर्श के बिना यह अशोक वृक्ष कैसे अपनी पुष्प
सौरभ के भ्रमरो के मुण्डो को आमन्त्रित कर रहा है और उनके द्वारा कैसे
प्रशसनीय हो रहा है ॥

(यह कह घूमकर और गर्दन को ऊँचा उठाकर श्रीराधा को देखत
हुए आनन्दपूर्वक कहते हैं) हे प्रिय ! कहो अब क्या बात है ? ॥१७१॥

श्रीराधिका — (सप्रणयेर्ष्यम्) तुअतो भएण जेव्व पलाईदम्हि । एत्थ वि म विडम्बेदुं तद्योसि ? [त्वत्तो मयेनैवपलायितास्मि । अनापि मा विडम्बयिनु लब्धोऽमि ?] ॥१७२॥

श्रीकृष्ण — (सात्मश्लाघम्) दृष्टा मे गम्भीर पाटवारभटी । यतस्ति-
रोधानविद्यापहारेण निजिता यूयम् ॥१७३॥

ललिता — (सस्क्रतेन) हन्त भो व डगालजितराशिन् !

अस्मिन्नेकपरोक्षसम्भवकृतस्तोत्रोऽसि वृन्दावने

रघा धूरिहिरण्यगर्भरचितप्रत्यङ्गकान्तिस्तथा ।

हस्तोदस्तमहोदरस्त्वमसकृद्रेत्रान्तभङ्गिन्दटा-

कृष्टोर्वर्धनघोषरा मम सखी तद्वीर माहकृथा ॥१७४॥१७५॥

श्रीकृष्ण — (सस्मित) ललिते ! निलीने मयि विलोकिते नातृष्यमद्य
विकृत्यम भयतीना त्रिदाकरदाणि । १७६॥

श्रीराधिका- (प्रणय ईर्ष्या सहित) मैं तुम्हारे भय से ही भाग आई
थी तुम यहां भी मेरी विडम्बना करने आ गये हो ? ॥१७२॥

श्रीकृष्ण—(अपनी प्रशंसा सहित) देखा है तुमने मेरी निपुणता का
गम्भीर बल, जिससे छिपने की विद्या को अपहरण कर मैं ने तुम्ह पराजित
कर दिया है ॥१७३॥

ललिता—ओहो ! तुम कथन मात्र से ही अपनी प्रशंसा कर रहे हो—

देखो, इस वृन्दावन में केवल एक ब्रह्मा ने तुम्हारी स्तुति की है,
जिससे तुम्हें इतना अहंकार हो रहा है । किन्तु अनेक अनेक ब्रह्मा हमारी
श्रीराधा के अङ्ग प्रति अङ्ग की वाति की स्तुति किया करते हैं तुम एक
बार मात्र हाथ पर गोवर्धन धारण कर अभिमान कर रहे हो, परन्तु तुम
गोवर्धनधारी को हमारी सखी श्रीराधा ने अपने नष्ट बोग से बितने बार
आकर्षित किया है । अतएव हे वीर ! और अधिक गर्व न करो ॥१७४॥

श्रीकृष्ण—(मुमकराने हुए) ललिते ! मैं अब तुम्हारी दृष्टि से दूर हो
जाता हूँ, और तुम्हारे सामने मिथ्या अहंकार नहीं करता हूँ ॥१७५॥

सर्वाः—एवं होडु [एव भवतु ।] ॥१७६॥

श्रीकृष्ण—(तिरोभवन् स्वगतम्) इयमुत्तरेतश्चञ्चुरीकसंचयरोचिर-
स्तासि-दशमलपलाशगुच्छा दूरतस्तापिच्छयिच्छोलि । तदेपां सवर्णतया
सखी-नावरात्रा मामत्र सगोपयिष्यति (इति सवयस्यो निष्क्रान्तः ।) ॥१७७॥

सलिताः—हन्ना राहे! कण्हस्स अदसणेण भा उत्तम्म । एणं दिट्ठं जेठ्व
जाणोहि । ता विजुता भन्ने आसण्णदो उपसम्भ । [हन्ना राधे! कृष्णस्यादर्श-
नेन मोत्ताम्य, एन दृष्टमेव जानोहि, तद्वियुक्ता वय सर्वत उपसर्पाम्] ॥

श्रीराधिका—जघा भणादि पिअसही । [यथा भणति प्रियसखी ॥

(इति तिस्रस्तथा कुर्वन्ति ।)

श्रीराधिकाः—(उत्तरा वनलेखामासाद्य सविमर्शम्) नूणं कण्हो एत्थ पत्तो
हुविस्सदि, जं जं पेक्कयत्तो दयिअणं पड्डो । [नून कृष्णोऽत्र प्राप्तो भविष्यति,
यन्मा प्रेक्षमाणो दक्षिण प्रविष्टः ।] (इति परिक्रम्य सस्कृतेन) ॥१८०॥

सब सखी कहती हैं—ठीक है ऐसा ॥१७६॥

श्रीकृष्ण—(छिपकर मन ही मन में) यह जो उत्तर दिशा में भ्रमरो
की कान्ति सदृश काले वर्ण के पशु वाले तमाल वृक्ष हैं, जिन्होंने मेरी तरह
काला वर्ण ग्रहण कर मानो मेरे साथ सह्य भाव प्राप्त किया है, ये मुझे छिपा
सकते हैं । (यह कहकर मधुमञ्जल के साथ चले जाते हैं) ॥१७७॥

सलिता—हे राधे ! श्रीकृष्ण को न देखकर आलुर मत हो, वह तो
देखे हुये ही जान । इसलिए हम अभी जाकर वन में चारों तरफ उन्हें ढूँढ
लाती हैं ॥१७८॥

श्रीराधिका—जैसे तू वहे प्रिय सखि ॥१७९॥

(यह कहकर तीनों श्रीकृष्ण को ढूँढने लगती हैं)

श्रीराधिका—(उत्तर दिशा में वन की ओर जाकर मन-मन में सोचने
लगती हैं) निश्चय ही श्रीकृष्ण यहाँ प्राप्त होंगे, क्योंकि मुझे देखकर वे
दक्षिण दिशा में गये थे । (ऐसा कहकर लौटते हुए कहती हैं)—॥१८०॥

स हरिति भवतोभि स्वा तहारी हरिण्यो

हरिरिह किमनाङ्गातिथ्यसङ्गी व्यधायि ।

यदनुरजितवशीकाकलोमिमुखेभ्य

सुखदूषकवला व सामिलीडा स्वलन्ति? ॥१८१॥२७॥

(पुरोऽभ्युपेत्य समन्तात्पश्यन्ति सस्कृतेन)

यदगतितमरन्द वसन्ते शङ्खिवृद्ध

मिलनि च यदसङ्गप्रमेधूर्णा खगाली ।

तदिह न हि शिखण्डोत्त सिनी सा प्रविष्टा,

निखिलभुवनचेतोहारिणी कापि विद्या ॥१८२॥२८॥

(इति सत्यत पारक्रम्य सस्कृतेन)

विधूर्णन्त धीष्य न मधु लिहतेऽमो मधुलिह

शुकोऽय नादरो कलितजडिमा दाडिमफनम् ।

विधूर्णा पर्णाग्र चरित हरिण्यो न हरित

पथानेन स्वामी तदिभवरगामी हरिरगात् ॥१८३॥२९॥

हे हरिणिगण ! क्या आपने इस तरफ मनोहारि श्रीकृष्ण को अपने नेत्रों का अतिथि किया है—अपने नेत्रों से उन्हें देखा है ? क्योंकि मनाहर बशी ध्वनि से तुम्हारे मुँह से वृण ग्रास अधूरे चवित होकर गिर पड़ हैं ॥१८१॥२७॥

(आगे जाकर चारा ओर देखते देखते)

जब इन समस्त वृक्षों से मकरन्द नहीं झर रहा है और पक्षीगण भी प्रेमाविष्ट न होकर परस्पर मिल बैठे हैं तब निखिल विश्वमोहनकारिणी मोरमुकुट धारिणी कोई एक अनिर्वचनीय विद्या (अर्थात् कृष्ण) ने इस तरफ प्रवेश नहीं किया है ॥ (यह कहकर वाम दिशा में घूम जाती हैं) ॥१८२-२८॥

जब ये समस्त मधुकर धूमिनि चित्त होकर पुष्प मकरन्द पान नहीं कर रहे हैं और यह शुक्र पक्षी भा स्न म्मत दशा को प्राप्त हो रहा है एवं दाडिम फल को नहीं खा रहा है तथा हरिणी विधूर्ण होकर इन हरी हरी कोपला को नहीं भक्षण कर रही हैं, तब निश्चय ही मत्त गजेन्द्रगति-यामी मेरे स्वामी इसी मार्ग से गये हैं ॥१८३॥२९॥

(पुरो गत्वा) एसा वामदो कालो तमालाअलो दीसइ [एसा वामत. काली तमालाअलो दृश्यते] (इति साचिरुघर निभाल्य सस्कृतेन)

नेसगिकाण्यपि निरर्गलचापलानि,

हित्वाद्य संकुलतनुः पुलकाङ्कुरेण ।

दृष्टि चिरेण परिरब्धतमालशाखा.

शाखामृगीततिरियं किमधस्तनोति? ॥३०॥

ता एसा मञ्जुलाताविञ्जठणिञ्जुसानिगा पेक्खिदब्बा । (तदेवा मञ्जुला तापिच्छनिकुंजशालिका प्रेभितव्या) ॥१८४॥

(प्रविश्य)

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) सत्यमस्वाश्रितचक्षुरसंगस्वरो प्रेमावलिरेव मदुद्देशदूतो, यदविलम्बितं विज्ञातभूमिष्टोऽस्मि सवृत्ता., ततः स्थाणुरिव निश्चलस्तिष्ठामि । (इति तथा म्रियतः) ॥१८५॥

श्रीराधिकाः—(मूर्धनिमानमय्य कृष्ण पश्यन्ती सव्याजम्, एष्य कण्ठो णरिह । [अत्र कृष्णो नास्ति] ॥१८६॥

(आगे जाकर) बाई दिशा मे ये सब तमाल वृक्षावलि दीख रही है, (यह कहकर बाई ओर देखकर)—

बन्दर अपनी स्वाभाविक अखण्ड क्षपलता को छोडकर एव पुल-
कित होकर तथा अपने अङ्गो को सकुचित कर तमाल की शाखाओ को
आलिङ्गन करते हुए न जाने आज क्यों नीचे को नेत्र झुकाये हुए है ? इस
मनाहारिणी तमाल कुञ्जशालिका को देखना चाहिये ॥१८४॥३०॥

(श्री कृष्ण प्रवेश करते है)

श्रीकृष्ण—(अपने मन मे) यह सत्य है कि श्रीराधा के अतिशय
चातुर्यपूर्ण हृदय को मिलाने वाली प्रेमावली ही मेरे उद्देश्य की दूतो है,
जिसके द्वारा शोध ही मैंने बहुत कुछ चतुराई सीखी है । अब मैं शाखाहीन
वृक्ष (ठोठ) की तरह निश्चल भाव से बैठ जाता हूँ । (यह कहकर निश्चल
भाव से अवस्थान करते है) ॥१८५॥

श्रीराधिका—(श्रीकृष्ण को देखते हुए मस्तम् झुकाकर छल सहित)—
यही तो कृष्ण नहीं हैं ॥१८६॥

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) दिष्ट्या न दृष्टोऽस्मि ॥१८७॥

श्रीराधिकाः—(सस्मितम्) एसो नीलमणिकीलो जेव्व रेहदि ।
[एव नीलमणिकील एव राजते] ॥१८८॥

श्रीकृष्णः—नूनं घनान्धकारतो नाहं प्रत-भिज्ञातः ॥१८९॥

श्रीराधिकाः—अम्महे, उज्ज्वला इन्द्रणीलकीलस्स ! [अहो, उज्ज्वलतेन्द्र-
नीलकीलस्स !] ॥१९०॥

श्रीकृष्णः—(सहर्षमपवार्यं)

रे ध्वान्तमण्डलसखे शरणागतोऽस्मि

चिस्तारयस्व तरसा निजवैभवानि ।

अम्मासमभ्युपगतापि मुहुर्यथासौ,

नावैति मा नयकुरङ्गतङ्गनेत्रा ॥१९१॥१९१॥

श्रीराधिका—(स्मित्वा) अस्वरिअं अस्वरिअम् । इमस्स नीलोदलस्स
अन्नरात्रे पडिविम्बिदा चन्दाअलो लक्खीअवि । [आश्चर्यमाश्चर्यम् ।
अस्य नीलोदनस्यान्तर ले प्रतिविम्बिता चन्द्रावली नययते] ॥१९२॥

श्रीकृष्ण—मन मन मे) अच्छा हुआ राधा ने मुझे नहीं देखा ॥१९३॥

श्रीराधिका—(मुसकराते हुए) यह तो नीलमणि की लाठी पड़ी है ॥

श्रीकृष्ण—निश्चय ही घोर अन्धकार के कारण मैं इसमें पहचाना
नहीं गया हूँ ॥१९४॥

श्रीराधिका—अहो ! इन्द्रनीलमणि की लाठी की कैसी उज्ज्वलता
है ? ॥१९५॥

श्रीकृष्ण—(हर्ष सहित हाथ की ओट में) हे अन्धकार मण्डल सखे !
मैंने तुम्हारी धारण ली है । तुम अपने वैभव (गाढ अन्धकार) का शीघ्र
विस्तार करो । जिससे नवीन भृगलोचन राधा वारम्बार निकट आकर भी
मुझे पहचान न सके ॥१९६॥

श्रीराधिका—(मुसकराकर) यह कैसा आश्चर्य ? कैसा आश्चर्य !!
इम नीलमणि में चन्द्रावली प्रतिविम्बित हो रही है ॥१९७॥

श्रीकृष्णः—(स्मितं कृत्वा स्वगतम्) कथं संविदाना खलु नमति-
नोति ? (इत्युत्थाय प्रकाशम्) प्रिये, सत्यमात्य । यदयं त्वदास्पचन्द्रो मे
हृद्गतितरङ्गेषु त्रिम्बिजश्चन्द्रावली वसुत्र ॥१६३॥

श्रीराधिकाः—अम्महे, कथं तुमं जेव ? तदो एदं असुरिअम् ॥
[अहो, कथं त्वमेव ? ततो नेदमाश्चर्यम्] ॥१६४॥

श्रीकृष्णः—वितासिनी ! किमनेन विश्लेषसंपाद्येन केलिनर्मणा ?
तदेहि, वानगन्धिना कुसुमवृन्देन पूर्णमूर्धनि सप्तपर्णकुञ्जे क्षणं विधाम-
सौख्यमनुभवावः ॥१६५॥

(इति तथा स्थितौ)

ललिता—विसाहे ! पेशख, कण्हेण संगदा पिअसही, जं तस्स पवेहि
समिलिवाइं एदाए पदाइं दोसन्ति । (विशाखे ! प्रेक्षस्व, कृष्णेन संगता
प्रियसखी, यतस्य पदेः सम्मिलितान्येतस्याः पदानि दृश्यन्ते) ॥१६६॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराते हुए मन ही मन में) कैसे जान-बूझकर यह
परिहास कर रही है ? (यह, विचार खड़े होकर स्पष्ट बोले)—हे प्रिये !
तुमने सच कहा है । तुम्हारा मुखचन्द्र ही मेरी चित्त-वृत्ति रूप तरङ्गों में
प्रतिबिम्बित होकर चन्द्रावली हो रहा है ॥१६३॥

श्रीराधिका—अहो ! क्या तुम हो ? फिर तो कोई आश्चर्य नहीं ॥

श्रीकृष्ण—हे वितासिनी ! इस विच्छेद-जनक केलि-परिहास का
क्या प्रयोजन ? आओ, हस्ति-मद सुगन्धि के समान सौरभ-शाली, कुसुमों
से मुशोभित मस्तकवाली सप्तपर्ण कुंज में चलकर थोड़ी देर सुलानुभव कर ।।

(यह कहकर दोनों वहाँ चले जाते हैं)

ललिता—विशाखे ! देखो, प्रियसखी श्रीराधा श्रीकृष्ण के साथ मिली
हैं, क्योंकि कृष्ण के पद चिन्हों के साथ साथ प्रियसखी के पदचिह्न दीप्त
रहे हैं ॥१६६॥

विशाखा—(पदाङ्काननुसृत्य सस्कृतेन)

प्रियसखि परिरम्भानाभिनुत्पानुबन्धा-

वसदृशदिनिवेशाग्नमर्मन्तौल्योज्झितानि ।

इयमविपममन्दन्यासतो जल्पगोष्ठी,

पदनतिरिह राधाकृष्णधोरातनोनि ॥१६७॥ ३२॥

श्रीकृष्ण — प्रिये । नानिदूरे कोमलोऽय काश्चीध्वनिपदञ्चति, तत-
स्तूष्णीं शृणु ॥१६८॥

विशाखा—हला । वित्तिगणयल्लिमण्डलकुण्डलिते वि वणखण्डे पिअ-
सहीए कय कण्हो तुरिख लड्यो ? [हला । वित्तीर्णवल्लिमण्डलकुण्डलितेऽपि
वनखण्डे प्रियसख्या कथ कृष्णस्त्वरित लब्ध ?] ॥१६९॥

ललिता—

गरम रमई जॉह जो, अ तस्स सो होइ बुल्लहो भुअणे ।

मडलंतम्मिरसाले, वलकण्ठी तवखण मिलइ ॥

[गुरु रमते यत्न यो तस्य स भवति दुर्लभो भुवने ।

मुकुलायमानरसान कलकण्ठी तत्क्षण मिलति] ॥१७०॥ ३३॥

विशाखा—(पदचिन्हो का अनुसरण करत हुए) हे प्रिय सखि । इन
पदचिन्हो से श्रीराधा-कृष्ण का आलिङ्गन सूचित हो रहा है । क्योंकि ये
पदचिन्ह एक दूसरे के आमने-सामने दिखाई दे रहे हैं । यहाँ नहीं दिखाई
दे रहे हैं, इसलिये परिहाम चपलता द्वारा पराजय का ज्ञान होता है और
यहाँ बिल्कुल स्पष्ट मन्द-मन्द पद-वि-यास हो रहा है जिसमें परस्पर कथो-
कथन प्रकाशित होता है ॥१६७॥ ३२॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिये ! यहाँ देखो, पाम हो मन्द मन्द किङ्किणी की ध्वनि
सुनाई दे रही है । अतः हम इसे चुपचाप होकर सुने ॥१६८॥

विशाखा—हे ललिते ! यह वन-खण्ड विस्तीर्ण नता-जाल से आवृत
हो रहा है, प्रिय सखी राधा ने कबसे यहाँ श्रीकृष्ण को इननी जन्दी का
लिया है ? ॥१६९॥

ललिता—सखि । जिस स्थान पर जो व्यक्ति अधिरूप से विचरण
करता है, वह स्थान जगत् में उस व्यक्ति के लिये दुर्लभ नहीं हुआ करता ।
देखो, आम के मुकलित होने ही कोयलें वहाँ शट पहुँच जाती हैं ॥१७०॥ ३३॥

श्रीकृष्णः—प्रिये ! प्रत्यासन्ने तव सखी । तदुभे परिहसिष्यन्नन्तरितो भवामि (इति तथा स्थितः) ॥२०१॥

ललिता—(परिक्रम्य पुरो राघामानोक्य च सहर्षम्) हला ! कुदो सो णाअरो ? [हला ! कुतः स नागरः ?] ॥२०२॥

श्रीराधिका—(सस्मितम्) का बखु सं जाणावि ? [का खलु तं जानाति ?] ॥२०३॥

ललिता—(सनमस्मितं संस्मृतेन)

कदा मुक्ता मुक्तावलिरपि ययो निर्गुणवशां

विशुद्धं ते वन्तच्छ्रदयुगमभूदात्तहृदये ।

अवन्धासोत्काञ्ची तदिह सखि युक्तासि हरिणा

सतीर्णा वः कृत्यं किमुचितमिदं गोकुलभुवाम् ? ॥२०४-३४॥

श्रीकृष्णः—(पुरोऽनुसृत्य) ललिते ! नाहमपराध्यामि सख्यै । ते संगोपितोऽस्मि ॥२०५॥

श्रीकृष्ण—प्रिये ! देखो, तुम्हारी दोनों, सखियां निकट आ पहुंची हैं अतः उनके साथ परिहास करने के लिये मैं छिप जाता हूँ । (ऐसा कहकर श्रीकृष्ण वहाँ छिपकर अवस्थान करते हैं) ॥२०१॥

ललिता—(धूमकर सामने श्रीराधा को देखकर आनन्दपूर्वक कहती है)—वहाँ है वह नागर ? ॥२०२॥

श्रीराधिका—(मुखकराकर) कोन जानता है, उसे ? ॥२०३॥

ललिता—(परिहास पूर्वक मुखकराते हुए) हे दान्तहृदये ! (गाढा-लिंगन द्वारा समर्दन-प्राप्त हृदये !) तुम्हारे सब केश खुन रहे हैं और मुक्ता-वलि भी टूट रही है । तुम्हारे दोनों अघरोष्ठ ताम्बूल की ताली से रहित दीख रहे हैं एवं कटि में काञ्ची भी बन्धन रहित हो रही है इसलिए हे सखि ! मानूम होता है तुम श्रीकृष्ण से सम्मिलित हुई हो । कुछ भी हो, गोकुल-वासिनी तुम जैसी सती-स्त्रियों के लिए ऐसा करना उचित है क्या ? २०४-३४

श्रीकृष्ण—(आगे आकर) ललिते ! मेरा कुछ दोष नहीं है, तुम्हारी सखी ने ही मुझे छिपा रखा है ॥२०५॥

ललिता—कित्ति पिअसहीए सगोवणिज्जो तुमम् ? [किमित प्रिय-
सख्या संगोपनीयस्त्वम् ?] ॥२०६॥

श्रीकृष्ण.—सुन्दरि ! निजकन्दर्प-रुता-प्रागल्भ्यस्यापलापाय । (इत्य-
ङ्गुल्या दशयन्) पश्य पश्य,

कठोरघ्नं भूयो व्रणमजनप्रदक्षसि नखै-

र्षलादाक्रामन्ती व्यकिरदपि मां विच्छिरचनान्म् ।

विकृष्य चिच्छिन्नाङ्गोमकृतवनमालां च वचिरा-

मिदानो जायते न किमपि पुरस्ते प्रियसखी ॥२०७॥३५॥

श्रीराधा—(सापसपम्) हूँ, अप्पणा कदुअ परं दूसेदुं पण्डितोसि ।
[हूँ, आत्मना कृत्वा पर दूषयितुं पण्डितोऽसि] ॥२०८॥

जड़िला फुडमञ्जरीहि—[स्फुटमञ्जरीभिः] (इत्यर्धोक्ते) ॥२०९॥

श्रीराधिका—(सन्नासम्) लज्जिते ! अज्ञाहिदं अज्ञाहिदम् । भयंकरी बुद्धिमा ।
ता लुरिद पलाएम्ह । [लालते ! अत्याहितमत्याहितम् । भयंकरो वृद्धा,

ललिता—हमारी प्रिय राधा तुम्हें छिपायेगी क्यों ? ॥२०६॥

श्रीकृष्ण—सुन्दरि ! अपने कन्दर्प-विलास को छिपाने के लिए । (यह
कहकर अगुली से दिखाते हैं) देख, देख; तुम्हारी प्रिय सखी ने अपने कठोर
नखाओं से मेरे वक्षस्थल को अतिशय क्षत-विक्षत कर दिया है एवं वलपूर्वक
आक्रमण कर मेरा मोरपुच्छ-मुकुट दूर फेंक दिया है । मनोहर वनमाला
खींचकर तोड़ डाली है । कैसा आश्चर्य है ? अभी तुम्हारे आगे तुम्हारी
प्रिय सखी कह रही थी—“मैं कुछ जानती नहीं हूँ” ॥२०७॥३५॥

श्रीराधिका—(निर्लज्ज होकर) अच्छा ! स्वयं करके दूसरों को दोष
लगाने में चतुर बन रहे हो ॥२०८॥

(वेशपर से आवाज आती है)

प्रफुल्लित मञ्जरियो द्वारो जटिला—(देवना आधा वचन सुनकर—) ॥

श्रीराधिका—(भयभीत होकर) ललिते ! बहुत घुरा ! महा विपद !
भयंकरी वृद्धा आ रही है, शीघ्र भाग चले । (यह कहकर श्रीराधा ललिता-

सत्त्वरितं पलायामः ।] (इति सखीभ्यां सह निष्क्रान्ता) ॥२१०॥

(पुनर्नेपथ्ये)

.....विहृदिमन्तो परागपुञ्जेन ।

हरभक्ता विअ सरए स्फुरन्ति सत्तच्छदम्पवरा ।

[..... विभूतिमन्त. परागपुञ्जेन ।

हरभक्ता इव शरदि स्फुरन्ति सप्तच्छन्दपवरा । ॥२११॥३६॥

श्रीकृष्णः—(सवैलक्ष्यम्) हन्त हन्त, सप्तपर्णं वर्णयता जटिलेति कटू-
द्वारेण बटुना कर्वायितोऽस्मि । तदग्रे सुहृन्मण्डलमेव प्रयामि ॥२१२॥

(इति निष्क्रान्ता सर्वे)

इति श्री श्रीविदग्धमाधवनाटके शरद्विहारो नाम पष्ठोऽङ्कः ॥६॥

विशाखा के साथ भाग जाती हैं) ॥२१८॥

[पुन वेशगृह से आवाज आती है]

पराग-पुञ्ज से शोभायमान हर-भक्तों की भाँति शरत् काल में सप्त-
च्छद कुसुमों में विराजमान हो रही है ॥२११॥३६॥

श्रीकृष्ण—(विस्मित होकर) हाय ! हाय ! जटिला ने सप्तपर्ण
वर्णक लाने को कहा था—मधुमङ्गल द्वारा इस कटु-वचन से मुझे धोका
लगा है । जो भी हो सामने मित्र मण्डली के पास चलता हूँ ॥२१२॥

[यह कहकर सब धले जाते हैं]

इस प्रकार श्रीश्यामदासानुवादित श्रीविदग्धमाधव नाटक का
'शरद्विहार' नामक छटा अङ्क समाप्त हुआ ॥६॥



सप्तमोऽङ्कः ।

(ततः प्रविशति वृन्दा)

वृन्दा—(समन्तादवलोक्य)

कदम्बालीजृम्भाभरपरिमलोद्गरपवन

स्फुटद्युधी द्यूरीकृतमधुपगानप्रणयिनी ।

नटरकेकिस्तोमा मृदुलयवसश्यामलितभू-

स्तपान्तेऽद्य स्वान्तं मम रमयति द्वादशवती ॥१॥१॥

(नेपथ्ये दृष्टि निक्षिप्वा) कथमसौ पीर्णमासी निजपर्णकुटीरोपान्तघाटिकाया-
मभिमन्युना सह संकथयन्ती वर्त्तते ? तदहं क्षणमत्रैव तिष्ठेयम् ॥२॥

सातवां अङ्क

[छः ऋतुओं में कामोद्दीपन करने में वसन्त, शरद तथा वर्षा की प्रबलता मानी गयी है । इनमें क्रमशः उत्पृष्टता होने के कारण पहले वसन्त, फिर शरद का सशेष से लीलोद्देश वर्णन किया जा चुका है । अब श्रावण की पूर्णिमादि की सीला की प्रकाशित करने के लिए वर्षा का वर्णन करते हैं]

[उसके बाद वृन्दा प्रवेश करती है ।]

वृन्दा—(चारों तरफ देखकर) आहा ! पवन प्रवाहित होकर मानो जम्हाई नैते हुए प्रकुल्लित कदम्बों की सीरम उद्गारित कर रही है । प्रफुल्लित जूही पत्तिवद्ध मधुकरों की प्रेम-मात्री हो रही है । मोरवृन्द नृत्य कर रहे हैं तथा कोमल कोमल नवीन तृणों से समस्त पृथ्वी हरित वर्णा हो रही है । इस प्रकार योष्म ऋतु के बाद आज ये द्वादश वन मेरे हृदय को सुख प्रदान कर रहे हैं ॥१॥

[वेदाग्रह की तरफ देगकर]

—यह क्या ! पीर्णमासी अपनी पर्णकुटि के निवट उद्यान में अभिमन्यु के साथ क्या बात कर रही है ?—चोड़ी देर में यहा हो रहती हैं ॥२॥

(प्रविश्य तथासूता पीणमासी)

पीणमासी—वत्साभिमन्यो ! किमर्थं त्वया प्रातरेवाहमुपसादितास्मि ?
अभिमन्युः—भवद्वि ! तुज्झं आणं गेण्हिदुम् [भगवति ! तवाज्ञां
ग्रहीतुम्] ॥४॥

पीणमासी—कस्मिन्नर्थे ? ॥५॥

अभिमन्युः—वारिसहाणईए मयुरापरांशो । [वार्यभानव्या मयुरा-
प्रस्थाने] ॥६॥

पीणमासी—(सव्ययम्) कस्तत्र हेतुः ? ॥७॥

अभिमन्युः—दोण्हं राहामाहवाणं, चापलं जेव्व । [द्वयो राधामाध-
वयोश्चापलमेव] ॥८॥

पीणमासी—वीर ! केन तवेवं वर्णितम् ॥९॥

अभिमन्युः—पितृव्यस्तैः गोअङ्गुणेण । [प्रियवयस्येन गोवर्धनेन] ॥

पीणमासी—वत्सामिमन्यो ! चतुरन्मन्योऽपि न त्वमार्थबुद्धिरसि, येन

[अभिमन्यु से बात करती हुई पीणमासी प्रवेश करती है]

पीणमासी—बेटा अभिमन्यु ! आज प्रातःकाल मेरे पास कैसे आए
हो ? ॥३॥

अभिमन्यु—भगवति ! तुम्हारी आज्ञा लेने के लिए ॥४॥

पीणमासी—किस विषय में ? ॥५॥

अभिमन्यु—वृषभानुनन्दिनी को मयुरा से आने के विषय में ॥६॥

पीणमासी—(दुखी होकर) किस विषय में ? ॥७॥

अभिमन्यु—राधा एवं माधव दोनों को चरलता के कारण ॥८॥

पीणमासी—हे वीर ! तुमको किसने ऐसा कहा है ? ॥९॥

अभिमन्यु—मेरे प्रिय सखा गोवर्धन ने ॥१०॥

पीणमासी—बेटा अभिमन्यु ! तू अपने को बहुत चतुर मानता है,

भोजेन्द्रवत्तभस्य गोवर्धनमल्लस्य कीटित्यचक्रेण विघ्नम्यते ॥११॥

अभिमन्युः—अतिप्रसिद्धा एसा पउत्ती केण वा ण कहिज्जइ ?
[अति प्रसिद्धा पा प्रवृत्तिः केन वा न कथ्यते ?] ॥१२॥

पौर्णमासी—पुत्र ! नूनं कर्मजशानामुपजापेनं सुप्तविवेकोऽसि । तदा-
कर्णय ॥१३॥

अभिमन्युः—आणवेहि । [आज्ञापय] ॥१४॥

पौर्णमासी—वत्स ! येन लावण्यगन्धलवलुब्धेन कंसशार्ङ्गलेन स्वयमेव
राधामृगो मृगयते, तस्य दारुणस्य हस्तोपरि न्याटयः कथमस्याः प्रक्षेपः ? ॥

अभिमन्युः—भगवति ! तस्य का चिन्ता ? सो बल्लु कुसली होइ
सुहृत्तमो मे गौअबु जो, जेण बिज्जामाहुरोहिं महुरिन्वो वसीकिओ । [भग-
वति ! तत्र का चिन्ता ? स बल्लु कुसली भवतु सुहृत्तमो मे गोवर्धनः, येन
विद्यामाधुरीभिमंयुरेन्द्रो वशीकृतः] ॥१६॥

परन्तु तुम में बुद्धि नहीं है, क्योंकि कस के प्रिय गोवर्धन की कुटिलता के
चक्कर में घूमते हो ॥११॥

अभिमन्यु—यह बात तो प्रसिद्ध हो चुकी है, यह कौन नहीं कहता ? ॥

पौर्णमासी—पुत्र ! निश्चय ही दुष्टों ने तुम्हारे कानों में यह बात
भर कर तुम्हारे विवेक को सुप्त कर दिया है । इसलिए तू मेरी बात सुन ॥

अभिमन्यु—भगवति ! आज्ञा करो ॥१४॥

पौर्णमासी—वेटा ! जिसकी लावण्यता की गन्धमात्र में लुब्ध होकर
कंस-व्याध स्वयं उस राधा-हरिणी की खोज कर रहा है, उस अति निर्दयी
के हाथों में श्रीराधा को डालना कैसे उपयुक्त है ? ॥१५॥

अभिमन्यु—भगवति ! इस बात की क्या चिन्ता है ? मेरा परम
सुहृद् गोवर्धन कुशलपूर्वक रहे । उसने अपने विद्या-माधुर्य से राजा कंस को
वशीभूत कर रखा है ॥१६॥

पौर्णमासी—(सखेदम् क्षणमनुध्याय) हंहो, धन्यानां मूर्धन्य ! गोविन्द-
मातुर्मृतिलेयोऽसि । कथमल्पायुषां गोकुलद्वेषिणां मण्डलपातितामालम्बसे ?
तद्य कयापि मर्यादया त्वां पर्यापयितुमिच्छामि ॥१७॥

अभिमन्यु—आणवेदु तत्यहोदी । [आज्ञापयतु तत्रभवती] ॥१८॥

पौर्णमासी—वत्स ! सा काचिन्मत्सरकल्पितापि किंवदन्ती यदि त्वया
नातृपतया प्रतीयते, ततः स्वयमेव चक्षुषोरपरलोक्षीकृत्य यथेष्टं चेष्टनीयम् ॥

अभिमन्युः—(सप्रश्रयम्) भगवदि ! सिरोगहीवं दे निवेशकुसुमम् ।
[भगवति, शिरोगृहीत ते निदेशकुट्टमम्] ॥२०॥

पौर्णमासी—(सानन्दम्) सोमानन ! गोपातत्र भूयाः ॥२१॥

अभिमन्युः—भगवदि ! अम्बा मं पुनो पुनो भणादि—'पुरा' चन्दा-
अलीचण्डिअञ्जरोण गोअङ्गणो जहत्यणामा संवुत्तो, ता बह्मिआ वि तरप

पौर्णमासी—(लेख सहित क्रुद्ध देर तक सोचकर) अहा-हा ! समस्त
धन्यपुरुषों में शिरोमणि ! गोविन्द की माता यशोदा के मामा का तू
पुत्र है । किमलिए तू अलगाय एवं गोकुल के विद्वेषीजनों का पक्षपात कर
रहा है ? मैं आज किसी मर्यादा द्वारा तुम्हें रोकना चाह रही हूँ ॥१७॥

अभिमन्यु—पूज्यतमे ! आज्ञा करो न ॥१८॥

पौर्णमासी—हे पुत्र ! (राधा-माधव की चपलता की जो बात तुमने
कही है) वह किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति की बताई हुई बात है । यदि तुम उसे
सत्य ही जान रहे हो, तो तुम स्वयं एक बार अनो आलों से देखो और
फिर तुम्हारी जैसी इच्छा हो करो ॥१९॥

अभिमन्यु—(विनयपूर्वक) भगवति ! मैं तुम्हारी आज्ञा को सिर पर
धारण करता हूँ ॥२०॥

पौर्णमासी—(आनन्दपूर्वक) चन्द्रमुख ! तुम्हारी गो-वृद्धि हो ॥

अभिमन्यु—भगवति ! मेरी मां जटिला ने मुझे अनेक बार कहा है
कि चन्द्रावती चण्डिका की पूजा करती है, इसलिए ही उसके पति का नाम

दिखा किञ्जलि । [भगवति ! अम्बा मां पुन- पुनर्भणति—'पुत्र ! चन्द्रा-
वलीचण्डिकाचर्चनेन गोवर्धनो यथार्थनामा संवृत्तः, तस्माद्वधूरपि तत्र दीक्षा-
क्रियेतामिति] ॥२२॥

पौर्णमासीः—मङ्गलमते ! सर्वमङ्गलाराधने दीक्षितामविलम्बमेव
वर्षमानवीं विद्धि ॥२३॥

अभिमन्युः—भगवदि ! अणुकम्पितोऽस्मि । [भगवति ! अनुकम्पि
तोऽस्मि] (इति निष्क्रान्तः) ॥२४॥

वृन्दा—(परिक्रम्य) बन्धे भगवतीम् ॥२५॥

पौर्णमासी—(विलोक्य शुभाशोभिरभिनन्द्य च) वत्से ! कामं कृता-
र्थासि । तदावेदय राधामाधवमो निकुञ्जकेलिमाधुरीम् ॥२६॥

वृन्दा—

सर्वस्वं प्रयमरसस्य यः प्रयोगान्कसारोदयति राधया विलासः ।
वक्तुं को विरमति स जनः समस्तादानन्दस्तिरयति चेदिगरा न वृत्तिम् ? ॥२७॥

गोवर्धन मल्ल सायंक हुआ है (अर्थात् उसी पूजन से वह बड़ा भारी घूरवीर
बन गया है) इसलिए आप मेरी बहू—राधा को भी ऐसी दीक्षा—सलाह
प्रदान करो ॥२२॥

पौर्णमासी—हे शुभमते ! सर्व मङ्गलमय की आराधना में वृषभानु-
नन्दिनी को तुम शीघ्र ही दीक्षित हुआ जानो ॥२३॥

अभिमन्यु—भगवति ! अनुगृहीत हुआ आज मैं ॥ (यह कहकर चला
जाता है) ॥२४॥

वृन्दा—(पास आकर) भगवति ! आपको प्रणाम है ॥२५॥

पौर्णमासी—(देखकर शुभाशोभदि से अभिनन्दन करते हुए) पुत्रि !
तुम सर्वथा कृतार्थ हो । मुझे राधा-माधव की निकुञ्जकेलि-माधुरी तो
सुनाओ ॥२६॥

वृन्दा—श्रीराधा के सहित श्रीकृष्ण का शृंगाररस विषयक जो
समस्त विनास प्रकाशित हो रहा है, यदि आनन्द समस्त वाक्-वृत्ति को

पौर्णमासी—(सानन्दम्) पुत्रि वृन्दे !

हरिरेष न चेदवातरिष्यन्मथुरायां मधुराक्षि राधिका च ।

अभविष्यदियं वृथा विसृष्टिर्मकराङ्कुस्तु विशेषतस्तदात्र ॥३॥

तदद्य गोष्ठममध्ये तवोपसंतिर्मां विस्मापयते ॥२८॥

वृन्दा—भगवति ! त्वरते कोऽपि मां गरीयानार्यः । तदसंललिता-
मपेक्षमाणास्मि ॥२९॥

पौर्णमासी—कीदृशोऽयम् ? ॥३०॥

वृन्दा—पूर्वद्युरदिष्टास्मि गोविन्देन । यथा—

आरु. गौरीतीर्थे मधुराक्षियं तत्र रन्तुमिच्छामि ।

पद्मावलम्बिकरया प्रियया पद्मायतंसिकया ॥३१-४॥

पौर्णमासी—युक्तमादिष्टं, यदद्य सोभाग्यपूर्णमा ; तथाहि—

अवश्य न करे तो कौन व्यक्ति है जो उसे वर्णन करने में पीछे हटेगा ॥२७॥

पौर्णमासी—(आनन्द सहित) पुत्रि-वृन्दे ! श्रीहरि और मधुराक्षि श्रीराधिका, यदि ये दोनों मधुरा मण्डल में अवतीर्ण न होते, तो विधाता की यह विश्वसृष्टि तथा विशेषतः इस वृन्दावन में वन्दन की कुछ सार्थकता न रहती—॥३॥

कुछ भी हो, तुम्हारा यहा आना मुझे विस्मित कर रहा है ॥२८॥

वृन्दा—भगवति ! मैं एक महान् प्रयोजन के लिये जल्दी में हूँ । इस लिए यहाँ ललिता की इन्तजार कर रही हूँ ॥२९॥

पौर्णमासी—वह क्या ? ॥३०॥

वृन्दा—वल श्री गोविन्द ने मुझे आदेश दिया था कि—

तुम जाकर गौरीतीर्थ पर वसन्त-शोभा सम्पादन करो, वहाँ कमलों को हाथ एव कानों में धारण करने वाली (पद्मा का हाथ पकड़े हुए कानों में कमल धारण करने वाली—चन्द्रावली) प्रिय राधा के संग रमण करने की मेरी इच्छा है ॥३१॥४॥

पौर्णमासी—ठीक कहा है उन्होंने, क्योंकि आज सोभाग्य पूर्णमा है । कहते हैं—

प्रसूनैरद्भुतैः कान्ता कान्तेन आवणीदिने ।

प्रसाधिता प्रसिद्धेन सौभाग्येन विवर्धते ॥३२॥५॥

ततस्ततः ?

वृन्दा—ततश्च तद्वृत्ते शारिकामुखतः सखीसंसदिः संचारिते पद्यार्थ-
तत्संस्तराधार्यसिद्धिरपि पद्या ललितां कटाक्षयन्ती हठादवादीत्—

उत्फुल्लमूर्त्तः सममृल्लसन्त्याश्चन्द्रावलेश्चन्द्रकमण्डलेन ।

स्लास्यन्ति सौभाग्यभरप्रभाभिर्गर्वाग्विगोपीवदनान्मुज्जर्म्भि ॥३३॥६॥

पीर्णमासी—(विहस्य) ततस्ततः ? ॥३४॥

वृन्दा—ततश्च स्मेरया दृष्टिमुद्रयैव स्वामधीरामवधीरयन्ती ललिता
मया सह राधानुपसाद्य कल्ये प्रस्थानाय तामतिसंस्त्रमं लम्बयामास । पश्य
वृत्तोऽप्यद्य यामे सेय नाजगाम ॥३५॥

आवणी पूर्णिमा के दिन जो कान्ता, अपने कान्त के साथ अद्भुत
कुसुमों द्वारा विभूषित होती है, उसका सौभाग्य बढ़ा करता है ॥३२॥५॥

— फिर आगे ?

वृन्दा—उसके बाद शारिका के मुख से “आहुर गौरीतीर्थं” श्लोक का
तात्पर्य अर्थात् “तुम जाकर गौरी तीर्थ पर वसन्त शोभा सम्पादन करो”—
इत्यादि की आलोचना सखा-सभा में होने लगी । पद्या ने श्रीराधा की
अभीष्ट सिद्धि की विवेचना करते हुए एकदम ललिता के प्रति कटाक्ष करते
हुए कहा—

आज चन्द्र मण्डल द्वारा उत्लसित प्रफुल्लित मूर्ति चन्द्रावली की
सुशोभित प्रभा द्वारा गर्वाग्विगोपियों के मुख को मलिन करूँगा—(ऐसा
श्रावण ने कहा है) ॥३३॥६॥

पीर्णमासी—(हँसते हुए) फिर क्या हुआ ? ॥३४॥

वृन्दा—उसके बाद कुछ मुसकराते हुए नेत्रों द्वारा पद्या को अधीर
हुआ जानकर ललिता ने मेरे साथ श्रीराधा के पास चलकर प्रातः काल
आने की बात कही और पद्या को सम्भ्रम में डाल दिया । परन्तु देखो, एक
पहर निकल गया है फिर भी ललिता अभी तक नहीं आई ॥३५॥

(प्रविश्य)

ललिता—सहि वृन्दे! ज्ञातं गव्याद्वदं पञ्चमाह, दाणिं जाणिदम् । तस्य पत्थारो कुदो अम्हाणं जोग्गदा ? । [सखि वृन्दे ! युक्तं गर्वायितं पद्मया, इदानीं ज्ञातम् । तत्र प्रस्थाने कुतोऽस्माकं योग्यता ?] ॥३६॥

पौर्णमासी—पुत्रि, कथमेवम् ? ॥३७॥

ललिता—भगवति ! रुम्ह पुरवो अम्हाणं तिणादोहागसल्लेण किं उग्घाडिदेण ? । [भगवति ! तव पुरतोऽस्माकं तेन दीर्घाभ्यासल्लेण किमुद्धाटितेन ?] ॥३८॥

पौर्णमासी—वत्से ! शुभं पुरस्मि, वर्यताम् ॥३९॥

ललिता—(सासम्) अज्जे ! गोरपट्टसुत्तेण गण्ठिवा एवका विव्वमाला पिअसहीए कण्हत्स दिण्णा, सा अम्मेहि पञ्चमिआ धम्मिल्ले तवकालं जेव्व विट्ठा । [आर्ये ! गोरपट्टसूत्रेण ग्रथितंका दिव्यमाला प्रियंसख्या कृष्णाय दत्ता, सास्माभिः पद्या धम्मिल्ले तत्कालमेव दृष्टा ।] ॥४०॥

पौर्णमासी—स्थाने ग्लानिर्निरयम्, बाढमसांप्रतमेतद्गोविन्दस्य ॥४१॥

[ललिता प्रवेश करती है]

ललिता—सखि वृन्दे ! मैं अब समझ पाई हूं, पद्या का इतराना युक्त ही था । वहां चलने की योग्यता हम में कहां है ? ॥३६॥

पौर्णमासी—बेटी ! ऐसा क्यों ? ॥३७॥

ललिता—भगवति ! आपके सामने अब अपनी दुर्भाग्यता को प्रकट करने का प्रयोजन नहीं दीखता ॥३८॥

पौर्णमासी—पुत्रि ! मुझे सुनने की इच्छा है, कहां तो सही ॥३९॥

ललिता—(आंसु बहाते हुए) आर्ये ! प्रिय सखी राधा ने सफेद वर्ण के रेशमी तामे से एक अति सुन्दर माला धनाकर श्रीकृष्ण को प्रदान की थी, उसी दिन ही हमने वही माला पद्या के जूड़े में बंधी देखी ॥४०॥

पौर्णमासी—तुम्हारा दुख करना युक्त ही है और ऐसा करना गोविन्द की ज्यादाती है ॥४१॥

वृन्दा—शान्तममङ्गलम् ॥४२॥

पौर्णमासी—वृन्दे ! कथ्यतां किं नामेदम् ॥४३॥

वृन्दा—वर्णित मे मनुष्यवाक्यया तथा कवखटिकया—

‘कदम्बशाखायां मालामालम्ब्य कालिन्दीमवगाढे वनमालिनि, सप्रवृत्ते च केतकीपरागचक्रचण्डे मरुन्मण्डले पद्या किलेमा जहार । मासस्तुमुषा कलङ्कं जगामेति ॥४४॥

ललिता—धुत्ते ! मुञ्च नं वञ्चनम् । [धूर्त्ते ! मुञ्चने वञ्चनम्] ॥

वृन्दा—पुष्पमञ्जरीभ्य शपे ॥४६॥

ललिता—(विश्रम्य)हला ! सञ्च सञ्चम् । ज अहं पुरवो अप्पणो सोहग्ग विवलेये ती पउमिआ माल विवरेदि, कण्हमिताण अगवो उण ए सवरेदि । [हला ! सत्य सत्यम् । यदस्मत्पुरत आत्मन सोभाग्य विख्यापयन्ती पद्या माला विवृणोति । कृष्णमित्राणामग्रत पुनरेना सवृणोति] ॥४७॥

वृन्दा—अमङ्गल शान्त हो ॥४२॥

पौर्णमासी—वृन्दे ! कह तो सही यह हुआ कैसे ? ॥४३॥

वृन्दा—हमे तो यह बात कवखटी वन्दरीने मनुष्यकी बोलीमे यूँ बताई कि—वनमाली कृष्ण उस माला को जब कदम्ब की डाली पर रखकर यमुना मे स्नान करने गए तो उसी समय प्रबल आधी चल पड़ी । केतकी पुष्पी की पराग उड़ने लगी । उसी समय पद्या ने वह माला चुरा ली, किन्तु पवन को मिथ्या बदनाम होना पड़ा ॥४४॥

ललिता—धूर्त्ते ! वस वञ्चना को छोड़ ॥४५॥

वृन्दा—मुझे पुष्प मञ्जरियों की मपय, (मैं भूँट नहीं कहती हूँ) ॥

ललिता—(विदशास पूर्वक) सखि सत्य है तू सत्य कहती है, अपने सोभाग्य को जनाते हुए पद्या ने हमे माला दिखाई थी । किन्तु कृष्ण के सखाओ से वह माला को छिपाती है, अभी तक उसने उन्हें नहीं दिखाई ॥

पौर्णमासी—पुत्रि ललिते ! स्फुटमत्र पूर्णिमायां युष्माकमनुद्यमाय पद्मया तां छत्रचातुरीं प्रसार्य गौरीतीर्थं चन्द्रावली लम्बिता ॥४८॥

वृन्दा—युक्तमाह भगवती; तदद्य गौरीतीर्थे राधिकोपनीतिः कल्याणी न मे प्रतिभाति ॥४९॥

(प्रविश्य)

विशाखा—वृन्दे ! 'कल्याणी पङ्क्तिभावि' ति भणाहि । [वृन्दे ! 'कल्याणी प्रतिभाति' इति भण] ॥५०॥

वृन्दा—कथमेवम् ? ॥५१॥

विशाखा—गोडलेसरीमुहादो अङ्ग सोहगपुणिमं सुणिअ करालाए चम्दाअली अप्पभत्तुणो मत्तस्स पासे पत्थावीअदि । [गोकुलेश्वरीमुखतोऽद्य सौभाग्यपूर्णमा श्रुत्वा करालया चन्द्रावली आत्मभर्तुर्मत्तस्य पादवै प्रस्थाप्यते] ॥५२॥

ललिता—(सहर्षम्) विसाहे ! इष्टदेवो सरोजनाथो वे पसीददु, ता तुवरीअदु । [विशाखे ! इष्टदेव-सरोजनाथस्ते प्रसीदतु, तत्त्वय्यंताम्] ॥५३॥

पौर्णमासी—पुत्रि ललिते ! यह बात स्पष्ट है कि इस सौभाग्य पूर्णिमा पर तुमको, उद्यमरहित करने के लिये पद्मा ने यह भूठी चतुरता फैलाई है और यह चन्द्रावली को गौरी तीर्थ पर ले जावेगी ॥४८॥

वृन्दा—भगवती ! ठीक कह रही हैं, इसलिए आज गौरी तीर्थ पर श्रीराधा को ले जाना मुझे मङ्गलमय नहीं लगता ॥४९॥

विशाखा—वृन्दे ! 'मङ्गलमय लगता है' ऐसा कहो ॥५०॥

वृन्दा—यह कैसे ! ॥५१॥

विशाखा—गोकुलेश्वरी के मुख से आज सौभाग्य पूर्णिमा है—यह बात सुनकर, कराला ने चन्द्रावली को अपने पति गोवर्धन मल्ल के पास भेज दिया है ॥५२॥

ललिता—(हर्ष सहित) विशाखे ! इष्टदेव सूर्यदेव तुम पर प्रसन्न हो । अब जल्दी करो । ५३॥

पौर्णमासी—पुत्रि वृन्दे ! कामप्यद्यत्तनीमभिमन्योर्दाहणा दुर्मन्त्रितमृदां
राधायामावेद्य मयाप्यस्या शङ्कापङ्कावली-सक्षालनाय गौरीतीर्थं भवितव्यम्॥

वृन्दा—भगवति ! पूर्वण गौरीतीर्थं सयङ्गकुडङ्गस्य प्राङ्गणे सवि-
शाखा राधया सार्धं साधयतु तत्र भवती । तावदावा माधवमासादयाव ॥५५॥

(पौर्णमासी विशाखा सह निष्क्रान्ता)

सलिता—(वृन्दया सह परिक्रम्य) हला पेखीअदु, डाहिणे एसा
दूरदो सेध्वाए सम जप्पन्तो पडमा । [हवा । प्रेक्ष्यताम् दक्षिणे एषा दूरत.
शैव्यया सम जलन्ती पद्या] ॥५६॥

वृन्दा—सखि ! नासगत ध्याहरेद्विशाखा (इत्यप्रतो गत्वा सविमर्शम्)
सखि ! परमौत्सुक्यसन्ततेन सूरिणा सञ्चमेण सभेदिते राधिकारवित्तमनि-
र्धायं तूर्णमावा विदूरमागते । तदत्र मानस गङ्गापारे पौर्णमासी क्षण प्रति-
पालयाव (इति निष्क्रान्ते) ॥५७॥

पौर्णमासी—पुत्रि वृन्दे ! अब मैं अभिमन्यु की कोई भयानक दुर्मं-
त्रणा श्रीराधा को जताकर, अब उसकी शङ्का-मलिनता को धोने के लिए
गौरी तीर्थ पर जाऊँगी ॥५४॥

वृन्दा—भगवति ! आप पहले विशाखा के साथ श्रीराधा को लेकर
गौरीतीर्थ की निकटवर्ती सयङ्गकुञ्ज में चली । मैं सलिता सहित श्रीमाधव
को वहाँ से जाऊँगी ॥५५॥

[पौर्णमासी विशाखा के साथ वहाँ से चली जानी हैं]

सलिता—(वृन्दा के साथ लोटकर) देखो दक्षिण दिशा की ओर दूर
से शैव्या के साथ पद्या बातें करती आ रही है ॥५६॥

वृन्दा—सखि ! विशाखा अयुक्त बात नहीं कहती थी । (यह कहकर
आगे बढ़कर परामर्श सहित) हम परम उत्साहजन्य मारी सम्भ्रम सहित
श्रीराधा के जाने की बात को समझकर जल्दी से दूर आ गई हैं । इसलिए
हम माधवी गङ्गा के पार चलकर पौर्णमासी को कुछ देर इन्तजार करती
हैं, यह पट्टर चली जानी हैं) ॥५७॥

(ततः प्रविशत पद्माशैव्ये)

पद्मा—सहि सेव्ये ! मा बबु दुम्भणा होहि [सखि शैव्ये ! मा खलु दुर्मना भव] ॥५८॥

शैव्या—पउमे ! परमाहिद्वस्स अलाहेण सलाहव चित्ता समाधादुं ण बलमम्हि । [पद्य ! परमाभीष्टस्यालाभेन सलाधव चित्त समाधातु न समास्मि] ॥५९॥

(नेपथ्ये)

पउमे ! चन्द्रावली आणिज्जउ गोमद्वणस्स पासम्मि इत्ति ।

णिब्बट्टइ वच्छा जह कुसुमेहि सुवेवच्छा ॥

[पद्ये ! चन्द्रावली अनीयतां गोवर्धनस्य पार्श्वे इदिति ।

निर्वर्तति वत्सा यथा कुसुमं मुनेपथ्या] ॥६०॥७॥

शैव्या—पउमे ! सुव न अज्झिआ कराला त जेव्व जल्पगरल पुणो उगिरदि । [पद्ये ! श्रुत यदार्था कराला तमेव जल्पगरल पुनर्दिगिरति] ॥

पद्मा—हला ! थमिअ बबु एव, ज पिबिअ उवलद्वलमिह जादा ।

[हला ! अमृत खल्वेतत्, यत्पीत्वा उपलब्धबलास्मि जाता] ॥६२॥

[तत्र पद्मा व शैव्या प्रवेश करती हैं]

पद्मा—सखि शैव्ये ! चित्ता मे वेद मत करो ॥५८॥

शैव्या—पद्ये परम अभीष्ट को न पाने के कारण चित्त का शीघ्र समाधान नहीं कर पा रही हूँ ॥५९॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

पद्ये ! शीघ्र ही चन्द्रावली को गोवर्धन के पास ले जाओ । वत्सा का यथायोग्य कुसुमो द्वारा श्रृंगार पूरा हो चुका है ॥६०॥७॥

शैव्या—पद्ये ! सुन रही हो तो ? आर्या कराला फिर उसी वाक्यमय विष को उगल रही है ॥६१॥

पद्मा—सखि ! यह विष नहीं है । अमृत है, जिसे पीकर मैं अतिशय बलवती हो उठी हूँ ॥६२॥

शय्या—(सवैलक्ष्यम्) हला ! कथं विअ । [हला ! कथमिव ?] ॥६३॥

पद्मा—मुदिए ! गोअट्टणस्स गिरिणो पासि जेव्व तं गौरीतित्थम् ।
[मुग्धे ! गोवर्धनस्य गिरेः पार्श्वे एव तद्गौरीतीर्थम्] ॥६४॥

शय्या—(सहर्षम्) हला ! सअलत्थपण्डितासि । ता उट्ठेहि । चन्दा-
अलिअं तत्थ रोम्ह । [हला ! सकलार्थपण्डितासि । तदुत्तिष्ठ । चन्द्रावली
तत्र नयामः] ॥६५॥

पद्मा—पढमं सुअ चन्दाअली मए चालिदा । ता तुवरेहि । एं अणु-
सरम्ह । [प्रथममेव चन्द्रावली मया चालिता । तत् त्वरस्व । एनामनु-
सरामः ।] ॥६६॥

(इत्युभे परिक्रमातः)

शय्या—पउमे ! गौरीकिदे जो वडु संपाविदो, सो कहि उवहारो ?
[पद्मे ! गौरीकृते यः खलु संपादितः, स कुशोद्धारः] ॥६७॥

पद्मा—मधुमङ्गलहत्ये समप्पिदोत्थि । [मधुमङ्गल हस्ते समर्पितो-
ऽस्ति] ॥६८॥

शय्या—(विस्मय सहित) वह कैसे ? ॥६३॥

पद्मा—अरी मुग्धे ! गोवर्धन गिरि के पास ही वह गौरीतीर्थ है ॥६४॥

शय्या—(हर्ष सहित) सखि ! सब विषय में यड़ी चतुर हो । उठ,
चन्द्रावली को वहां ले चलेंगी ॥६५॥

पद्मा—मैंने पहले ही चन्द्रावली को भेज दिया है । चलो जल्दी ही
उसका अनुगमन करती हूँ ॥६६॥

[दोनों पीछे लौटती हैं]

शय्या—पद्मे ! गौरी के लिए जो सब उपहार सामग्री सजाई थी,
वह सब कहाँ है ? ॥६७॥

पद्मा—मधुमङ्गल के हाथों में देदी थी मैंने ॥६८॥

शैव्या—विदग्धखलस्स उवकरिसं तविकअ उत्तम्मामि । [विपक्ष-
कुलस्योत्कर्षं तर्कयित्वोत्ताम्यामि] ॥६६॥

पद्मा—मा क्खु उत्तम्म । अ एताए मालाए दंसिदाए गिरज्जवसाओ
किदो मए विदग्धपवखो । [मा खलुत्ताम्य । यदेतया मालया दर्शितया
निरध्यवसायः कृतो मया विपक्षपक्षः ।] ॥७०॥

(शैव्या सहर्षं पद्मामालिङ्गति)

पद्मा—

सौहृगपुणिमाहे, गौरीतित्यम्हि फुल्लिवे मधुणा ।

अज्ज रमन्तीं हरिणा, मुहेण चन्दाअलीं पेदख ॥

[सोभाग्यपूर्णिमाहे गौरीतीर्थे फुल्लिते मधुना ।

अद्य रममाणां हरिणा सुखेन चन्द्रावली पश्य ॥] ॥७१॥

(नेपथ्ये 'सौहृगपुणिमाहे' इत्यादि पठ्यते)

शैव्या—(साद्रुतं विलोचय) हला ! इमाए मुहं बङ्गीकबुअ बीहच्छ-
सरेण पढन्तीए कक्खडिआए अम्हे उवहसिज्जम्ह । [हला ! एतया मुख वक्त्री-
कृत्य बीभत्सस्वरेण पठन्त्या कक्खटिकया वयमुपहस्यामहे] ॥७२॥

शैव्या—पद्मे ! मैं विपक्ष कुल का उत्कर्ष विवेचना कर उत्कण्ठित
हो रही हूँ ॥६६॥

पद्मा—उत्कण्ठित मत हो, मैंने उसी माला को दिखाकर विपक्षियों
को निरस्तारहित कर दिया है ॥७०॥

[शैव्या हर्षपूर्वक पद्मा का आलिङ्गन करती है]

पद्मा—आज सोभाग्य पूर्णिमा का दिन है । इस वसन्तकाल में गौरी-
तीर्थ पर पुष्प प्रफुल्लित हो रहे हैं । अतएव आज श्रीकृष्ण के साथ सुखपूर्वक
विहार करते हम चन्द्रावली के दर्शन करेंगे ॥७१॥

[वेशगृह में "आज सोभाग्य पूर्णिमा है"—इसका पाठ होने लगता है]

शैव्या—(आश्चर्यपूर्वक देखकर) सखि यह बन्दरी मुह बनाकर
घृणित स्वर में आज "आज सोभाग्य पूर्णिमा है"—बोल बोल कर हमारा
उपहास कर रही है ॥७२॥

पद्मा—(सस्मितम्) दुष्टे मयकडि! तुण्डं वे दहिस्सम् । [दुष्टे मर्कटि! तुण्डं ते धक्ष्यामि ।] ॥७३॥

(नेपथ्ये)

पउमिए ! चिट्ठ चिट्ठ । सुण्णं तुज्झ घर गदुअ णअणीआइं गिलिस्सम् ।
[पद्मे ! तिष्ठ तिष्ठ । शून्यं तव गृहं गत्वा नवनीतानि गिलिष्यामि] ॥७४॥

शैव्या—हला ! सञ्चं गिलिस्सदि, अं एया तं जेअव पढन्ती धाइदा ।
[हला ! सत्यं गिलिष्यति, यदेया तदेव पठन्ती धाविता] ॥७५॥

पद्मा—मा चिन्तेहि । धरे अज्झिमा कराला चिट्ठदि [मा ! चिन्तय, गृहे आर्या कराला तिष्ठति] (इति परिक्रम्य सस्कृतेन) पश्य पश्य ॥

साचीकृताङ्गमिह सव्यकरेण यष्टि,

विष्टभ्य वृत्तसरत्नामुपकक्षकूपम् ।

तिष्ठन्नधो विटपिनः पशुवृन्वचारी,

रोरीति गीतिमधुना सुबलस्तनोति ॥७६॥८॥

शैव्या—(परिक्रम्य) हला पुन्वेण संकरिसणकुण्ड चन्द्रावली दीसइ ।
[हला ! पूर्वेण सकर्पणकुण्ड चन्द्रावली दृश्यते ।] ॥७७॥

पद्मा— (मुस्करा कर) दुष्ट बन्दरी ! जला दूँ तेरे मुँह को ॥७३॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

पद्मे ! ठहर जा, ठहर जा, तेरे सूने घर में जाकर अभी तेरा सारा माखन खा जाती हूँ ॥७४॥

शैव्या—सखि ! सचमुच, सचमुच, यह तो खा जायेगी । देख, वह कहरूर भागी जा रही है ॥७५॥

पद्मा—तू चिन्ता मत कर । घर में आर्या कराला बैठी हुई है । (यह कहरूर घूमते हुए) देख, देख—

बाए हाथ में लाठी लिये कक्ष के पास वृक्ष के नीचे सहारा लिये बँठा हुआ गोचारणकारी सुबल री-री ध्वनि करते हुए गान कर रहा है ॥७६॥

शैव्या—(धूमकर) सखि ! सामने सकर्पण कुण्ड पर चन्द्रावली दोख रही है ॥७७॥

पद्मा—(सहर्षं संस्कृतेन)

अयं पुरः स्मेरमुखारविन्दः, प्रयाणनीलाकृतकुम्भनिन्दः ।

कलेवरद्योतिहताक्षितन्द्रश्चन्द्रावलीं विन्दति कृष्णचन्द्रः ॥७८॥१०॥

(ततः प्रविशति कृष्णश्चन्द्रावली च)

श्रीकृष्ण—(वर्त्माविरुध्य) प्रिये ! दिष्ट्याद्य सौन्दर्यमकरन्दभृङ्गारा-
यितासि समाक्षिभृङ्गयोः ॥७९॥

चन्द्रावली—मुञ्च ममम् । न गौरीतीर्थं गदुम कञ्चाअणिअं अञ्चि-
स्सम् । [मुञ्च मार्गम् । यद्गौरीतीर्थं गत्वा कात्यायनीमचिष्यामि ।] ॥

श्रीकृष्ण—(सस्मितम्)

लब्धं मामवलोक्य तन्नि पुरतो रोमालिस्सुदगता

नेत्रे पाद्यविधि क्षरज्जलमरेः प्रोत्पाप्यर्प्याञ्चेकतुः ।

वक्षश्च स्थलदुत्तरीयमदिशद्विध्यासनं संभ्रमाद्-

वामायास्तव दक्षिणः परिकरो विष्ट्याद्य वृत्तो मयि ॥८१॥११॥

पद्मा—(हर्षपूर्वक) मुमकराते हुए मुखकमल वाले, चलन से गजेन्द्र
गति को भी निन्दित करने वाले एव जिनकी अङ्गकान्ति द्वारा नेत्रों में चका-
चाँध पड़ती है, सामने वही श्रीकृष्णचन्द्र चन्द्रावली से मिलित हो रहे हैं ॥

[तब वहाँ श्रीकृष्ण एवं चन्द्रावली प्रवेश करते हैं]

श्रीकृष्ण—(रास्ता रोककर) प्रिये ! बड़े सोभाग्य की बात है कि
आज मेरे नेत्र-मधुरों के लिए सौन्दर्य-मकरन्द पान करने का तुम विशेष
पाल बनी हो ॥७९॥

चन्द्रावली—मेरा रास्ता छोड़ो, मैं गौरी-तीर्थ जाकर कात्यायिनी की
अर्चना करूँगी ॥८०॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) हे कृशाङ्गि ! मुझे देखकर तुम्हारी समस्त
रोमावली खड़ी हो रही है, तुम्हारे नेत्र आनन्द सहित प्रवाहित जलधारा
द्वारा मुझे पात्र अर्पण कर रहे हैं एवं तुम्हारा वक्षस्थल उत्साहपूर्वक उत्तरीय
वस्त्र को संचालित कर मुझे दिव्य आसन प्रदान कर रहा है । अतएव हे
प्रिय ! तुम्हारे प्रतिव्रल होते हुए भी तुम्हारा सब परिकर सोभाग्यवश मेरे
अनुकूल हो रहा है ॥८१॥११॥

सखी—(उपसृत्य) सहि ! सन्ति भूरिणो मग्ना । ता एकस्मिन् निरुद्धे
निरुद्धा न होम्ह । [सखि ! सन्ति भूरयो मार्गाः । तदेकस्मिन्निरुद्धे निरुद्धा
न भवामः ।] ॥८२॥

चन्द्रावली—(साचिग्रीवमवलोक्य) हला ! दिट्ठिआ तुम्मेहि सहिदम्हि
संवुत्ता । [हला ! दिट्ठिआ गुप्ताभिः सहितास्मि संवृत्ता] ॥८३॥

श्रीकृष्ण—(स्वगतम्) कयमद्य राघामभितसारविषोर्ममान्तिके चन्द्रा-
वलिदपस्थिता ? ॥८४॥

पद्मा—(जनान्तिकम्) चन्द्रमुह ! पडमावनम्बिकराए ति तुज्ज
मणोरथं सुणिअ छलेण मए चन्दाअली लम्बिदा । [चन्द्रमुख ! पद्मावलम्बि-
करयेति तव मनोरथं श्रुत्वा छनेन मया चन्द्रावली लम्बिता ।] ॥८५॥

श्रीकृष्ण—(स्वगतम्) भां ज्ञातम् । पद्ममण्डनमभिलष्यता मयैव
वृत्तान्तरासि, हि ते दूयणम् । (पक्षाशम्) सखि, प्रसिद्धैव पद्मायाः पद्म-
नाभपक्षपातिता ॥८६॥

शङ्क्या व पद्मा—(निकट आकर) सखि ! अनेक रास्ते हैं, एक रास्ता
बन्द होने पर हम रुक नहीं जायेंगी ॥८२॥

चन्द्रावली—(बायी ओर गर्दन फेर कर देखते हुए) सखियो ! बड़े
सीमाय है, तुम्हारा जो मिलन हो गया ॥८३॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) मैं तो आज श्रीराघा के अभिसार का अभिलाषी
था । चन्द्रावली कैसे आ उपस्थित हुई ? ॥८४॥

पद्मा—(घोरे से कान मे) हे चन्द्रवदन ! “पद्मावलम्बि करया”—
(श्लोक—४) अर्थात् आपने कहा था (‘कमलो को धारण करने वाली—
पश्चान्तर में) पद्मा के हाथ का अवलम्बन लेकर आने वाली’—इम अकार के
आपके मनोरथ को सुनकर मैं ही चन्द्रावली को ले आई हूँ ॥८५॥

श्रीकृष्ण—(मन ही मन मे) ठीक, मैं समझ गया । पद्मद्वारा अवलम्बित
प्रिय की इच्छा जनाकर मैंने ही इसे ऐसा अवसर दिया है । तुम्हारा क्या
दोष है ? (स्पष्ट कहते हैं) सखि ! पद्मा का तो कृष्ण-पक्षपात प्रसिद्ध ही है
(अर्थात् लक्ष्मी तो सदा श्रीकृष्ण का ही पक्षपात करती है) ॥८६॥

पद्या—अदो तुरिवं गौरीतित्थं लम्मेहि चन्द्रावलीअम् । [अतस्त्वरितं गौरीतीर्थं लम्मेय चन्द्रावलीम्] ॥८७॥

श्रीकृष्ण—(स्वगतम्) चन्द्रावलीरागतिरेव रात्रिकोयमप्रतिबन्धिनी वृत्ता । तदेनामेव निश्च्यंलोकभावां तावत्प्रमोदयन्त्वं मनो विनोदयामि ॥८८॥

(प्रकाशम्)

धूनपयोत्सवसंततिरसव्यदोपोदया सदा स्फुरती ।

सखि कृष्णपक्षपूर्णा, चन्द्रावतिरद्भुता त्वमसि ॥१२॥

(इत्यग्रे परिक्रम्य) कुरङ्गाक्षि, पश्य काननस्य कमनीयताम् ॥८९॥

पद्या—हला ! एसो पुरदो सुरङ्गणामा कण्हस्स कुरङ्गो । जस्स हरिणी सा किवित्थि रङ्गिणी णाम कुरङ्गी । [हला ! एषः पुरतः सुरङ्ग-नामा कृष्णपक्ष कुरङ्गः । यस्य गृहणि सा कृतास्ति रङ्गिणी नाम कुरङ्गी] ॥

श्रीकृष्ण—(सचकित मेपथ्ये कर्ण दत्त्वा स्वगतम्) नुनमागता राधा, यदय रङ्गिणीकण्ठध्वनिदंरोदञ्चति ॥९१॥

पद्या—इसलिए शीघ्र से चलो गौरी तीर्थ पर चन्द्रावली को ॥८७॥

श्रीकृष्ण—(मन मे) चन्द्रावली का यहा आना ही राधा के उद्यम मे प्रतिबन्ध है—अर्थात् वह बहा नहीं आ पायेगी । इसलिए अकपट भाव से चन्द्रावली को हर्षित करते हुए अपने मन को आनन्दित करता हूँ ॥८८॥

(स्पष्ट कहते हैं)—हे सखि ! तुम पद्या के सब आनन्द को धारणकर दोष समूह से शून्य हो ओर मुक्त कृष्ण के पक्ष मे सर्वदा पूर्णभाव से स्फुरित होती हो । अतएव तुम अद्भुत चन्द्रावली हो ।

(यह कहते हुए आगे बढ़कर) हे मृगाक्षि ! देखो तो कानन की शोभा ॥८९॥

पद्या—सखि ! सामने देख, श्रीकृष्ण के सुरङ्ग नामक हरिण ने रङ्गिणी नाम्नी हरिणी को अपनी सहधर्मिणी कर लिया है ॥९०॥

श्रीकृष्ण—(चकित होकर वेशगृह की ओर कान देकर मन ही मन मे) निश्चय हो राधा आ गई है, क्योंकि रङ्गिणा की कण्ठध्वनि सुनाई दे रही है ॥९१॥

पद्मा—कय एसो सुरङ्गो दक्खिणाहिमु ह धाइदो ? [कयमेप सुरङ्गो दक्खिणाभिमुख घावित] ॥६२॥

श्रीकृष्ण- (पुनरात्मगतम्) निष्टिङ्कितमेव रङ्गिणीकण्ठशब्देनाप-
माकृष्ट सुरङ्गो गीरीतीर्थं जगाम । तदस्यामेव सर्वपणतीर्थतोरवनलेखाया
विलम्बमान क्षणमुदर्कं तर्कयामि ॥६३॥

पद्मा—

जगत्पद्मिणीसहस्र, अहमहं रसुत्तरङ्गवित्यारि ।

उज्ज गोउज्ज विज्ज पुरो, सरोवर रेहई प्फारम् ॥'

[नवपद्मिनीसहस्रमधमयनरसोत्तरङ्गविस्तारि ।

पश्य गोकुलमिव पुर सरोवर राजने स्फारम्] ॥६४॥१३॥

श्रीकृष्ण—प्रिये पश्य पश्य ।

मित्र विचित्रमनुरागमर वहन्ती

सर्वाधितातिनिकरा स्वरसौदयेन ।

पद्मा—यइ सुरङ्ग नामक कुरङ्ग दक्षिण की ओर कयो भाग रहा
है ? ॥६२॥

श्रीकृष्ण (पुन अपने मन मे) निश्चय ही रङ्गिणी की कण्ठध्वनि मे
आकर्षित होकर यह सुरङ्ग गीरीतीर्थ पर चला गया है । इसलिए इस सङ्क-
पण तीर्थ की वनभूमि मे थोड़ी देर ठहर कर देखता हूँ कि आगे क्या
होता है ? ॥६३॥

पद्मा—देखो, पाप विमोचनी जन तरङ्गो का विस्तार करने वाली
नवीन सहस्र सहस्र पद्मिनियो से युक्त गोकुल की भाँति सामने विशाल सरो-
वर शोभित हो रहा है ॥६४॥

श्रीकृष्ण—हे प्रिय ! देखा देखो—

यह सरोजनी अपनेमित्र सूर्य मे विचित्र अनुराग करती हुई अपने मय-
रन्द का विस्तार कर रही है और मधुकरा को सम्मोहित करती हुई उत्कृष्ट

सर्त्तर्णकोज्ज्वलरुचिर्भुवने समन्तात्-

सदमो तनोति भवतीव सररेजिनीयम् ॥६५॥१४॥

शैव्या—एवं मनोहरं पद्मिणीं कीस कलाणिहि मलारुं करेदि ? ॥

[एना मनोहरा पद्मिनी कस्मात्कलानिधिम्लाना करोति ?] ॥६६॥

पद्मा—(चन्द्रमपदिश्य साकूतम्)

सूराणुरक्तहिमया इवं पद्मिणी पसारिदामोआ ।

इह य तुमं क्षणरागो ताराहीस विखवेहि करम् ॥

[सूर्यानुरक्तहृदयेय पद्मिनी प्रसारितामोदा ।

इह न त्व क्षणरागस्ताराघोश क्षिप करम्] ॥६७॥१५॥

कर्णिका से उज्ज्वल शोभाशालिनी होकर सर्वतो भाव से तुम्हारी तरह जल में शोभा विस्तार कर रही है ।

(पक्षान्तर में)—यह पद्मिनी रमणी मुझमें विचित्र अनुराग करती हुई-शृ गार रस का विस्तार कर रही है और सखी समूह को सम्बोधित करती हुई—सुन्दर कर्णालकारो से उज्ज्वल शोभाशालिनी होकर सर्वतोभाव से तुम्हारी तरह लोक में शोभा विस्तार कर रही है ॥६५॥

शैव्या—इस मनोहारिणी पद्मिनी को कलानिधि (कृष्ण-चन्द्र) क्यों मलिन कर रहा है (अर्थात् श्रीराधा को प्रिय मानकर इसको उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ?) ॥६६॥

पद्मा—(चन्द्र को उद्देश्य कर अमिलापा जनाते हुए) हे ताराघोश (चन्द्र) ! यह पद्मिनी सूर्य के प्रति अनुरक्त हृदय होकर सुगन्धि विस्तार कर रही है । इसलिये क्षणमात्र की खाली युक्त अपनी किरणें तुम इस पर निक्षेप न करो ।

(पक्षान्तर—यह पद्मिनी सूर्य अर्थात् गोवर्धन मल्ल के प्रति अनुराग युक्त हृदय होकर आनन्द विस्तार कर रही है (ता राघोश) इसलिये हे राधापति ! इस चन्द्रावली को तुम हाथ मत लगाओ क्योंकि तुम तो कुछ क्षण के लिये इससे अनुराग करने वाले हो) ॥६७॥

श्रीकृष्ण—पद्मे ! नात्र तारापतिरपराध्यति । यदिपि पद्मिनी चञ्च-
लया पद्मया सायं मुच्यमाना म्जायति ॥६८॥

चन्द्रावली—(सस्मित पुरो विलोक्य संस्कृतेन)

समदमधुपल्लोत्प्लोत्सेकमालोचय शङ्खे,

विहसति लतिकाली पुष्पशोभाभरेण ।

विसृजति मकरन्दच्छयना घाण्णबिन्दू-

नियमतिमृदुरेका स्नेहतः स्वर्णयूयी ॥६९॥१६॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) प्रिये, पश्य पश्य ।

अयमुच्चशिखाः कदम्बरारजः स्फुटविन्दिन्दिर्वृन्दवन्दिगीतः ।

सुरभीकुलपुच्छचामरालोमरुवावीजितविप्रहृष्टकास्ति ॥१००॥१७॥

चन्द्रावली—अम्महे, ललिता वृन्दावणलक्ष्मी । [अहो ! ललिता
वृन्दावनलक्ष्मीः । ॥१०१॥

श्रीकृष्ण—पद्मे ! इस तारापति (कृष्णचन्द्र) का अपराध नहीं है ।
क्योंकि यह पद्मिनी सायंकाल चञ्चल शोभा को स्थांगकर भलिन हो जाती है ।

(पक्षान्तर—हे पद्मे, इसमें राधापति—मेरा कुछ अपराध नहीं है ।
क्योंकि पद्मिनी (चन्द्रावली) चञ्चला पद्मा के साथ सायंकाल को छोड़कर—
अर्थात् भागकर चली जाती है । अभिसार नहीं करती है) ॥६८॥

चन्द्रावली—(मुसकराते हुए सामने देखकर) मैं समझती हूँ मधुमत्स
मधुकर (श्रीकृष्ण) की अतिशय चञ्चलता को देखकर ये लशायें (सखीवृन्द)
पुष्पोंके बहाने हँस रही हैं। किन्तु अति मृदुल यह एक स्वर्णमुखी (चन्द्रावली)
स्नेहवश मकरन्द के बहाने नेत्रों से आँसु बहा रही है अर्थात् अन्यान्य
गोपियों से मेरा श्रीकृष्ण में अत्यधिक स्नेह है ॥६९॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) प्रिय ! देखो, देखो—यह अति चञ्चल सिर
वाला कदम्बरारज स्पष्टरूप से मधुकर रूप बन्दीजनो द्वारा स्तुत्य होने से
सथा गीतों के पुञ्जरूप चामरों की पवन से पराजित या वशीभूत हुआ
दीप्तता है । अर्थात् मैं स्पष्ट रूप से तुम्हारे वशीभूत हो रहा हूँ ॥१००॥

चन्द्रावली—आहा ! श्री वृन्दावन की कैंसी सनिता—मनोहारिणी
शोभा है ॥१०१॥

(ततः प्रविशति ललिता वृन्दा च)

ललिता—(पुरो दृष्ट्वा सन्ध्यम्) हला ! कवखड पुरखो सकड एदम् ।
[हला कवखट पुरतः सकटमेतत् ।] ॥१०२॥

वृन्दा—हन्त दुर्लङ्घ्यशासना किल कराला । तत्कयमद्य पद्मयात्र
चन्द्रावलिरुपनीता ? ॥१०३॥

ललिता—हला ! सखलविज्जाविअङ्गासि । तां कट्टेहि इदो ऋणम् ।
[हला ! सकलविद्या विदग्धासि । तत्कपय इतः कृष्णम्] ॥१०४॥

वृन्दा—स्वस्य प्रेममणीना, गौरवभाजामिय वरा पात्री ।

हरिणा परिहरणीया कय नु चन्द्रावली नविता ? ॥१०५॥१८॥

ललिता—(संस्कृतेन)

यस्मोपपन्नं गन्धं, गोवधकुलमाशु चौरवद्वयति ।

उद्भटमनुरागभट, तं रञ्जितनागरं नोमि ॥१०६॥१९॥

[उसी समय ललिता और वृन्दा प्रवेश करती हैं]

ललिता—(सामने देखकर दुःख पूर्वक) सखि ! सामने बड़ा भारी
सकट विद्यमान है ॥१०२॥

वृन्दा—हाय ! कराला का शासन ही भारी जबरदस्त है । फिर भी
आज चन्द्रावली पद्मा के साथ यहाँ कैसे ? ॥१०३॥

ललिता—सखि ! तुम तो समस्त विद्याशा मे चतुर हो । श्रीकृष्ण
को इस ओर आकर्षित करो ॥१०४॥

वृन्दा—चन्द्रावली श्रीकृष्ण के गौरवास्पद प्रेम-मणि की ओर पार्श्व
है । फिर श्रीकृष्ण इसे कैसे परित्याग कर सकते हैं ? ॥१०५॥१८॥

ललिता—श्रीराधा, क मधुर स्नेहभय अनुराग योद्धा की गन्ध मास से
गुरुजना का पय या मर्यादा चोर की तरह झट भाग जाती है और जिस
अनुराग योद्धा ने श्रीकृष्ण को शोभित कर रखा है । उस (अनुराग योद्धा)
को मैं नमस्कार करती हूँ ॥१०६॥१९॥

वृन्दा—सखि ! युक्तं ब्रवीषि । किन्तु दाक्षिण्यमुद्रेषं चन्द्रावल्यां कृष्णस्य, ततः खल्वमुं दूराकर्षं कथयामि ॥१०७॥

ललिता—वृन्दे ! सञ्च भणसि । ता इमस्मि अज्ञाहिदे किं सरणम् ?
[वृन्दे ! सत्यं भणसि । तदस्मिन्नत्याहिदे किं शरणम्] ॥१०८॥

वृन्दा—प्रयमं गोष्ठीमाविश्य सत्त्वमवधारयाव. ॥१०९॥

(इत्युभे परिक्रामत.)

शैब्या—(विलोक्य जनान्तिकम्) हला पडमे ! हस्त पूर्णं गौरीतिस्थे राहो सगदा । पेक्ख, तद्दिशादो ललिदा मिलवि । [हला पडमे ! हस्त तून गौरीतीर्थे राधा सगता । पड्य, तद्दिशातो ललिता मिलति] ॥११०॥

पद्मा—का णो हाणी, ज हरिणा दुप्परिहरा पियसहो ? [का नो हानियंद् हरिणा दुप्परिहरा प्रियसखी] ॥१११॥

वृन्दा—सखि ! तू ठीक कहती है । किन्तु श्रीराधा की इस प्रकार चन्द्रावली के प्रति आसक्ति को मैं निश्चय उसी का दुराकर्ष ही कहती हूँ । उसने इन्हें जबरदस्ती खींच रखा है ॥१०७॥

ललिता—वृन्दे ! तू सच कहती है । परन्तु अब इस अमंगल से बचने का क्या उपाय है ॥१०८॥

वृन्दा—पहले आओ, गोष्ठी में चलकर तत्व-तथ्य का निश्चय करेंगी ॥१०९॥

[यह कहकर दोनों लौट जाती हैं]

शैब्या—(देखकर कान में धीरे धीरे) सखि पडमे ! हाय निश्चय ही गौरीतीर्थ पर राधा आ चुकी है । यह देख ललिता उसी ओर जा रही है ॥

पद्मा—हमारी इसमें क्या हानि है ? कृष्ण के लिये हमारी प्रिय सखी चन्द्रावली को स्वागता मुश्किल है ॥१११॥

ललिता—(उपसृत्य) हला चन्द्रावलि ! वल्लहासिरोहाणहिण्यस्त
 कुरङ्गीसङ्घभुञ्जस्त कुरङ्गस्त घरे न वल्लु अम्हेहि रङ्गिणी वासणिज्जा ।
 जं इमिणा मासमन्तरे वि स कालसारकुमारी न सुमरीअदि, ता एत्थ तुमं
 सखिणीं कादुं आअदम्हि । [हला ! चन्द्रावलि ! वल्लेभास्तेहानभिज्जस्य
 कुरङ्गीसङ्घभुञ्जस्य कुरङ्गस्य गृहे न खल्वस्माभो रङ्गिणी वासनीया । मद-
 नेन मासाम्भन्तरेऽपि सा कालनारकुमारी न स्मर्यते, तदन्न एवा साक्षिणी
 कर्तुं मागतास्मि ।] ॥११२॥

(चन्द्रावली स्मरते)

श्रीकृष्णः—(स्वगतम्) हन्त, मदर्यमागता ललिता । चन्द्रावली विलोच्य
 छलमालम्बते । (प्रकाशम्) ललिते ! हृदयेऽङ्गिमविज्ञाय मुधा सुरङ्गमुपाल-
 भसे । तवेय संदेशस्त्वया तस्यामावेद्यताम् ॥११३॥

हरिणाभिलष्यमाणा, सारङ्गरमणि सदा स्वमत्रासि ।

तवमुं स्वव्रशहृदय, हृदयंगमलोचने विद्धि ॥११४॥२०॥

पद्या—(जनान्तिकम्) कण्ह ! क्षपणो पिधजसं लब्धोसि । सा नुत्तं

ललिता—(निकट जाकर) हे चन्द्रावली ! प्रियतमा के स्नेह को न
 जानने वाले, कुरङ्गी-सङ्घ कामुक कुरङ्ग के घर में हम रङ्गिणी कुरङ्गी
 को नहीं बसने दगी । क्योंकि वह एक मास में भी कृष्णसार कुमारी की
 याद नहीं करता है । इसलिए तुमको साक्षी करने के लिए मैं यहाँ आई हूँ ॥

[चन्द्रावली हँसने लगती है]

श्रीकृष्ण—(अपने मन में) हाय ! ललिता तो मेरे लिए ही यहाँ आई
 थी, किन्तु चन्द्रावली को देखकर बात को घुमा गई है । (स्पष्ट कहते हैं—)
 है ललिते ! हृदय के भाव को न जानकर तू वृथा सुरङ्ग का तिरस्कार कर
 रही है । इसलिए तुम इस समय उसको इस प्रकार कहना—॥११३॥

हे सारङ्गरमणि ! हरिण तो सदा तुम्हारी अभिलाषा किया करता
 है । इसलिये हे शोभनलोचने ! इस हरिण को तुम अपने वशीभूत-हृदय
 हुआ जानना ॥११४॥

पद्या—(हाय की ओट में) कृष्ण ! तुम्हें अब अपने प्यारे जन मिल

अजोगाणं अम्हाणं विसज्जनम् । [कृष्ण ! आत्मनः प्रियजनं लब्धोऽसि, तद्युक्तमयोग्यानामस्माकं विसर्जनम् ।

श्रीकृष्ण—

करवाणि हस्त दिव्यं, दिव्याङ्गि मदोल्लतासु गेपोषु ।

अनुरागिता सखि बंधे राधागन्धिषु न वामासु ॥१६॥११॥

पद्या—(सदपंस्मितम्) सहि ललिते ! अक्षारिअं अक्षारिअं । तुमं षड् अनुराहा भणित्तसि । ता कोस अज्ज राहाए उअअ विणा उइदासि ? [सखि ललिते ! आश्चर्यमाश्चर्यम् । त्वं खख्वनुराधा भण्यसे । तत्कस्मादद्य राधाया उदयं विनोदितसि ? ॥११॥]

ललिता—(संस्कृतेन)

रोमन्धीनिकुरम्बं, चुम्बति गण्डं पिपासया यस्य ।

सरति तुपातः सरती, स करोन्द्रस्तं पुनर्न हि सा ॥११८॥१२॥

गए है । इसलिए हम आयाग्य-पात्रों को त्याग देना ही तुम्हारे लिए उचित है ॥११५॥

श्रीकृष्ण—आहा कैसा आश्चर्य ! दिव्याङ्गि सखि ! मैं तुम्हारी प्रीति की शपथ स्वीकार कहता हूँ, परमाकर्षक मधुर स्नेहवती श्रीराधा-सौरभ के प्रतिकूल चलने वाली समस्त गोपियों के प्रति मैं कभी भी प्रेम नहीं करता हूँ ॥११६॥

पद्या—(गर्व पूर्वक मुसकराते हुए) सखि ललिते ! आश्चर्य है ! अति आश्चर्य है !! तुम्हें तो सदा अनुराधा (राधा के पीछे चलने वाली) कहा जाता है, फिर आज तुम कैसे श्रीराधा के बिना यहा उपस्थित हुई हो ॥

ललिता—देखो समस्त भ्रमरीवृन्द (मकरन्द पान की) पिपासा से आतुर होकर हाथों के कपोलों का जाकर बार-बार चुम्बन करती हैं । (और वह हाथी उद्वेगपूर्वक अपने कानों से उमकी ताड़ना करता रहता है) परन्तु जब हाथी प्यासा होता है तो वह स्थल सरोवर पर भाग-भाग कर जाता है (एवं वहा मुख प्राप्त करता है) सरोवर कभी हाथी के पास नहीं जाता ॥

पद्मा—एकं धीमदि सेव्ये, प्रहेलिकं मे सहि जाणेहि ।

चित्तफलजम्बि लिहिदा, का रेहई माहवस्सदा ?

[एकां धीमति शैव्ये प्रहेलिकां मे सखि जानीहि ।

चित्तफलके लिखिता का राजते माधवस्य सदा] ॥११६॥१३॥

शैव्या—सहि चन्दावली [सखि चन्द्रावली] ॥१२०॥

वृन्दा—(सस्मितम्) साधु विज्ञातम् । चन्द्रमण्डलावलिमण्डनेन चित्रं
ललु रमापतेः फलकं शतचन्द्रमावक्षते ॥१२१॥

श्रीकृष्णः—(स्वगनम्) अवदातंशीलेषम् ॥१२२॥

(चन्द्रावली सलज्जमपसव्ये प्रयाति)

(अर्थात्, तुम कामातुर होकर पुनः पुनः निरादृत होकर भी श्री-
कृष्ण के पास भाग-भागकर जाती हो जिससे श्रीकृष्ण को कुछ प्राप्त नहीं
होता बल्कि उद्वेग ही होता है । परन्तु श्रीकृष्ण जब तृपातुर होते हैं तो
वे स्वयं ही हमारी प्रिय सखी श्रीराधा के पास गमन करते हैं । जिससे
श्रीकृष्ण का सर्वसुख सम्पादित होता है । अतः श्रीराधा के यहाँ आने का
कोई प्रश्न ही नहीं उठता) ॥११६॥१२२

पद्मा—हे बुद्धिमते शैव्ये ! मेरी एक प्रहेलिका है, उसका अर्थ तो
यथा । श्रीकृष्ण के हाथ में चित्तफलक पर लिखा हुआ कौन सदा विराज-
मान रहता है ॥११६॥१२३

शैव्या—सखि ! चन्द्रावली ॥१२०॥

वृन्दा—(मुसकरा कर) ठीक बूझा है तूने । जिस चन्द्रमण्डल—
चन्द्रावली द्वारा लक्ष्मीपति का चित्त-फलक बना हुआ है उसे शतचन्द्र
अर्थात् दान करते हैं ॥१२१॥

श्रीकृष्ण—(अपने मन में) विनुद स्वभावा है यह ॥१२२॥

[चन्द्रावली मग्नित होकर दार्द्री ओर चली जाती है]

ललिता—मह वाहरेहि वृन्दे, पहेलिकं दिव्यपहेलिविष्णारो ।

पियसहि किमिहिवलाए, लखिबज्जइ माहवो भुअरो ? ॥

[मम व्याहर वृन्दे प्रहेलिकां दिव्यप्रहेलिविज्ञाने ।

प्रियसद्धि किमभिरुच्यया लक्ष्यते माधवो भुवने ?] ॥१२३॥१२४॥

वृन्दा—सखि ! राधाभिरुच्यया ॥१२४॥

श्रीकृष्णः—मुक्तनिदं यदंशाखपर्याप्तौ माधवराधौ ॥१२५॥

पद्मा—सेव्ये ! अलं पहेलिआवसङ्गेण । सुहावेहि कमलवल्गुणरसेहि
अत्ताणअम् । [शैव्ये ! अल प्रहेलिकाप्रसङ्गेण । सुखय कमलेशणरसरंतामा-
नम्] ॥१२६॥

शैव्या—(कमलाकर बिलोक्य)

भमरस्स ताव पमदं, पवोसमुदिता कुमुदी कुणइ ।

जाव इअ पठमात्ती, विन्दई ण ह्म विट्ठिमेदस्स ॥

ललिता—हे प्रहेलिकाओ को वृन्दने मे अति श्रेष्ठ वृन्दे ! वना
किसके नाम से माधव (श्रीकृष्ण) सुशोभित होते हैं ॥१२३॥

वृन्दा—सखि राधा नाम से । (राधया माधवो देवो.....वेद ॥)

श्रीकृष्ण—ठीक कहा है, क्योंकि वैशाख मास के पर्याप्त भी माधव
एव "राध" हैं । (वैशाख के दूसरे नाम हैं माधव एव राध) ॥१२५॥

पद्मा—शैव्ये ! अब प्रहेलिका का प्रसंग बन्द करो । अब तो कमल-
ेशण—कमलो का दर्शनरस आस्वादन करो । (अथवा कमलेशण—श्री
कृष्ण का दर्शन करो) ॥१२६॥

शैव्या—(कमलो को देखकर) भ्रमरो को उसी समय रुद्र विर-
सित कुमुदिनी प्रदोषकाल मे आनन्द प्रदान करती है, जब तक उनको
दृष्टि कमल-श्रेणी पर नहीं जाती ॥

(स्नेहार्पण मे—भ्रमर-वामुक श्रीकृष्ण को रात्रि के वाम मे मुदिता
अर्थात् प्रवृष्ट दीपयुक्ता कुमुदती—बुलिन आनन्दशोला अर्थात् राधा तव

[अमरस्य तावत्प्रमद प्रदोषमुदिता कुमुद्वती कुशते ।
मावदिय पद्माली विन्दति न हि दृष्टिमेतस्य ॥१२७॥१२५॥

पद्मा—हला^१ ! सखि^२ भणसि । तथा हि ।

विज्जोवन्ति राहा पेक्खिद्वइ ताव तारआलीहिम् ।
गअसो तमालस्यामे, ॥ जाव चन्दावली प्फुरइ ॥

[हला ! सत्य भणसि । तथा हि ।

विद्योतमाना राधा प्रेक्ष्यते तावत्तारकालीभि ।

गगने तमालस्यामे न यावच्चन्द्रावलि स्फुरति ॥] ॥१२८॥१२६॥

ललिता—(बिहस्य सस्कृतेन)

सहचरि वृषभानुजया प्रावुभवि वरस्त्रिपोपगते ।

चन्द्रायलीशता-पयि, भवन्ति निर्धूतकान्तीनि ॥१२९॥१२७॥

श्रीकृष्ण—(स्मित्वा) किं वाचावतया ? सखिकृष्टस्य सुरमे सौर-
भ्यमनुष्मयताम् ॥१३०॥

तक आनन्द देती है, तब तक उस श्रीकृष्ण को दृष्टि पद्माली—जिस की पद्मा सखी है अर्थात् चन्द्रावली पर नहीं पड़ती) ॥१२७॥

पद्मा—सखि ! तुने सच कहा है, देख—तमाल की भांति श्याम वर्ण आकाश में तारावली के साथ राधा नक्षत्र (वैशाखा) सभी तक प्रकाशित होता है, जब तक चन्द्रावली प्रकाशित नहीं होती ।

(श्लेषार्थ—तारावली अर्थात् विशाखादि सखियों के साथ श्रीराधा तब तक शोभित होती है जब तक चन्द्रावली नहीं आती ॥१२८॥१२६॥

ललिता—(हँसकर) हे सहचरि । वृषभानुजा अर्थात् वृषराशि स्थित सूर्य जनिन उत्कृष्ट वान्ति (श्रीराधा कान्ति) से सो-सो तारागणों (चन्द्रावली) को शोभा कान्ति मलिन हो जाती है ॥१२९॥

श्रीकृष्ण—(भुसकराकर) अधिक वाचालता का क्या प्रयोजन है ? यहाँ उपस्थित वसुधैव कुटुम्बकम् का सौरभ का अनुभव करो ॥१३०॥

धृन्दा—(सस्मितम्)

उल्लसति फुल्लगात्री, का बली नात्र माधवेऽभ्युदिते ?

तन्नामताः प्रसिद्धां, तथापि तां माधवीं नोमि ॥१३१॥२८॥

श्रीकृष्णः—(सवैमनस्यं परिक्रम्योच्चैः) हला चन्दासति ! धुत्तगोही-
रङ्गे संगमित्र विध्वंशजननीपूजये कोस सिद्धिनासि ? [हला चन्द्रावली !
धूर्तगोष्ठीरङ्गे सगम्य विध्वंशजननीपूजने कस्मान्निधिलासि ?] ॥१३२॥

श्रीकृष्णः—(सोपालम्भम्)

चन्द्रावलीं मामनुरुध्यमानां हृणाद्वि पश्ये भवती वलेन ।

मल्लीं तमालामिमुखं मिलन्तीं, हिंस्रेव बली पुरतः कराला ॥

(प्रविश्य)

कराला—चिद्वृथ रे, चिद्वृथ, दिद्विआ मग्ने रुचेभ लद्धास्य । [तिष्ठत,
रे तिष्ठत । दिष्ट्या मार्गं एव लब्धा. स्व ॥१३४॥

धृन्दा - (मुसकान पूर्वक) (मा वसन्त व श्रीकृष्ण) के उप-
स्थित होने पर कोनसो लता (रमणी) है जिसके अग प्रफुल्लित नहीं हो
उठते हैं ? अर्थात् सभी प्रफुल्लित हो उठनी हैं । तथापि माधव के नाम से
प्रसिद्ध माधवी लता (श्रीरघा) को मैं प्रणाम करती हूँ ॥१३१॥२८॥

पद्मा—(लज्जा सहित घूमकर ऊँची आवाज में) सखि चन्द्रावलि !
धूर्त-गोष्ठी के सग में पडकर गणेश-जननि (श्रीगोरी) के पूजन में क्यों
शियिब हो रही हो ? ॥१३२॥

श्रीकृष्ण—(तिरस्कार सहित) पश्ये ! जैसे तमाल वृक्ष (मृद
कृष्ण) को मिलाने के लिये उसको ओर जाने वाली मल्ली-लता को कराला
हिंस्रलता (कडोर लता) रोक लेती है, उसी प्रकार तू मेरे मे अनुरक्त
चन्द्रावलि का वलपूर्वक रोक रही है ॥१३३॥

[कराला प्रवेश करती है]

कराला—ठहर जा रे, ठहर जा, सीमाग्य से आज तू रास्ते में ही
मिल गया है ॥१३४॥

(सर्वाः परावृत्य संभ्रमं नाटयन्ति)

शैब्या—(अपवायं) पचमे ! हद्दी हद्दी । कधं एत्थ अम्हे विवणादा बुद्धिआए ? [पचो ! हा धिक् हा धिक् । कयमत्र वयं विज्ञाता वृद्धया] ॥

कराला—अम्मो सच्चं ज्ञेअ जप्पिदं ताए जवणीअलम्पडाए बुद्ध-
मक्कडीए । [अम्मो ! सत्यमेव जल्पितं तथा नवनीत लम्पटया वृद्धमकंटका] ॥

(पद्या सखेदं शैब्यामुखमीक्षते)

ललिता—(स्वगतम्) युद्धसक्कडि कक्खडिए ! सक्करामक्खिदं मक्खणं
हे दाइस्सम् । [वृद्धमकंटि कक्खटिके ! शर्कराम्नक्षितं नवनीतं ते दास्यामि]

श्रीकृष्णः—(अपवायं) प्रिये तिरोधानाय स्यान्ममपि न ते पश्यामि ।

यतः ,

सख्ये गिरिः स्फुरति दुर्गमवुङ्गशृङ्गो,

गाः पालयत्यहह दक्षिणतस्तथायः ।

[सब घूमकर हड़बड़ी प्रकाशित करती हैं]

शैब्या—(हाथ की ओट करके) पचो ! हाथ धिक्कार है धिक्कार !
इस वृद्ध को कैसे पता लग गया कि हम यहां हैं ? ॥१३५॥

कराला—ओ मां ! उस माखन चोरनी वृद्ध बानरी ने सत्य हो
कहा था ॥१३६॥

[पद्या खेदपूर्वक शैब्या के मुँह की ओर देखती है]

ललिता—(अपने मन में) हे वृद्धा बानरी कक्खटिके ! तुमको मिथी
मिला माखन दूंगी ॥१३७॥

श्रीकृष्ण—(हाथ की ओट में) हे प्रिये ! तुम्हें छिपाने की भी तो
कोई जगह नहीं देख पा रहा हूँ—

बायी ओर अत्युच्च चोटियों वाला गोवर्धन पर्वत है, दक्षिण में बड़े
भाई श्रीवलदेव गौ-चारण कर रहे हैं, पीछे की ओर कोई आवरण नहीं है

कूः पृष्ठतो विरहिता वृत्तिभिः पुरस्तात्-

कूरा विवेच जरती कतमात्र युक्ति ? ॥१३८॥३०॥

चन्द्रावली—(स्वगतम्) हन्त-हन्त । अकण्डे कवकसाए भविवद्वदा चण्डालोए चण्डिमा । [हन्त हन्त, अकण्डे कर्कशाया भवितव्यता चण्डाल्याश्चण्डिमा] ॥१३९॥

कराला—(सरम्भमभिनीय) पेच्छघ भो पेच्छघ, इमस्स कुसुम्भतैल-कङ्कलजालकालस्स कासभुमङ्गलभंकरलोअणञ्चलस्स चञ्चलस्स भुमङ्गलणम्, अं वारहमंगं गमितो इमिणा सज्जताएण गोउलङ्गलङ्गणार्ण मङ्गलो कुलधम्मो- (इति सशिरः कम्पं दृष्टो विस्फार्य) अरे सामनआ ! कस्स एसा जाआ त्ति जाणसि ? सुणाहि रे, णोसङ्कु सुणाहि, जो बल्लु भोइन्दस्स दुविओ अप्पा तस्स महामल्लस्स । [प्रेक्षध्व भो प्रेक्षध्व, अस्य कुसुम्भतैलकङ्कलजालकालस्य कालमुजङ्गलभयकरलोचनाञ्चलस्य चञ्चलस्य भुजङ्गलत्वम्, यद्वादादर्श-मार्गं गमितोऽनेन सकलानां गोकुलकुलाङ्गनानां मङ्गल कुलधर्मः । अरे श्यामल ! कस्यैषा जायेति जानासि ? शृणु रे, नि.शङ्कु शृणु, य. खलु भोजे-न्द्रस्य द्वितीयात्मा तस्य महामल्लस्य ।] ॥१४०॥

श्रीकृष्ण.—करालिके ! तत् किम् ? ॥१४१॥

और सामने कूर स्वभावा वृद्धा कराला आ रही है । यहा क्या युक्ति हो सकती है ? ॥१३८॥३०॥

चन्द्रावली—(अपने मन में) हाय ! हाय !! सम्पूर्ण कठोर स्वभावा चण्डालिन की कैसी प्रचण्ड भवितव्यता चण्डिमा है ॥१३९॥

कराला—(क्रोध प्रकट करते हुए) देखो रे लोगो देखो, कौसुम्भ-तैल को जलाकर बनी काजल राशि की तरह काले सर्पवत् भयकर नेत्रों वाले इस चञ्चल कृष्ण के कामुकत्व को, जिसने समस्त गोकुल की कुलाङ्गनाओं के समस्त मङ्गल-कुलधर्म को वारहो द्वार बाहर निकाल फेंका है । इतना कहते हुए तिर को कम्पाती हुई एवं नेत्रों को फाटती हुई अरे श्यामा ! जानता है तू यह किसकी नारी है ? सुन रे सुन जरा निश्चक डोकर । राजा कस की द्वितीयात्मा महा मल्ल गोवर्धन की पत्नि है यह ॥१४०॥

श्रीकृष्ण—हे करालिके ! उससे क्या होगा ॥१४१॥

कराला—(सक्रोधम्) सच्चं सच्चं तुमं वणमज्जे अप्पाणं दुदिअं राआणं जाणसि । सो ज्जेअं राअउलगांमी गोठ्ठणाहो तप्पणो ललाटं ताडि-
स्सादि । [संत्यं सत्यम् त्वं वनमध्ये आत्मानं द्वितीयं राजानं जानासि । स
एव राजकुलगामी गोष्ठनाथ आत्मनो ललाटं ताडयिष्यति-] ॥१४२॥

श्रीकृष्णः—कराले ! तुभ्यं शपे । चन्द्रावलीं विलोक्य साध्वसं गतो-
ऽहमुद्वेगमासादयामि ॥१४३॥

कराला—(चन्द्रावली विलोक्य सामपंम्) हा निकुञ्जज्जागरिणी !
आक्रीमारसि विखवकण्हिसारकोसले ! संरम्भुण्णदग्गे विआसहस्सुच्छिटाहर-
विम्बतिण्णामेत्तविद्धं सिवकुलव्वे ! छिट्टं छिट्टं । किं दाणिं भाएसि ? [हा निकु-
ञ्जज्जागरिणि ! आक्रीमार-शिक्षित-कृष्णाभिसार-कोशले ! संरम्भोन्नद-
गोरिकासहस्रोच्छिष्टाघर-विम्बतृष्णामात्रविध्वंसितकुलव्रते ! तिष्ठ-तिष्ठ ।
किमदानि विभेपि ?] ॥१४४॥

कराला—(क्रोधपूर्वक) ठीक है, ठीक है, तू अपने को इस वन में
दूसरा राजा समझता है । वह राज-कुलगामी गोष्ठनाथ नन्दराज ही अपना
माथा पीटेंगे ॥ (अर्थात् राजा कंस को सभा में जब यह तुम्हारी करतूत
कही जावेगी और कंस के-कर्मचारी तुम्हें-पकड़ने आवेंगे, तो-राजदण्ड के
भय से तू तो वन में छिप जायेगा परन्तु तुम्हारे पिता नन्दराज को पकड़-
कर ले जाया जायगा । वहां नन्दराज —“हाय ! ऐसा पुत्र क्यों पैदा हुआ,
कहकर माथा पीटेंगे) ॥१४२॥

श्रीकृष्ण—हे कराले ! मैं चन्द्रावली को देखकर शयभीत हो रहा हूँ
एवं बड़ा दुखी हो रहा हूँ ॥१४३॥

कराला—(चन्द्रावली को देखकर क्रोधपूर्वक) हा निकुञ्जों की
उज्जागरिणि ! क्रीमारवयस से ही शिक्षित कृष्णाभिसार-कोशले ! क्रोध-
पूरित सहस्र सहस्र गोपियों ने जिस कृष्ण के अघर विम्ब को फूँटा किया
है केवल उसी की तृष्णा में ही अपने कुलव्रत को नाश करने वाली !
ठहर जा तू, ठहर, अब डर क्यों रही है ? ॥१४४॥

ललिता—अज्जे ! को बलु दोसो जीअणणाहाणुगदाए पच्चिमदिताए, को वा दोसावहारिणो सूरस्स ? किंतु एदाए (आरूढराआण दोण राअ जेप्पादिअ संगमकारिणीए सत्ताकुट्टिणीए) स्येअ पदोसाणुवन्विता । [आर्ये ! क खलु दोपो जीवननाथानुगताया पच्चिमदिअ । को वा दोपावहारिणं सूर्यस्य ? कित्वेतयोरारूढ रागयोद्धंयो रागमुत्पाद्य सगमकारिण्या, सध्या-कुट्टिम्या एव प्रदोषानुबन्विता] ॥१४५॥

कराला—जावे ! मच्चुं कघेसि (इति प्रोढमाटोप नाटयन्ती) हज्जे पठमिए ! परघरविघट्टिणि ! कुट्टिणीकम्मलम्पडे धिट्ठ ! मण्डलवक्रवर्त्तिनि ! मह हत्थादो कह मुक्किस्ससि ? [जाने ! सत्य कययसि हज्जे पधिके ! परगृह-विघट्टिनि, कुट्टिनीकम्मलम्पटे ! घृष्टामण्डलवक्रवर्त्तिनि ! मम हस्तात् कय मोक्षयसि ?] (इति यष्टिमुद्यच्छते) ॥१४६॥

पद्मा—(परावृत्य) अज्जे ! ज जाणे कीस खिज्जसि । ज अग्गेहि तुज्ज सासण स्येअ किज्जन्त अस्सि । आर्ये ! न जाने कस्मात्खिद्यसे । यदस्माभिस्तव शासनमेव क्रियमाणमस्ति] ॥१४७॥

ललिता—आर्ये ! जीवननाथ (वरुण) का अनुमन करने वाली पश्चिम दिशा का क्या दोष है ? और दोषावहारी—(रात्रि को नाश करने वाले) सूर्य का ही क्या दोष है ? किन्तु परस्पर अनुरक्त इन दोनों का अनु-राग छदित कर सङ्गम कराने वाली रात्रि से पहले आने वाली कुटिला सध्या का ही दोष है । (अर्थात् इसमें न तो चन्द्रावली का दोष है न बी-कृष्ण, का दोष है इस पद्मा का जो इन दोनों को लाकर सगम कराती है) ।

कराला—पुत्रि ! तूने सत्य कहा है । (यह कहकर अतिशय क्रोध दिखाते हुए) अरी चेटकि पय्यो ! परगृह-नाशिनि ! स्त्री-कुल नाशकारिणि लम्पटे ! घृष्टमण्डल वक्रवर्त्तिनि ! तू मेरे हाथ से कैसे बचेगी ? (यह कह-कर मारने के लिये लाठी उठाती है) ॥१४६॥

पद्मा—(पीछे हटकर) आर्ये ! न जाने आप इतना दुख क्यों मान रही हैं । हम तो आपकी आज्ञा के अनुसार ही सब कर रही हैं ॥१४७॥

वृन्दा—(स्वगतम्) नून धूर्त्तया शब्दच्छलमालम्बित पद्मया ।
(प्रकाशम्) आर्ये, शलमल्लयोर्नामाह्वेतेन आन्तेय मुग्धा बाला । तदद्य
क्षम्यताम् ॥१४८॥

(कराला यष्टि विमुञ्चति)

पद्मा—(स्वगतम्) ललिते, चिट्टु चिट्टु । तुह निविकट कावु' एसा
जटिला गच्छन्ति म्हि [ललिते, तिष्ठ तिष्ठ । तव निष्कृत कर्तु' मेपा जटिला
गच्छन्तमास्मि] (इति निष्क्रान्ता) ॥१४९॥

कराला—(चन्द्रावलीमवलोक्य) एहि भो कुडुङ्गकुडुम्बिणी, एहि ।
[एहि भो कुडुम्बकदुम्बिनि, एहि] (इति चन्द्रावलीमावाय शौच्यया सह
निष्क्रान्ता) ॥१५०॥

श्रीकृष्णः—(सोच्छवासम्) वृन्दे ! नून साधितार्थासि ॥१५१॥

वृन्दा—(अपने मन मे) निश्चय ही पद्मा ने धूर्त्तता से शब्द छल का
अवलम्बन लिया है । (स्पष्ट कहती है) आर्ये ! गोवर्धन शब्द पर्वत और
तुम्हार पुत्र गोवर्द्धन मल्ल—इन दोनों अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है—अत यह
युवति भ्रम मे पड़ गई है । चन्द्रावली को गोवर्द्धन मल्ल के पास ले जाने
की वजाय यहा गोवर्द्धन के निकट ले आई है । इसलिये आज इसे क्षमा
कर दो ॥१४८॥

[कराला साठी फेंक देती है]

पद्मा—(मन मे) अरी ललिते ! ठहर जा, ठहर जा, तेरे उपहार
का बदला चुभाने के लिये मे भी जटिला के पास जा रही हूँ । (यह कहकर
चली जाती है) ॥१४९॥

कराला—(चन्द्रावली को देखकर) अरी ओ कुडुबुदुम्बिनि ! आ ।
(यह कहकर चन्द्रावली और शौच्यया के साथ चली जाती है) ॥१५०॥

श्रीकृष्ण—(आनन्द सहित) वृन्दे ! तूने निश्चय ही काम बना
दिया है ॥१५१॥

वृन्दा—माधव ! रूपिणी माधवलक्ष्मीगौरीतीर्थं खेलति । तथा घोष-
ढीकितं सर्वस्वमिदं दरोन्मुद्रितं गन्धफलीद्वन्द्वम् ॥१५२॥

श्रीकृष्णः—(सानन्दभादाय) वृन्दे यावद्गवां चारणे वयस्यानव-
धाप्य तत्रानुसरामि तावद्भवतीम्यामप्रतः प्रस्थीयताम् (इति निष्क्रान्तः) ॥

वृन्दा—(परिक्रम्य) ललिते, पुरा संभावयकदम्बसम्भ्रानम् । (इत्यु-
पेत्य) हस्त हस्त ।

राज्जे पङ्कजसंभवोऽपि भवतः सौभाग्यभङ्गीभरं

वक्तु न क्षमते कदम्बनृपते वृन्दादृष्टोद्योतिनः ।

पुष्पैर्यस्य - रमासहोदरतयाप्युद्भासुरं कौस्तुभ

दुर्लोलैरवहेतयिद्भुरभित. शौरैरवच्छाद्यते ॥१५४॥३१॥

वृन्दा—माधव ! माधव-लक्ष्मी रूपिणि (आपको सम्पत्ति स्वरूपिणी
-राधा) गौरी तीर्थं पर खेल रही है । उसने आपको अति प्यारी-ये दो अध-
बुली चम्पक कलियां उपहार मे भेजी हैं ॥१५२॥

श्रीकृष्ण—(आनन्दपूर्वक लेकर) वृन्दे ! जब तक मैं सखामो को
पोचारण में नियुक्त कर रहा आता हूं, जब तक तुम वहाँ चली जाओ ।
(यह कहकर श्रीकृष्ण चले जाते हैं ।) ॥१५३॥

वृन्दा—(लौटकर) ललिते ! देख तो सामने कदम्ब साम्राज्य को ।
(यह कहकर निकट आती है) अहा-हा !

हे श्रीवृन्दावन में उदयशील कदम्बराराज ! मैं समझती हूँ ब्रह्मा भी
तुम्हारे सौभाग्य की उत्कृष्टता को वर्णन करने मे समर्थ नहीं है । क्योंकि
श्रीकृष्ण के वक्ष स्थल पर विराजमान लक्ष्मी की सहोदरा अति ज्योतिर्मय
कौस्तुभमणि को भी तुम्हारे अति चञ्चल पुष्प समूह छसकी अवहेलना करते
हुए आच्छादित किए रहते हैं । अर्थात् सदा तुम्हारे पुष्पों की माला वक्ष-
स्थल पर धारण किये रहने से कौस्तुभ मणि भी उतनी शोभा प्रकाशित नहीं
कर पाती ॥१५४॥३१

ललिता—(पुरी विलोक्य) वृन्दे ! इय विंसाहादुदिमा भगवदी माअ-
न्दहुङ्गे पच्छन्न चिट्ठवि । [वृन्दे ! इय विंसाहाद्वितिया भगवनी माअन्दकुञ्जे
प्रच्छन्न तिष्ठति] ॥१५५॥

वृन्दा—(लवङ्गलतान्तिके राधा विलोक्य) ललिते, पश्य पश्य ।

किमिय सुपमा वपुष्मती किमभिध्यक्तिरस गुणत्रिय ?

अथवा प्रणयाभिसपव किमिय मूर्तिरुदेति राधिका ? ॥१५६॥३२॥

(पुनर्निर्वर्ण्य)

कर्णालकृतकर्मलो कुन्तलवेणीशिखावृत्तरकर्मलो ।

करकर्मलोऽथतकर्मलो बिर्हम्ब्यत्यलमलो कर्मलो ॥१५६॥३३॥

— — — (नेपथ्ये) — — —

कर्णाव्योलितमुग्धगन्धकलिकाद्वन्द्व कदम्बस्रजा

सवीतो मुरलीकरम्बितकरञ्जदाश्रले चन्द्रिका ।

ललिता—(सामने देखकर) वृन्दे ! यह देख, विंसाहा के साथ भग-
वती पौर्णमासी आजकुञ्ज में स्थिती हुई है ॥१५५॥

वृन्दा—(लवङ्गलता के निकट श्रीराधा को देखकर) ललिते ! देखो,
देखो—

क्या यह गुणलक्ष्मी की शोभा मूर्ति धारण कर प्रकाशित हो रही है,
अथवा प्रणय सम्पद की मूर्ति धारण कर यह श्रीराधा उदित हुई है ? ॥

(फिर देखकर)—आहा ! बानों में कमल विमूर्षित, वेश-वेणी के
अग्रभाग में कमल आन्दोलित, एव हाथ में कमल सुशोभित हैं, जिनसे यह
श्रीराधा कमला (लक्ष्मी) की अभिप्राय सञ्चित कर रही है ॥१५७॥३३॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

बानों में मुन्दर-चम्पक आन्दोलित, हाथ में मुरली, बेषों में चन्द्रक
चन्द्र माता से विमूर्षित, एव सप्ताट पर उज्ज्वल मनसिन् बा तिनक

द्वारादेव मनः सित्तातिलकिना भातेन विश्रद्ध्यति ।

... मूर्तः खेलति हन्त नन्दगृहिणीवात्सल्यलक्ष्मीरसः ॥१५८॥३४

ललिता—पूरा भजवदोए दूरे दिटो कण्हो, जे वण्णीअदि । [नून मंगवत्या दूरेः दृष्टेः कृष्णः, यद्वर्ण्यते] ॥१५९॥

वृन्दा—ललिते, सत्यमविदूरवर्ती मुरवैरी । तथा हि ।

सखि कुण्डलीकृतशिखण्डमण्डलो

नटतोह ताण्डविक्रूतिरण्डजः ।

न कंवापि कृष्णमुदिरक्षणे विना

मुदिरक्षणे क्षणमपि अतिरयसी ॥१६०॥३५॥

ललिता—सखि, बखिखेलेण पुणोअसण्डे पेक्खे पुण्डमण्डवेण ।

[सखि, दक्षिणेण पुणोअसण्डे पश्ये पुण्डकमण्डपे एतम्] ॥१६१॥

नवा—(विलोक्य सहस्रम्)

अहं वशीकृतमनः किल नैचिकीनां

वंशीनिनादमधुना मधुसूदनस्य ।

धारण किए, वह श्री यद्योदा की वात्सल्य-लक्ष्मी मूर्तिमान रस-विग्रह होकर फ्रीडा कर रही है ॥१५८॥३४

ललिता—वृन्दे ! भगवती जिस रूप का वर्णन कर रही है, उससे निश्चय होता है कि इसने दूर से श्रीमाधव-कृष्ण का दर्शन किया है ॥१५९॥

वृन्दा—ललिते ! यह सत्य है, वह माधव निकट ही वर्तमान है, क्योंकि—

हे सांख्यलोकने ! ताण्डविक मोर अपने पुच्छ-मण्डल को गोलाकृति में फैलाकर नृत्य कर रहा है । घन-श्याम के दर्शन बिना वह कभी भी जीवन धारण नहीं कर सकता ॥१६०॥३५॥

ललिता—सखि ! दक्षिण दिशा में माधवी सदा अण्डप में प्रसन्न वृक्ष की तो देख ॥१६१॥

वृन्दा—(दिखकर हर्षपूर्वक) जिनकी वंशी की मधुर ध्वनि के द्वारा

आभोरदोखरगति प्रतिपादयन्ती ।

५ : शोभा घमूब परमा परमस्य यष्टिः ॥१६२॥३६॥

१ : सलिता—ए वृत्तं क्षाणि पि दोषं अण्णकोणवसणम् । केअत्तं रङ्गि-
णिअं पेक्खिअ सअङ्गकुडङ्गं पविसदि कण्हो । [न वृत्तमिदानीमपि द्वयो-
रन्योग्यदशमम् । केवल रङ्गिणिकां प्रेक्ष्य लवङ्गकुञ्जं प्रविशति कृष्णः] ॥

वृन्दा—पश्य पश्य ।

विस्मरान्परितो हरिमुत्तितः परिमलानुपलभ्य कथावती ।

इयमितः सखि पुण्ड्रकमण्डपे स्मितमुखी अनुवर्तितमपावृणोत् ॥१६४॥३७

(पुनर्निरूप्य सकीर्तकम्)

१ : शक्ति गताभिरभितो भुवि पांशुलापां

सद्यः पदाद्भुततिभिः कपिताध्वनोऽप्यम् ।

पश्चादुपेत्य नयने किल राधिकायाः

कम्प्रेण पाणिपुगलेन हरिर्वंधार ॥१६५॥३८॥

समस्त गोएं वशोभूत हो जाती हैं, उन्ही सर्वोत्तम श्रीकृष्ण की परमशोभा-
शालिनी-लाठी उनकी गोपचूड़ामणियों की चाल प्रदर्शित कर रही है ॥

१ : सलिता—अभी उन्होंने एक दूसरे को साक्षात् देखा नहीं है,
केवल रङ्गिणी-हरिणी को देखकर ही श्रीकृष्ण ने लवङ्ग-कुञ्ज में गमन
किया है ॥१६३॥

१ : वृन्दा—देखो, देखो, सखि—

श्रीकृष्ण अङ्ग से चारों ओर प्रसारित होने वाली जो सौरभ
निकल रही है, कथावती श्रीराधा ने उसे प्राप्त कर लिया है, और उसने
मुरकुराते हुए लवङ्ग-कुञ्ज से माधवी-कुञ्ज में जाकर अपनी शरीर रूपी लता
को छिपा लिया है ॥१६४॥३७

(फिर देखकर कीर्तकपूर्वक) सखि, देखा घूँतिमुक्त वन-भूमि पर श्री
राधा के जाने में उनके पदचिह्न बन गए थे, श्रीकृष्ण ने श्रीराधा को जाते
हुए नहीं देखा परन्तु उन्ही पदचिह्नों ने ही श्रीराधा के जाने का रास्ता
बता दिया। श्रीकृष्ण ने उसी रास्ते से जाकर श्रीराधा के दोनों नेत्र बन्द कर
दिये परन्तु उस समय उनके दोनों हाथ कांपने लगे ॥१६५॥३८

ललिता—हन्त हन्त, एसा पुलकित-अङ्गी वामा लीलाकमलेन ताडयति कमलवक्षणम् । [हन्त हन्त, एसा पुलकिताङ्गी वामा लीलाकमलेन ताडयति कमलेक्षणम्] ॥१६६॥

वृन्दा—पश्य पश्य ।

धूनेवः स्मितसंवृतो नहि नहीत्युक्तिमंदेनाकुला
विधाःस्तोदति पाणिरोधरचन शुष्कं तथा क्रन्दनम् ।

सूटो यः सखि राधया मुहुरयं संगोपनोपक्रमो
भावस्तेन हृदि स्थितो मुरमिदि व्यक्त समन्तादसूनु ॥१६७॥३६

ललिता—(सस्कृतेन)

प्रातिकूल्यमिव यद्विवृण्वती राधिका रदनलापेणोद्गुरा ।

केलिकर्मणि गता प्रगल्भतां तेन वुष्टिमतुलां हरिर्ययौ ॥१६८॥४०॥

ललिता—हाय ! वह पुलकित-अङ्गी श्रीराधा वाम्य भाव में आकर लीला कमल द्वारा कमल-लोचन (श्रीकृष्ण) को ताडना कर रही है ॥१६६॥

वृन्दा—देखो, देखो—सखि ! श्रीराधा श्रीकृष्ण से अपने हृदय के भाव को बारम्बार छिपाने के लिए जितना उपक्रम करती है, उससे वह भाव छिपा न रहकर बल्कि और अधिक प्रकाशित हो रहा है । श्रीराधा श्रीकृष्ण के प्रति जो असम्मति सूचक भ्रुकुटि टेढ़ी कर रही है उसमें थोड़ी-थोड़ी मुसकयान जो मिल रही है, उससे उसकी परम सम्मति प्रकट होती है और न-न इस प्रकार की निषेधोक्त के साथ साथ उन्मत्त-आकुल स्वर-भग स्वीकृति प्रकाशित कर रहा है । हाथ का रोकना अनिच्छा प्रकट करते हुए भी श्रीराधा के हाथों में उद्धता या चञ्चलता का अभाव परम अभीष्टता को ही जाहिर कर रहा है । वह क्रन्दन कर दुख जता रहा है परन्तु सूखा-रोना दुख के अभाव को ही प्रकाशित कर रहा है ॥१६७॥३६॥

ललिता—श्रीराधा केलि-विलास में प्रगल्भता दिखाते हुए दन्त-नखा-घात से उद्धत होकर प्रतिकूलता का जो जो आचरण कर रही हैं, श्रीकृष्ण उसी में ही अतिशय संतुष्ट हो रहे हैं ॥१६८॥४०॥

वृन्दा—(विहस्य)

नैरञ्जन्यमुपेयतु परिगलन्मोदाश्रुणी लोचने
स्वेदोद्धूतविलेपन किल कुचद्वन्द्व जहौ रागिताम् ?

योगीश्वरमगादुर स्फुरदिति प्रेक्षयोदय सङ्गिना
राघे निधिरिय तव श्लथगुणा शङ्क मुमुक्षा दधे ॥१६६॥४१॥

सलिला—कध एद विअडुमिहुरा माहवीकुडङ्गन्तरिद सवृत्तम् ।
[कथमेतद् विदग्धमियुन माधवीकुञ्जान्तरित सवृत्तम्] ॥१७०॥

वृन्दा—राघामाधवयोर्मध्या केलिमाध्वीकमाधुरीम् ।
धयन्नयनभृङ्गेन कस्तुप्तिमधिगच्छति ? ॥१७१॥४२॥

सलिला—हला, एवे गलन्तमरन्दपि माहवीपुष्पसबोह मुक्तिअ कीस
भिङ्गा पुष्वाहिमूह घावन्ति ? [सखि, एते गलन्तमरन्दमपि माधवीपुष्प-
सबोह मुक्त्वा कस्माद्भृङ्गा पूर्वाभिमुख धावन्ति ?] ॥१७२॥

वृन्दा—सखि, विमुच्य माधवीमण्डप नागरमण्डलोत्तरी प्रस्थितौ ,

वृन्दा—(हँसकर) राघे ! निरन्तर आनन्दाश्रुओं के बहने से तुम्हारे
चेत्र अजनशून्य हो गए हैं एव स्वेद के द्वारा विलेपन धुल जाने से उरोर्जद्वय
कुङ्कुम रहित हो गए हैं । तुम्हारा वक्ष स्थल योग (सङ्ग) के लिये उत्क-
ण्ठित हो रहा है, अतएव हे सखि ! ऐसा ज्ञात होता है योगसिद्धी देखकर
स्खलितगुणा नीवि भी मुक्ति लाभ करने की इच्छा कर रही है ॥१६६॥४१॥

सलिला—यह विदग्ध-सम्पत्ति माधवी कुञ्ज में क्यों चली गई है ? ॥

वृन्दा—श्रीराघा माधव की विशुद्ध केलि माधुरी आस्वादन कर
किसके नेत्र-मधुकर परितृप्त होते हैं ? ॥१७१॥४२॥

सलिला—हे सखि ! गलित मकरन्दशाली माधवी पुष्पों को परि-
त्यागकर मधुकरसमूह पूर्वदिशा में क्यों भाग रहे हैं ? ॥१७२॥

वृन्दा—सखि ! नागरवृन्द-शिरोमणि श्री श्रीराघा-माधव माधवी
मण्डप को छोड़कर चल गये हैं, उनकी अङ्ग सौरभ को प्राप्त कर भ्रमराग

तयोराभोदमनुसंपन्तः । दूषदा घायति, तदेहि, ततामदिरालोकनेन नन्द-
यावश्चक्षुषी । (इति परिक्रम्य) ललिते पश्य पश्य ॥१७३॥

मनोहारो हारस्वलितमणिभिस्तारतरल
परिस्लायन्माल्यो मिलितपुरटालकृतिफण ।

अथ कुञ्जस्तल्पोकृतकुसुमपुष्पप्रणयवान्
समन्तादुत्तुङ्ग पिशुनयनि रङ्ग मुरमिद ॥१७४॥४३॥

ललिता—(निपुण निरूप्य सस्कृतेन)

कृष्णाङ्गसगममिलदधुसूणाङ्गरागा
राधापदस्खलदलत्तकरत्तपार्था ।

सिद्धरविन्दुचितयमंजसोक्षितेय
ब्रूना धिनोति नयने मम पुष्पशय्या ॥१७५॥४४॥

धृन्दा—(सविस्मयम्)

चिक्रीड या रजसि रञ्जितसूत्रनद-
गोकर्णमात्रविकुरा नवविद्वकर्णा ।

भाग रहे हैं । अतएव आओ, लता मंदिर को देखकर नेत्रों को आनन्दित
कर । (यह कह घूम कर) ललिते ! देख, देख—॥१७३॥

इस पुष्परज की शय्या युक्त कुज में हारों के मनोहर मुक्ता बिखरे
पडे हैं स्वर्ण भूषणों के कणों के फैल जाने से पुष्प म्लान हो रहे हैं—इससे
जान पड़ता है श्रीमुरारि ने यहां अति उच्च विलास किया है ॥१७४॥४३॥

ललिता—(ध्यानपूर्वक देखकर) आहा ! श्रीकृष्ण-अङ्ग सङ्गम में
अङ्गराम कुसुमों से मिलित, श्रीराधा के चरण कमलों से छूटे अलता से रंगी
हुई तथा स्वेद जल से गाढी हुई सिद्धर को डेलियोयुक्त यह शय्या हमारे
नेत्रों का मुख विघान कर रही है ॥१७५॥४४॥

धृन्दा—(विस्मय सहित) आहा ! रंगीन मूल से एक बालिष्ठ भर के
केश बाध हुए जो अभी धूलि में ही खेलती है जिसके कान अभी विधे गए

सेयं कुतः प्रवरविभ्रमकौशलानि

राधाध्यगोष्ठं घतं वीरजितं जिगाय ॥१७६॥४५॥

ललिता—(पूर्वतः प्रेक्ष्य) वृन्दे, पेख, णादिदूरे सराहो माहवो ।
[वृन्दे, पश्य नातिदूरे सराधो माधवः] ॥१७७॥

वृन्दा—शृणुवः किमाह ॥१७८॥

(नेपथ्ये)

श्रीराधा—(संस्कृतेन)

कुर्वन् कुचलयं फणोत्सङ्गं सख्यममङ्गलं
विकिरं चिकुरस्यान्तमंलीस्रजं क्षिप्य वसति ।

अनघ जघने कादम्बी मे प्रसम्भव मेखलां
कलयतु न मामालोच्य हरे निरलंकृतिम् ॥१७९॥४६॥

वृन्दा—(स्मितं कृत्वा)

हैं, उस श्रीराधा ने किससे यह उत्कृष्ट विभ्रम-कौशल सीखा है ? जिससे
अजित श्रीकृष्ण को भी उसने आज पराजित कर दिया है ॥१७९॥४६॥

ललिता—(पूर्व दिशा की ओर देखकर) वृन्दे ! वे श्रीराधा-माधव
निकट ही विद्यमान हैं ॥१७७॥

वृन्दा—आओ सुनें, क्या कह रहे हैं ॥१७८॥

[वेशगृह में]

श्रीराधा—हे अनघ ! हे हरे ! मेरे कानों में कुण्डल सजा दो, केशों
में अक्षण्डित खड्ग, वक्षःस्थल में मोतियों की माला एवं कटि देश में
कदम्ब पुष्पों की मेखला अपेण कीजिए, ताकि सखिजन मुझे अलंकारों से
रहित न देख पावें ॥१७९॥४६॥

वृन्दा—(हँसकर) आहा ! जिनके शरीर पर मंजीठ की तरह लाल
रंग के अति सूक्ष्म सूत्राकार नख-चिह्न स्पष्ट रूप से दीख रहे हैं, क्रीड़ा के

पहन्ती मञ्जिष्ठार्णवततनुसुत्रोज्ज्वलरुचौ-

प्रसाङ्गान्खेलोमिस्खलितशिखिपक्षावतिरिधम् ।

स्फुरन्मुक्तातुल्यैरलघुघनघर्माम्बुभिरल

समृद्धा मे मेघा मधुमयनमूर्तिमंदयति ॥१८०॥४७॥

(ततः प्रविशति कृष्णः, प्रसाधिताङ्गी राधा च)

श्रीकृष्णः—

नीत पुनरुक्ततां अमरकैः कस्तूरिकापत्रकं

नेत्राभ्यां विफलीकृत कुवलयद्वन्द्वं च कर्णापितम् ।

हारश्च स्मितकान्तिभङ्गिभिरसं विष्टानुपेयोक्त.

किं राधे तव मण्डनेन नितरामङ्गं रसि द्योतिता ॥१८१॥४८॥

उभे—(उपपत्य) सुन्दर ! इदं परममजुस वासन्तीकुसुममण्डनम् ॥

श्रीकृष्णः—(स्तवकद्वन्द्वमादाय सहपंथम्)

ध्येवेन मुक्तकुन्दस्य काम्यमाना मुहुर्मया ।

मुक्ता त्वमतिमुक्तानां ध्येया सुश्रोणि सेवितुम् ॥१८२॥४९॥

कारण जिनका मोर-मुच्छ स्खलित हो गया है एवं जिनके शरीर पर उज्ज्वल मोनियो को भाति अनेक स्वेद बिन्दु धमक रहे हैं, उन श्रीकृष्ण की मधुर-मूर्ति मेरी बुद्धि को मूर्छित कर रही है ॥१८०॥४७॥

(तव श्रीकृष्ण अलङ्कृत श्रीराधा के सग प्रवेश करते हैं)

श्रीकृष्ण—हे राधे ! तुम्हारे मस्तक पर अलकावली से तुम्हारी कस्तूरिका-बिन्दु ढल जाने से व्यथ सी हो रही है, कानों में पहिरे हुए कुण्डलो की तुम्हारे दोनों नेत्र विफल कर रहे हैं, आपकी मुस्कराहट रूपों में शोभा से गले का हार चूर-चूर होकर निष्प्रभ सा हो रहा है । अतः हे प्रिये ! तुम्हारे इन अलकारों के धारण करने का क्या प्रयोजन ?—समस्त अङ्गों से ही आप आश्चर्यमयी शोभा विस्तार कर रही हैं ॥१८१॥४८॥

श्रीकृष्ण—सल्लिता—(निकट आकर) हे सुन्दर ! यह तो परम मनोहर माधवो पुष्प गुच्छ को ॥१८२॥

श्रीकृष्ण—(स्तवको को ग्रहणपूर्वक हर्ष सहित) हे सुश्रोणि ! सब मुक्तपुरुष मुझको सेवन करते हैं, वही मैं बारम्बार प्रार्थना कर रहा हूँ कि

(इति राधामवतंसयति)

(नेपथ्ये)

अनुपरमति यामे काममहस्तृतीये

जलदसमयलक्ष्मीयौवनोज्ज्वलमुखेऽद्य ।

नवयवसकदम्बेस्तपितानां कदम्बं

कलयति सुरभीणां गोकुलायाभिमुख्यम् ॥१८४॥१८०॥

ललिता—राहे ! अणुजानोहि । रत्निमण्डनस्य दुर्लभं वसन्तकुसुमं गणहिस्सम् । [राधे, अनुजानीहि । रात्रिमण्डनार्थं दुर्लभं वसन्तकुसुमं ग्रहीष्यामि] (इति निष्क्रान्ता) ॥१८५॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा जनान्तिकम्) वृन्दे ! किञ्चिद्विनोदं विधातुं कामोऽस्मि, तदत्र प्रियायाः प्रत्यायितेयं पुरो द्रुमाधिरुढा कक्खटा खया मत्पक्षग्राहिणि क्रियताम् ॥१८६॥

वृन्दा—भवतु । पतिष्ये ॥१८७॥

इस माधवी पुष्प-मुच्छ सनूह को आप सेवन करो । यह कहकर श्रीराधा के कानों में उन्हें अपंग कर देते हैं) ॥१८३॥१८६॥

(वेशगृह से आवाज आती है)

आज अभी दिन का तृतीय प्रहर नहीं बीता है कि वर्षा ऋतु की प्रगाढ़ शोभा छा जाने से नवीन वृण समूह सुरभीगण वृत्त हो गई है और गोकुल की ओर जा रही हैं ॥१८४॥१८०॥

ललिता—राधे आज्ञा दीजिये, मैं रात्रि के अलंकारों के लिए सब दुर्लभ वसन्त-कुसुम अभी लाऊंगी । (यह कहकर चली जाती है) ॥१८५॥

श्रीकृष्ण—(मुस्कराते हुए हाथ की ओट में) वृन्दे ! मैं किञ्चित् फ्रीडा करना चाहता हूँ । इसलिये तुम आगे जाकर वृक्ष पर बैठी उस कक्खटो चन्दरी को, जो प्रियतमा का पक्ष से रही है, मेरी पक्षपातिनि करो ॥१८६॥

वृन्दा—ऐसा ही होगा, मैं यत्न करूंगी ॥१८७॥

श्रीकृष्णः—(राधामवेक्ष्य) प्रिये चन्द्रा—(इत्यर्द्धोक्ते कृत्तिमसंभ्रमं नाटयति) ॥१८८॥

श्रीराधिकाः—(सखेदम्) हृद्वी हृद्वी , कधं एध्वं सुणन्त वि ण मे कुड्डिवं कण्णजुअलम् । । हा धिक् हा धिक् , कयमेवं शृण्वदपि न मे स्फुटितं कण्णयुगलम्] ॥१८९॥

वृन्दा—(स्वगतम्) पिच्छिह्नाभ्रमणेन कदलटिकामुन्माद्य हरेरमीष्टं व्याहारयिष्ये । (इत्यलक्षितं तथा कुत्सा प्रकाशम्) सखि, रङ्ग मा भज वंमुह्यम् ॥१९०॥

श्रीकृष्णः—प्रिये चन्द्रानने, किमित्यकाण्डे विमनस्कासि? ॥१९१॥

(नेपथ्ये)

सामिनी इतिहा तुज्ज मुत्तलणेय ललिता ण जीविस्सदि[स्वामिनि! अनेन तव मुग्धत्वेन ललिता न जीविष्याति] ॥१९२॥

श्रीकृष्ण—(श्रीराधा को देखकर) प्रिये चन्द्रा (इतना आधा वाक्य कहकर बनावटी भय प्रकाशित करते हैं) ॥१८८॥

श्रीराधिका—(दुःख पूर्वक) हाय धिक्कार ! धिक्कार । यह सुनकर मेरे कान क्यों न फट गए ॥१८९॥

वृन्दा—(मन में) मोरपुच्छ का चामर बुलाकर इस बन्दरी को मैं लुब्ध करूँगी और श्रीकृष्ण के अभोष्ट वचन कहूँगी । (यह कहकर ध्रिप कर बैसा करते हुए स्पष्ट कइती है) सखि राधे ! रङ्ग में रङ्ग मत डालो ॥

श्रीकृष्ण—प्रिये चन्द्रानने ! बिना कारण खिन्न क्यों हो रही हो ॥१९१॥

(वेशगृह से आवाज आती है)

हे स्वामिनि ! तुम्हारे इस मुग्धत्व से ललिता जीवित न रह पायेगी ॥१९२॥

श्रीराधिकाः—(ऊर्ध्वमालोक्य स्वगतम्) जोसंदेहहि किदा कख-
डिआए (प्रकाशम्) पञ्चण्डं खलु कुलिसविष्कृज्जिदं कथं डिण्डिमाहम्बरेण
सवरणिज्जं होदु ? [निःसन्देहास्मि कृता कखटिकया । प्रचण्डं खलु कुलिश-
विष्कृजितं कथं डिण्डिमाहम्बरेण संवरणीयं भवतु ?] (इति परांमुखी
भवति) ॥१६३॥

श्रीकृष्णः—(अपवार्यं)

समरोद्धरकामकामं कभीविजयिभ्रूयुगमाकुलाक्षिपयामु ।

विधुरोक्तमप्यतिः घाघ्रे भम राधावदनं मनो धिनोति ॥१६४॥

(इति राधापटाञ्चलमुच्चात्यं) सुन्दरि! मधुरेण समाप्यतां मधुविहारको-
मुकम् ॥१६४॥

(पुनर्नपथ्ये)

हट्टी हट्टी, ओ पञ्मासिक्खे दुट्टसारसि, सुमं पि मं कडक्खसि । ता
वीस पराणं धारेमि । [हा धिक् हा धिक् । ओ पञ्मासिक्खे, दुट्टसारसि,
त्वमपि मां कटाक्षयसि । तस्मात्प्राणं धारयामि] ॥१६५॥

श्रीराधिकाः—(ऊपर की ओर देखकर मन ही मन में) कखटि
ने मुझे निःसन्देह कर दिया है । (स्पष्ट कहती है) वज्राघात का प्रचण्ड
शब्द क्या दुग्दुग्गी से दबता है ? अर्थात् हे चन्द्रा—यह अर्द्ध सम्बोधन-ध्वनि
(जो वज्राघात के समान है) हे चन्द्रानने ! —इस स्पष्ट सम्बोधन-ध्वनि
से छिन्न संकती है ? (यह कहकर मुँह फेर लेती हैं) ॥१६३॥

श्रीकृष्ण—(मन में) जिसकी भ्रुकुटि बढ़ने से कन्दर्प के धनुष की
शोभा फीकी पड़ जाती है, एवं जिसके नेत्र युगल कमलों की शोभा को
ध्याकुल करने वाले हैं, उस श्रीराधा का क्रोध सालिमायुक्त मुख मेरे मन को
अतिशय आनन्द प्रदान कर रहा है । (यह कहकर श्रीराधा का पटाञ्चल
पकड़ते हुए) हे सुन्दरि ! इस वसन्त-विहार लीला को मधुरता से ही समा-
पन कीजिये ॥१६४॥१६५॥

(फिर वेशगृह से आवाज आती है)

—धिक्कार है, ओ पञ्मा की शिष्या ! तुझे धिक्कार है, तू ओ मेरे
ऊपर कटाक्ष कर रही है । मैं फिर कैसे प्राण धारण करूँ ? ॥१६५॥

श्रीराधिका—(निशम्य सरोपमपसर्पन्ती) वृन्दे ! परं केत्तिअं विडम्बिदम्हि । ता सत्ति धारेहि एणं कवडपरिवाडाअसूतधारं भुअणमाराम्भि-
मुरलीसिखणोसङ्कुंकरालिआणत्तिणो कीलाकुरङ्गम् । [वृन्दे ! परं कियद्व-
डम्बितास्मि । तद्वस्रटिति वारयेंनं कपटपरिपाटीनाटकसूत्रधारं भुवनमारार-
म्भिमुरलीशिक्षानि.शङ्कुं करालिकानप्प्रीक्रीडाकुरङ्गम्] ॥१६६॥

श्रीकृष्णः—(सानन्दस्मितम्) सखि वृन्दे ! प्रसादाय राधाम् ॥१६६॥

वृन्दा—प्रिय सखि राधे ! विदग्धवधूनां भूर्धन्यासि । तवकाण्डे कठोर-
मानकाण्डेन नापसारय वल्लभकृष्णसारम् ॥१६८॥

श्रीराधिकाः—(घाटमवज्ञामभिनीय) एत्थ अवत्थावुं ण जूसम्हि ।
[अत्रावस्थायुं न युक्तास्मि] (इति निष्क्रान्ता) ॥१६९॥

श्रीकृष्णः—वृन्दे ! बलीयसि रोपानसे साममाप्प्रीकमुद्दोपनायैव । तव-
लमत्रामुयात्रया ॥२००॥

श्रीराधिका—(सुनकर क्रोधपूर्वक जाते हुए) वृन्दे ! कितनी विड-
म्बना सहन करूँ मैं ? यह कपट परिपाटी मय नाटक का सूत्रधार है, चौदह
भुवन में कन्दर्प जगा देने वाली मुरली शिक्षा में निशंक है । दूर कर इस
करालिका-नपसीवशवर्ती क्रीड़ा मृग को ॥ १६६॥

श्रीकृष्ण—(आनन्द सहित मुसकराते हुए) सखि वृन्दे ! श्रीराधा
को प्रसन्न करो ॥१६७॥

वृन्दा—प्रिय सखि राधे ! रसिक-रमणियों की शिरोमणि है तू ।
फिर बिना कारण कठोर मन धारण कर कृष्णसार प्रीयतम का तिरस्कार
न कर ॥१६८॥

श्रीराधिका—(अतिशय अवज्ञा को प्रकाशित करती हुई) मेरा यहाँ
रहना ही ठीक नहीं है । (यह कहकर चली जाती है) ॥१६९॥

श्रीकृष्ण—वृन्दे ! बलवान् क्रोधाग्नि में शान्ति के वाक्यरूप मधु का
डालना और भी उसे प्रज्ज्वलित करता है, अतएव तुम्हारा पीछे जाना
उचित नहीं है ॥२००॥

वृन्दा—किमत्र युक्तम् ? ॥२०१॥

श्रीकृष्णः—वृन्दे, वरवर्णिनोर्वेषेण राधां साधयितुमिच्छामि । तदत्र भवत्या समार्धानमध्यवसोयताम् ॥२०२॥

(वृन्दा साङ्गीकार स्मित करोति)

श्रीकृष्ण.—सखि ! गौराङ्गरागसंगतं वराङ्गनावेषसाधनं कथमत्रा-
भिलष्ये ॥२०३॥

(प्रविश्य)

मधुमङ्गलः—प्रियव्रतस्मै । अस्त्य गौरीघने तद्वाविह्वेससामग्री जा
पडमाए मह हत्थे समप्पिदा । [प्रियव्रतस्य । अस्ति गौरीगृहे तयाविधवेप-
सामग्री या यद्यया मम हस्ते समपिता] ॥२०४॥

श्रीकृष्ण—(सहर्षम्) वृन्दे, गौरीगृहगम्भीरिकायां भविष्यामि ।
तवात्ममतिनोभावेन समायनोयोऽहम् । (इति सवयस्यो निष्क्रान्तः) ॥ २०५॥

वृन्दा—फिर क्या करना उचित है ? ॥२०१॥

श्रीकृष्ण—वृन्दे ! मैं चाहता हूँ उसे मे एक सुन्दरी का रमणी वेश
धारण पर प्रसन्न करूँ । इसलिये तुम वेश-रचना की सामग्री शीघ्र ले
आओ ॥२०२॥

[वृन्दा सहमत होते हुए मुसकराती है]

श्रीकृष्ण—सखि ! अङ्गों की गौर रंग में बदल देने वाली सुन्दर
रमणी वेश योग्य सामग्री यहाँ कैसे प्राप्त होगी ? ॥२०३॥

[मधुमङ्गल प्रवेश करता है]

मधुमङ्गल—प्रिये मने ! सुन्दर रमणी के वेश योग्य सामग्री गौरी
मन्दिर में मौजूद है, जो पचा ने मुझे दी थी ॥२०४॥

श्रीकृष्ण—(हर्ष सहित) वृन्दे ! मैं गौरी मन्दिर की गम्भीरिका
(निचले स्थान) में रहूँगा । तू मुझसे अपनी भगिनी या भाव ही प्रेरणागित
करना । (यह कहकर मधुमङ्गल ने साय चले जाते हैं) ॥२०५॥

सुन्दा — (परिक्रम्य दूरे दृष्टि क्षिपन्ती)

चम्पकलवङ्गबकुलान्यदचिन्धत्योर्वयस्ययोरत्र ।

स्फुटमिदमेव संसृजं राधावृत्तं निवेदयति ॥२०६॥१॥

(प्रविश्य तथाविधा राधा)

श्रीराधिकाः—सहि तदो ! अहं अणुरेकुं पउत्तां एं अवहोरिअ एह पत्तम्हि । [सखि ! ततोऽहमनुनेतुं प्रवृत्तमेनमवधोयोनं प्राप्तास्मि] ॥२०७॥

ललिता—राधे न बधु तुमम्हि कण्हस्म गोदावल्लिखं तिविसे हि संमाविअदि । ता पइदिपमत्ताएं पसूएं पलावे किदवीसम्भा तुम वञ्चिदासि । [राधे, न क्षलु त्वयि कृष्णस्य गोक्षस्खलितं स्वप्नेऽपि संभाव्यते । तत्प्रकृति-प्रमत्तानां पशूनां प्रलापे कृतविश्रम्भा त्व वञ्चितासि] ॥२०८॥

विशाखा—हखी हखी । ललिदे ! पेक्ख अज्झ सोहग्गपूणिमाहे आर-
द्धसंघरिसा बलिनो पडिक्खसा । ता विडम्बिदा म्हा देव्वेण । [हा धिक् हा
धिक् । ललिते ! पश्याद्य सोभाग्यपूर्णिमाहे आरब्धसघर्षा बलिनः प्रतिपक्षा ।
वस्माद्विडम्बिताः स्मो देवेन] ॥२०९॥

सुन्दा—(धूमकर दूर तक देखती है) वहा श्रीराधा चम्पक,
लवंग, बकुल पुष्प चुनती हुई ललिता-विशाखा इन अपनी दोनों सखियों को
नृज्जापूर्वक यह वृत्तान्त खोलकर कह रही है ॥२०६॥

[उसी अवस्था में श्रीराधा प्रवेश करती हैं]

श्रीराधिका—सखि ! उसके बाद श्रीकृष्ण मेरी बहुत अनुनय करने
लगे, परन्तु मैं उनकी अवज्ञा कर यहा चली आई हूँ ॥२०७॥

ललिता—राधे ! तुम्हारे प्रति श्रीकृष्ण का गोक्षस्खलन (अन्य नामो-
लेख से आह्वान करना) स्वप्ने में भी सम्भव नहीं है । इसलिए तुम स्वा-
भाविक मत्त पशुओं के प्रलाप में विश्वास कर वञ्चित हुई हो ॥२०८॥

विशाखा—धक्कार है, धक्कार, ललिते ! देख बाज सोभाग्य
पूर्णिमा के दिन विर्षाक्षयो में कृष्ण-प्राप्ति का सोभाग्य उदय होने से वे बल-
वान हो उठी हैं, इसलिए हम तो देव से ही वञ्चित की गई हैं ॥२०९॥

सलिला—बिसाहे, सत्तुं कहेसि । एतय महोत्सवे जइ अम्हारुं मुहमा-
 तिणुं सबत्तीओ पेक्षिस्सन्ति, तदो सोत्तेलुण्ठ कटवखन्तीओ हस्सिस्सन्ति ।
 [बिशाखे ! सत्य कययसि । अत्त महोत्सवे यद्यस्माकं मुखमालिन्यं सपत्यः
 प्रेक्षिष्यन्ति, तदा सोत्तेलुण्ठं कटाक्षयन्त्यो हसिष्यन्ति ।] ॥२१०॥

श्रीराधिका—(स्वगतम्) साहु सहिओ मन्तेन्ति । ता कि एण
 शरणम् । [साधु सख्यो मन्त्रयान्त । तत्किमत्र शरणम् ?] ॥२११॥

वृन्दा—(उपसृत्य) सलिते ! रामानुजस्य निवेशेन राममुपनेतुं
 प्रस्थितास्मि ॥२१२॥

सलिला—किंति । [किमिति ?] ॥२१३॥

वृन्दा—वसन्तश्रीदर्शनाय ॥२१४॥

बिशाखा—सहि धुवे ! वखणं विलम्बिअ कुण संधिम् । [सहि वृन्दे !
 'दार्णं विलम्ब्य कुरु संधिम्'] ॥२१५॥

वृन्दा—सत्य जानोहि मया दुष्करोऽद्य संधिः ॥२१६॥

सलिला—बिशाखे ! सच कहती है तू । आज सीमाय्य पूणिमा क
 महोत्सव प० यदि विपत्तिणी हमारे मुख मालिन्यको देखेंगो, तो वे भी हमारे
 ऊपर परिहासपूर्वक कटाक्ष करते हुए मजाक उड़ावेंगो ॥२१०॥

श्रीराधिका (मन ही मन में) ठीक कहती हैं सखीगण । पर अब
 उपाय क्या है ? ॥२११॥

वृन्दा—(निश्चय आकर) सलिते ! रामानुज (श्रीकृष्ण) की आज्ञा
 से राम को लेने जा रही हूँ ॥२१२॥

सलिला—किस लिए ? ॥२१३॥

वृन्दा—वसन्त शोभा देखने के लिये ॥२१४॥

बिशाखा—थोड़ी देर रुको, मिलाप करा दो ॥२१५॥

वृन्दा—सत्य समझना मेरे द्वारा आज यह मिलाप न होगा ॥२१६॥

बिशाखा—यह क्यों ? ॥२१७॥

विशाखा—कथं विअ ? [कथमिव ?] ॥२१७॥

वृन्दा—पृच्छयतामात्मसखी ! ययाद्य दुरुक्तिभिरपरञ्जितः कञ्जोक्षणः ॥

श्रीराधिका—(निश्वास्य) हला वृन्दे ! तुम खैअ गयो । [हला वृन्दे ! स्वमेव गतिः] ॥२१९॥

वृन्दा—(सध्याजरोपम्)

असूया चण्डालो हृदि पदमिता चण्डि विविशु-

नं घाचस्ते पश्या. श्रुतिसरणिमोमाञ्जलमपि ।

इदानीमोदास्य वशगमदिराक्षीततिरगा-

म्मुकुन्दो निर्द्वन्द्वोभव सखि मुग्धा नि श्वसिति किम् ॥५३॥

सलिता—हला ! कहि सो क्यु मोहणो ? [हला ! कुत्र स खलु मोहन ?] ॥२२१॥

वृन्दा—गौरीसधनि ॥२२२॥

सलिता—किं करोदि ? [किं करोति ?] ॥२२३॥

वृन्दा—अपनी सखी से पूछ, जिसने आज कठोर शब्दों से कमल-लोचन (श्रीकृष्ण) का तिरस्कार किया है ॥२१८॥

श्रीराधिका—(निश्वास छोड़ते हुए) सखि वृन्दे ! तुम ही मेरा एक मास आसरा हो ॥२१९॥

वृन्दा—(छल पूर्वक क्रोध सहित) हे क्रोषनि ! तुम्हारे हृदय में असूया चण्डालिनी ने प्रवेश कर लिया है, हितकारी वचनों को कानों के अचल तक जाने ही नहीं देती हो । इस समय श्रीकृष्ण भी खञ्जनाक्षि (चन्द्रावली आदिक रमणियों के वशीभूत हो गये हैं । अतः उन्होंने भी तुम्हारे प्रति उदसीनता (सपेक्षा) प्रकट की है । इसलिये हे राखे ! अब लम्बे साँस छोड़ने से क्या होता है ? निर्विरोध होकर रहो आओ ॥२२०॥

सलिता—सखि इस समय वे कहाँ हैं मोहन ? ॥२२१॥

वृन्दा—गौरी मन्दिर में ॥२२२॥

सलिता—क्या कह रहे हैं ? ॥२२३॥

वृन्दा—निकुञ्जविद्या साँघ गोष्ठीं तनोति ॥२२४॥

तिलः—सहि का खु निउञ्जविज्जा । [सखि ! का खलु निकुञ्ज-विद्या] ॥२२५॥

वृन्दा—(स्फुटं विहस्य) अहो मोग्ध्य किशोरीणां यदमूरतिप्रसिद्धामपि निकुञ्जविद्यां न विवन्ति ॥२२६॥

तिलः—(सलज्जम्) सहि, कधेहि सङ्गं । न जानीम्ह । [सखि, कथय सत्यम् । न जानीमः] ॥२२७॥

वृन्दा—हन्त भो विशुद्धाः, का नाम सा गोकुले बल्लवबालिकास्ति या खलु स्वसारं मे भाण्डोरदेवतां न जानीते ॥२२८॥

सतिता—युन्दे ! देहि तुमं मन्तं जेण एवं वैसम्मं सुहोदकं भवे । [युन्दे ! देहि त्वं मन्त्रं येनेदं वियम्पं सुहोदकं भवेत्] ॥२२९॥

वृन्दा—सखि ! गोकुलानन्दनिगूढविस्मयममणिमञ्जुष्यं निकुञ्जविद्या । तदेनां भजेम ॥२३०॥

वृन्दा—निकुञ्जविद्या के साथ बात-चीत कर रहे हैं ॥२२४॥

सतिता-विशाखा एवं राधा—सखि ! निकुञ्जविद्या कौन ? ॥२२५॥

वृन्दा—(जोर से हँसकर) अहो ! कैसी है इन शिरोमणियों की मुग्धता ? जो अति प्रसिद्ध निकुञ्जविद्या को नहीं जानतीं ॥२२६॥

तीनों—(लज्जित होकर) सच कह, हम नहीं जानती हैं उसे ॥

वृन्दा—कैसा आश्चर्य है, तुम सरस स्वभावा गोकुल-रमणियों पर ! जो तुम मेरी बहन भाण्डोरवन के देवता को नहीं जानती हो ॥२२८॥

सतिता—युन्दे ! तुम ही सहाह दो, जिससे हमारी यह विषमता जागे पत मुसदायी हो ॥२२९॥

वृन्दा—सखि ! यह निकुञ्जविद्या गोकुलानन्द (कृष्ण) की विगूढ़ विदग्ध मणि-पिटारी है, उसी का हम लेंगे आसरा ॥२३०॥

(इति सर्वाः परिक्रामन्ति)

श्रीराधिका—वृन्दे ! एवं सृजे गौरीमण्डवम् । ता एतस्य पबिसिअ सण्णाए कट्टे णिउंजविज्जम् । [वृन्दे ! इदमेव गौरीगण्डपम् । तदत्र प्रविश्यं सज्जयाकर्पं निकुंजविद्या ॥२३१॥

वृन्दा—(कृतोद्ग्रीविकमालोषय स्वगतम्) हन्त ! गौरीमिष किशोरीं द्वारि पश्यामि । (प्रकाशम्) सख्यः केवलमेकात्र भाण्डीरर्द्धवतं शिखण्डेन कुण्डले कुर्वन्तो घसन्ते ॥२३२॥

तिलः—असत्त्वसत्तिणि ! चिट्ट चिट्ट । जं एसो ताण्डविअसिहण्डी पंगणे चिट्ठिदि । [असत्यसत्तिणि ! तिष्ठ तिष्ठ । यदेपस्ताण्डविकशिखण्डी प्राङ्गणे तिष्ठति] ॥२३३॥

वृन्दा—हन्त भो दालिष्यशून्याः ! स्वयमागत्य समीक्ष्यताम् । किमत्रा-
नुमानेन ॥२३४॥

ललिता—हला ! फुड तन्नाउलदा खन्वइणो जादा जं णिक्कमन्तो

[यह कहकर सब चली जाती हैं]

श्रीराधिका—वृन्दे ! यह रहा गौरी-मण्डप, इसमें आकर इचारे से बुला ला निकुञ्जविद्या को ॥२३१॥

वृन्दा—(गर्दन उठाकर देखती हुई मन ही मन में) आहा ! गौरी की भाति ही श्रीकृष्ण को किशोरी देख रही हूँ । (स्पष्ट कहती है) हे सखियो ! यहा तो केवल एक भाण्डीर देवता ही मोरपुच्छ द्वारा अलंकृत होकर धिराज-
मान है ॥२३२॥

तीनों—ओ मिथ्यावादिनि ! ठहर जा, ठहर, यह तो नृत्यकारी मोर प्राङ्गण में बैठा है ॥२३३॥

वृन्दा—बड़ा आश्चर्य है ! ओहो, तुम में कुछ भी चतुरता या मनन शीलता नहीं है । स्वयं आकर देखो न, अनुमान मान करने का यहा क्या प्रयोजन ? ॥२३४॥

ललिता—सखि ! यह स्पष्ट है कि यहा से जब कृष्णचन्द्र गए हैं, तब

चन्द्रमउली इमिणा ण लक्षितो । [हला ! स्फुटं तन्द्राकुलता चन्द्रकिणी
जाता यक्षिष्क्रमन् चन्द्रकमौलिरनेन न लक्षितः ।] ॥२३५॥

.. श्रीराधिका—हला ! धरं पवित्सिअ णिउंजविज्जं पूछम्ह । [हला !
गृहं प्रविश्य निकुंजविद्यां पृच्छामः] ॥२३६॥

(इति सर्वाः प्रवेशं नाटयन्ति)

(प्रविश्य)

जटिला—भणिदम्हि पेम्मेण पउमाए—अज्जे जडिले, विट्ठिआ वडुत्ति ।
गोअडुणो विअ तुम्ह पुत्तो वि गोकोटीसरो हुविस्सवि । जं विट्ठं मए अज्ज
गौरोत्तिये राहिए गोरो आराहोअविति तागडुअ वहुडिह आसित्ताहि यडु-
यिम्सम् । (इति परिक्रम्य रङ्गणोमङ्गले दृष्ट्वा सानन्दम्) साहु पउमे,
साहु । असच्चमासिणी णासि । (पुनर्निभात्य सखेदम्) हडो हडो । कहं
गौरोत्तिहस्स सिरे तण्डविओ छिट्ठिह । ता परावट्ठिअ पुत्तं आणित्सम् ।
[भणितास्मि प्रेम्णा पयया—'आर्ये जटिले, विट्ठ्या वधंसे । गोवर्धन इव तव
पुत्रोऽपि गोकोटीश्वरो भविष्यति । यद्दृष्टं मयाच गौरोत्तीयं राधया गौर्या-
राध्यते' इति । तदगत्वा वधूमाशीर्भिवर्धयिष्यामि । साधु पचे, साधु । असत्य-

इस मोर की झपकी लग रही थी, जिससे यह उन्हें नहीं देख पाया है ॥२३५॥

श्रीराधिका—सखि ! अन्दर चलकर निकुञ्जविद्या से पूछें । (इस
कार कहकर सब अन्दर प्रवेश करती हैं) ॥२३६॥

(इतने में जटिला प्रवेश करती है)

जटिला—पप्पा ने प्रेमवश मुझसे कहा—आर्ये जटिले ! भाग्यवश तुम
मगृद्धियान हो गई हो । अब गोवर्धन की भांति तुम्हारा पुत्र अमिमन्गु भी
कोटि गोत्रो का अधिरति बन जायेगा । क्योंकि मैंने देखा है गौरोत्तीय पर
श्रीराधा गोरी का आराधना कर रही है । सब पत्नी बहू-राधा को आशीर्वाद
देकर मगृद्ध करेंगी । (यह कहकर वहाँ पत्नी जाती है । और वहाँ रङ्गिणी
हरिणी को देखाकर आनन्दित होकर कहती है) ठीक है पचे ! ठीक कहा है
तूने । तुमने झूठ नहीं कहा । (फिर ध्यानपूर्वक देखाकर दुःखसाहित्य) हाय !
पित्तार ! गोरी-विह के तिर पर नृत्यकारी मोर बैठा है तब तो पारस

मापिणो नासि । हा धिक् हा धिक् । कथं गौरीसिंहस्य शिरसि ताण्डविक-
स्तिष्ठति ? तत्परावृत्य पुत्रमानेष्वामि] (इति धावन्ती निष्क्रान्ता) ॥

श्रीराधिका—(जनान्तिकम्) सहोओ ! पेवखद्य लोओत्तरं किपि
गौरीए सोन्दरिम् [सत्यः ! प्रेक्षध्वं लोकोत्तर किमपि गौर्याः सोन्दर्यम् ॥

सख्यौ—हला ! सच्चं सच्चम् । ठाणे कण्हस्त पेम्मवीसम्भसंभाविदा
एसा । [हला ! सत्यं सत्यम् । स्थाने कृष्णस्य प्रेमविश्रम्भसंभावितैपा] ॥

श्रीराधिका—एणं अदिट्टुपूव्वं - संभासिदुंसंभममहि । [एनामदृष्ट-
पूव्वं संभापिदुं ससंभ्रमास्मि] (इत्यपत्रपां नाटयति) ॥२४०॥

(नेपथ्ये)

यामि वृन्दे, नूनं राधया नाहं परिचोये मया तु सहध्वेयमनुपूप-
मानास्ति ॥२४१॥

वृन्दा—(स्वगतम्) चित्रं चित्रम्, साक्षादङ्गनाकण्ठध्वनिरेवायम् ॥

जाकर पुत्त अभिमन्यु को ले आती हूँ । कृष्ण सङ्गिनी वधू-राधा को उसे
दिखाऊंगी । (यह कहकर दौड़ो चली जाती है) ॥२३७॥

श्रीराधिका—(घीरे से कान में) हे सखियो ! देखो तो गौरीतीयं
का कैसा अलौकिक सौन्दर्य है ? ॥२३८॥

सखीगण—राधे ! सत्य है सत्य, कृष्ण-प्रेमका इस प्रकार सौन्दर्य उप-
युक्त ही है ॥२३९॥

श्रीराधिका—इसे तो मैंने पहले कभी नहीं देखा, अतः इसके साथ
घोलने में धर्म सी आती है ॥ (इस प्रकार कहकर नितंज्जता प्रकाश
करती है) ॥२४०॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

वृन्दे ! मैं तो जा रही हूँ, श्रीराधा मुझे जानती ही नहीं है, किन्तु
मैंने तो इसे हजारों बार देखा है ॥२४१॥

वृन्दा—(मन में) अति चमत्कार ! यह तो साक्षात् स्त्रियों की सी
कण्ठ ध्वनि है ॥२४२॥

श्रीराधिका—वृन्दे न जाने कीस पसह गिउझविज्ञाए सिणिज्झदि मे हिअअम् । [वृन्दे, न जाने कस्मात्प्रसन्न निकुञ्जविद्यायां स्निह्यति मे हृदयम्] ॥२४३॥

वृन्दा—सखि ! तत्त्व जाने । न चित्रमिदं पदसावपि चिर त्वय्यनुर-
ज्यति ॥२४४॥

श्रीराधिका—(सानन्दमनुसृत्य) हला, गिउझविज्ञे, कहि सो सुह
गिउझनाअरो ? [हला ! निकुञ्जविद्ये, कुत्र स तव निकुञ्जनागर] ॥२४५॥

(नेपथ्ये) सखि ! कस्त जनो जानाति । २४६॥

ललिता—सहि गिउझविज्ञे ! मूख परिहासच्छलम् । अप्पवागो
वे अम्हारितो जणो । [सखि ! निकुञ्जविद्ये, मुख परिहासच्छलम् । आत्म
वर्गस्तेऽस्मादृशो जन] ॥२४७॥

(नेपथ्ये)

बाढ तत्त्वमविज्ञाय तप्यमानः कृशानुना ।

कथं शारदपद्याक्षि पारदं परिलम्पते ॥२४८॥२४९॥

श्रीराधिका—वृन्दे ! न जाने मेरा मन करवश इस निकुञ्जविद्याके प्रति
क्यों प्रेम से भरा जा रहा है ? ॥२४३॥

वृन्दा—सखि ! इसमें आश्चर्य नहीं है, मैं यथार्थ जानती हूँ कि यह
निकुञ्जविद्या भी तुमसे अनेक दिन से प्रेम करती है । २४४॥

श्रीराधिका—(आनन्दपूर्वक निकट जाकर) सखि निकुञ्जविद्ये !
तुम्हारा निकुञ्ज-नागर कहा है ? ॥२४५॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

—सखि ! उसे कौन जानता है ? ॥२४६॥

ललिता—सखि निकुञ्जविद्ये ! परिहास-छन छोड़ो, हम सब तुम्हारी
भपनी ही हैं ॥२४७॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

हे पारदीय कमलनयने ! तुम निगूढ तत्त्व को न जानकर मान-अर्पित

वृन्दा—(जनान्तिकम् ।)

स्मेरा कपोलपाली शंसति द्रुत्यं निकुञ्जविद्ययाः ।

राधे मृदुलय तदिमां स्नेहेनाभ्यर्ज्य भव्येन ॥२४६॥५५॥

श्रीराधिका—हेला गिड'जदिजे ! कोस बुन्देव्व 'णाणुवन्धसि
सिणेहवन्धम् ? [हेला निकुञ्जविद्ये ! कस्माद्बुन्देव्व नानुवन्धासि स्नेह-
वन्धम्] ॥२५०॥

(नेपथ्ये)

विधिः पथे पादौ नवकर्दलिके सविधयुगले

मृणाले दोढ'न्ध' तं शशिनमापाद्य बन्धनम् ।

मृदूनोमथौनां न कठिनमवष्टम्भकमृते

स्थितिः स्यादित्यन्तर्ध्यायित हृदयं नूनमशनिम् ॥२५१॥५६॥

श्रीराधिको—बुन्दे ! पेवळे साणुराअहासं परिहसिज्झामि गिड'जदि-

में दग्ध हो रही हो, पारद को क्यों उपलब्ध कर पाओगी ।—अर्थात् उत्तम
व्यक्ति को पारद (पारा) से लाभ नहीं होता ॥२४६॥५५॥

वृन्दा—(हाथ की ओट करके) मृदु-मुस्कानयुक्त कपोल स्थल निकुंज
विद्या के द्रुत्यकार्य की सूचना दे रहे हैं, अतएव हे राधे ! मङ्गलरूप स्नेह
सहित प्रार्थना पूर्वक इसकी कौमुदीता सम्पादन कर ॥२४६॥५५॥

श्रीराधिका—सखि निकुंजविद्ये ! वृन्दा की तरह तू हमसे क्यों नहीं
स्नेह-वन्धन जोड़ रही है ? ॥२५०॥

[वेशगृह से आवाज आती है]

हे राधे ! विधाता ने कमल द्वारा तुम्हारे चरण, नवीन कदली से
तुम्हारे ऋगुगल, मृणाल से दोनों मुझाएँ तथा चन्द्र से तुम्हारे मुख को
निर्माण करने के बाद यह अनुभव किया कि कोमल पदार्थ कठोर वस्तु वा
सहयोग लिये बिना स्थिर नहीं रह सकते, अतएव हे सखि ! जान पड़ता है
उसने इसलिए तुम्हारे हृदय को वज्र से ही निर्माण किया है ॥२५१॥५६॥

श्रीराधिका—बुन्दे ! देख इसकी सानुराग मुसकुराहट । निकुं-

झाए । ता गदुअ मिलिस्सम् । [वृन्दे ! पश्य सानुरागहासं परिहस्ये निकुञ्जविद्याया । तद्गत्वा मिलिष्यामि] (इति निष्क्रान्ता) ॥२५२॥

वृन्दा—गोकुलरामाप्रेयसि निकुञ्जविद्ये कठोरघोस्त्वमसि ।

यत्प्रवणामपि पुरतः परिरम्य सखीं न रंजयसि ॥२५३॥५७॥

विशाला—इअं राही णिउंजविज्जं परिगद्धं भुजवल्लीं उल्लासेन्ती पेम्मवीसदं जल्पदि । [इय राधिका निकुञ्जविद्यां परिरब्धुं भुजवल्लीमुल्लासयन्तो प्रेमविश्रब्ध जल्पति]

(नेपथ्ये)

हला भाण्डीरदेअदे, पेख्ख । गोउलपवेमवेला पच्चासीअदि , ता कारिज्जउ अग्हेसु लीलारङ्गसंगमिदो कहस्स पसाओ । [हला भाण्डीरदेवते ! पश्य । गोकुलप्रवेशवेला प्रत्यासीदति, तत्कार्यतातूर्णमस्मासु लीलारंगसङ्गमितः कृष्णस्य प्रसादः] ॥२५४॥

ललिता—वृन्दे ! एसा तुज्ज बहिणो राहिअं परिरम्भअ चुम्बदि । [वृन्दे ! एसा तव भगिनी राधिकां परिरम्य चुम्बति] ॥२५५॥

विशाला—(सशङ्कम्) विट्ठा णित्सस्सिआए तुज्ज णिउंजविज्जाए

विद्या मेरा परिहास कर रही है । इसलिए अब इससे जाकर मिलती हूँ ॥ (यह कहकर चली जाती हैं) ॥२५२॥

वृन्दा—(हँसते हुए) हे गोकुलरमणियों की प्रियेतमे निकुञ्जविद्ये ! तू बड़ी कठोर वृद्धि है । नम्र-स्वभावा राधा तुम्हें आलिंगन करने के लिए आ रही है, और तू इसे आलिंगन द्वारा सुखी नहीं कर रही है ? ॥२५३॥५७

विशाला—यह श्रीराधा निकुञ्जविद्या को आलिंगन करने के लिए अपनी भुजलताओं को बढ़ाकर प्रेममय विश्वास से कह रही है—'हे सखि भाण्डीरदेवत ! देख गोकुल में जाने का समय निकट आ गया है । हमारे साथ लीला-रंग मग दीप्त हो सम्पन्न कर, जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों ॥२५४

सन्निता—वृन्दे ! यह तुम्हारी बहन श्रीराधा को आलिंगन कर चुम्बन कर रही है ॥२५५॥

विशाला—(शङ्का साहित) वृन्दे ! निलंज्जा निकुञ्जविद्या मे तो मैं

पुरिसधम्मलुद्धदा । ज एसा राहावखोरुहे णहरङ्कुर अप्पेदि । [दृष्टा निर्लज्जया तव निकुञ्जविद्याया पुरुषधर्मलुब्धता । यदेसा राधावखोरुहे नल्लराकुरानर्पयति] ॥२५६॥

— वृन्दा—(सस्मितम्) सखि, मान्यसूयां कृपा । प्रेमोत्कर्षविलासोऽयम् ॥२५७॥

— (प्रविश्य सोत्कम्पा)
श्रीराधिका—(सभ्रू मङ्गम) वृन्दे, जुत्तं जुत्तं अम्हेसु तुम्ह जिम्ह-सणम् । [वृन्दे ! युक्त युक्तमस्मासु तव जिह्मत्वम्] ॥२५८॥

वृन्दा—(विहस्य) सखि ! न वेदि किं तवाकृतम् ॥२५९॥

मह्यौ—(सस्मितम्) वृन्दे ! विष्णुदा वे मोहिनीमुदा णिउल्लिखिञ्जा । [वृन्दे ! विनाता ते माहिनीभूता निकुञ्जविद्या] ॥२६०॥

(ततः प्रविशति सपुत्रा जटिला)

जटिला—बच्छा हिमण्णो ! पेक्ख पङ्गखे रङ्गिणी तह सण्डयिओ वि

पुरुषो के धर्म उदित हुए देखती हू । देखो, यह श्रीराधा के उरोजड्य मे नखाघात कर रही है ॥२५६॥

वृन्दा—(मुसकराकर) सखि ! बुरा मत मान, यह है प्रेमोत्कर्ष का विलास ॥२५७॥

[कपकपी सहित प्रवेश कर]

श्रीराधिका—(भ्रुकुट टेदी करते हुए) वृन्दे ! ठीक है, युक्त है तुम्हारी हमारे प्रति कुटिलता ॥२५८॥

वृन्दा—(हँसकर) सखि ! मैं तुम्हारा अभिप्राय नहीं समझी ॥२५९॥
ललिता-विशगच्छा—(मुसकराते हुए) वृन्दे ! जान लिया हमने मोहिनी स्वरूपा तुम्हारी निकुञ्जविद्या को ॥२६०॥

[तब वहा अभिमन्यु के साथ जटिला आती है]

जटिला—पुत्र अभिमन्यो ! देख, रङ्गिणी सदा सण्डविक मोर प्राण में बँटे हैं ॥२६१॥

सिंहण्डो चिट्ठो । ' वत्साभिमन्यो ! पश्य प्राङ्गणे रङ्गिणी तथा ताण्डवि
कोऽपि शिखण्डो तिष्ठति ।' ॥२६१॥

अभिमन्यु—अम्ब ! सत्तुं कहैसि । ज बिट्ठं मए गोपवमण्डलेन
सद्व ऐबको उजेव रामो गौडलें पड़हु । [अम्ब ! सत्तें केययंसि । गहण्ट
मया गोपवमण्डलेन सार्धमेक एव रामो गोकुल प्रविष्ट.] ॥२६२॥

जटिला—बच्छ । एसा बिसारिणी कावि सोरमधारा उजेव त साह-
सिअमिहुरे एत्थि कहैइ ॥ [वत्स ! एसा बिसारिणी कावि सोरमधारेव तव
साहितिकमियुनमल कययसि ।] ॥२६३॥

अभिमन्यु—अम्ब भवदोए निवेशो वि मए पडिबालिबो अङ्ग सवुत्तो
ता दाणि राहिअ महुरापुरे णइस्तम् । [अम्ब ! भगवत्या निदेशोऽपि मया
प्रतिपालितोऽद्य सवृत्तः । तदिदानी राधिका मयुरापुरे नेष्यामि] ॥२६४॥

जटिला—पुत्त । दिट्ठिया । एक्कोदुआर घर । ता दुआरभित्तिए
लग्गा भविअ सुहृन्, पत्थावम् । [पुत्र ! दिष्टया एकद्वार गृहम् । तदद्वार-
मित्या लग्ना भूत्वा यानुम प्रस्तावम्] (इति तथा स्थिती) ॥२६५॥

(प्रविश्य)

अभिमन्यु—मा ! सच कह रही हो, तभी तो मैंने देखा कि गौड़ी
व्या गोपालको के साथ अकेले श्रीवलराम हो आज गोकुल में आए थे ॥

जटिला—पुत्त ! यहा फेली हुई सीरम-धारा किसी एक साहितिक-
दम्पति की सूचना देती है ॥२६३॥

अभिमन्यु—‘मा ! आज मैंने भगवती पौर्णमासी को आज्ञा का पालन
किया है’ अब यहाँ मे राधा को मैं मयुरा से जाऊँगा ॥२६४॥

जटिला—पुत्त ! सीराम की बात है कि हमारे घर का एक ही दर-
वाजा है । हम दोवार के सहारे बैठकर इनक प्रस्ताव को सुनते हैं (यइ कह-
कर दोनों वहीं बैठ जाते हैं) । २६५॥

[भीष्टुष्ण (रमणीयेश में) प्रवेश करते हैं]

श्रीकृष्ण—(सस्मितम्) राधे ! मात्म कार्पोरतिदुर्लभेऽस्मिन्नर्थे प्रार्थनाम् ॥२६६॥

श्रीराधिका—(सनमस्तिम्) अइ देइ ! पसीद पसीद । [अयि देवि ! प्रसीद प्रसीद] ॥२६७॥

(गृह प्रविश्य)
अभिमन्यु—हूँ साहसिनि !—पञ्चस्र हत्याहृत्थि गहीदासि ।
[हूँ साहसिनि ! प्रत्यक्ष हस्ताहृत्ति गृहीतास्मि,] ॥२६८॥

श्रीकृष्ण—(स्वगतम्) हन्त ! त्वरादभिमन्युमभिज्ञाय कातरेय प्रिया यद्विद्वद्भूमौ निपपात ॥२६९॥

जटिला—(सविस्मयमगुल्या दर्शयन्ती) बच्छ ! लोकोत्तरेण लावण्यभरेण का ऐसा गौरीघर उज्जालेइ ? [वत्स ! लोकोत्तरेण लावण्यभरेण कैया गौरी गृहमुज्ज्वलयति ?] ॥२७०॥

अभिमन्यु—(विमृश्य) अम्ब ! देइ पसीद पसीद, त्ति भणिअ राहीए दण्डपणामो किबोत्थि । तां ऐसा दिव्वरुग महेतसहिंसो फुड पावुध्नुवा ।

श्रीकृष्ण—(मुसकान सहित) राधे ! इस दुर्लभ विषय की प्रार्थना मत करना ॥२६६॥

श्रीराधिका—(परिहास पूर्वक मन्द मुसकाते हुए) हे देवि ! प्रसन्न होवो, प्रसन्न होवो ॥२६७॥

अभिमन्यु—(घर में प्रवेश कर) हे साहसिनी ! आज तुम्हें हाथो हाथ पकड़ लिया है ॥२६८॥

श्रीकृष्ण—(अपने मन में) हाय ! आवाज से अभिमन्यु को पहिचान कर प्रियतमा व्याकुल होकर लाठी की तरह पृथ्वी पर गिर गई है ॥

जटिला—(विस्मयपूर्वक अंगुली से दिखाते हुए) पुत्र ! लोकातीत लावण्य प्रभा से गौरी-गृह को किसने उज्ज्वल कर रखा है ? ॥२७०॥

अभिमन्यु—(विवेचना कर) मा ! “देवि, प्रसीद, देवि प्रसीद” ऐसा कहते हुए श्रीराधा ही दण्डवत प्रणाम कर रही हैं अत स्पष्ट दास

[अम्ब ! देवि, प्रसीद प्रसीदेति अभित्वा राघया दण्डवत्प्रणामः कृतोऽस्ति । तदेया दिव्यरूपा महेषमहिषी स्फुट प्रादुर्भूता] ॥२७१॥

श्रीकृष्णः—(सहर्षमात्मगतम्) गौरीनेपथ्यं मम सुष्ठु पथ्यं बभूव ॥

सह्यो—(आनन्दम्) गोपुत्तम ! तुम्हारां अम्बेडिदेण अम्हेह आरा-
हिज्जन्ती गौरी पडिमावो णिक्कमिदा । [गोपोत्तम ! युष्माकमात्रेडिते-
नास्माभिराराध्यमाना गौरी प्रतिमातो निष्क्रान्ता] ॥२७३॥

अभिमन्युः—विशाहे ! किं दाणिं देईपादे सुबुल्लहं राहीए अम-
रपवम् ? [विशाखे ! किमिदानीं देवीपादे सुदुर्लभं राघयाम्ययितम् ?] ॥२७४॥

श्रीकृष्णः—वीराभिमन्यो ! दाइहां किमपि संकटं तवोपस्थितम् ।
सन्निहितमिदं पातते ॥२७५॥

अभिमन्युः—(सशङ्कम्) अमवधि ! केरिसं तम् ? [भगवति ! कीदृशं
तव] ॥२७६॥

श्रीकृष्णः—वृन्दे ! तवभिध्यक्तये सकुचन्ति मे घचनानि । ततस्त्वया
कथ्यताम् ॥२७७॥

रहा है कि दिव्यरूपधारिणी महेश-महिषि-गौरी आविर्भूत हो गई है ॥२७१॥

श्रीकृष्ण—(आनन्दपूर्वक मन में) गौरीवेश धारण मेरे लिये तो
यथेष्ट उपकार जनक हुआ है ॥२७२॥

ललित-विशाला (आनन्दपूर्वक) हे गोपोत्तम अभिमन्यो ! तुम
हमारे वारम्बार बुलाने पर गौरी पूजा करने आए हो, देखो, गौरी हमारी
पूजा से प्रसन्न होकर प्रणिमा से बाहर प्रत्यक्ष हो गई है ॥२७३॥

अभिमन्यु—विशाखे ! राधा ने देवी के चरणों में पड़कर किस दुर्लभ
वर की प्रार्थना की है ? ॥२७४॥

श्रीकृष्ण—वीर अभिमन्यो ! तुम्हारे ऊपर जो कोई दाहण सकट आ
उपस्थित हुआ है । उसकी निवृत्ति के लिए राधा प्रार्थना कर रही है ॥२७५॥

अभिमन्यु—(दाह्या सहित) भगवति ! संकट कैसा ? ॥२७६॥

श्रीकृष्ण—वृन्दे ! यह बात कहने में मेरी भागी संयुचित हो रही
है । इसलिए तुम ही यह दो ॥२७७॥

वृन्दा—मानिअभिमन्यो ! परश्वस्त्वं भोजेश्वरेण भैरवाय-सामुप-
हारोक्तं व्योऽसि ॥२७८॥

जटिला—(सर्वैकलव्यम्) देइ ! पसोद पसोद । जीअपुत्तीअं मं
करेहि । [देवि ! प्रसोद प्रसोद । जीवत्पुत्रिकां मां कुरु] ॥२७९॥

श्रीराधिका—(सहर्षमुत्थाय) देइ ! पसोद पसोद । [देवि ! प्रसोद
प्रसोद] ॥२८०॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा) राधे ! वर्णितमेव ते यदद्य बुनिवारमिदम् ॥

श्रीराधिका—(सकाकुमरं प्रणम्य) हन्त बल्लवीउलदेअदे ! किं पि
असक्कं दे णसि । ता तुए णाहेण अविप्पओअं पसादीकदुअ अणुगेणहीअदु
एसो जणो । ! हन्त बल्लवीकुलदेवते ! किमप्यशक्यं ते नास्ति । तत्त्वया
नाथेनाविप्रयोगं प्रसादी कृत्यानुगृह्यतामेव जनः] ॥२८२॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा)

वशीकृतास्मास्मि वशीन्द्रवुष्करैस्तवाद्य राधे नवभक्तिदामनिः ।

तद्विष्टसिद्धिं कृतगोकुलस्थितिः सदा भवाराधनतन्स्वमाप्स्यसि ॥२८३॥१५॥

वृन्दा—मान्यत्र अभिमन्यो ! कंसराज परमूं सन्ध्या समय तुन्हें
भैरव की बलि चढ़ावेगा ॥२७८॥

जटिला—(व्याकुलता पूर्वक) देवि ! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो, मेरा
पुत्र जीता रहे ॥२७९॥

श्रीराधिका—(आनन्दपूर्वक उठकर) देवि, प्रसन्न हो प्रसन्न हो ॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराकर) राधे ! तुमने जो आज प्रार्थना की है
वह संकट तो निवारण होगा नहीं ॥२८१॥

श्रीराधिका—(विनयपूर्वक प्रणाम करते हुए) हे गोपीकुलदेवते !
आप किसी विषय में असमर्थ नहीं है, अतएव मुझे स्वामी रहित न करके
मुझ दीनजन पर अनुग्रह कीजिए ॥२८२॥

श्रीकृष्ण—(मुसकराकर) हे राधे ! मैं मुनीवृन्द के द्वारा भी कभी
वशीभूत नहीं होती हूँ, किन्तु आज तुम्हारी नवभक्ति डोरी में बन्ध कर

अभिमन्यु — (सोच्छ्वासम्) अह ! भक्तजनवेच्छले । कदावि मह
 राहिमुही भए ण राहिआ कादन्वा । ता इह वसन्ती तुम एसा आराहेहु ।
 ! अयि भक्तजनवत्सले । कदापि मथुराभिमुखी मया न राधिका कतव्या ।
 तदिह वसन्ती त्वामेपाराधयतु ॥२८४॥

जटिला — (राघामालिङ्ग्य) अह गोउत्तणन्दिनि । रक्षिदम्हि ।
 [अयि गोकुलनन्दिनि । रक्षितास्मि] ॥२८५॥

धृन्दा — (अभिमन्युमवेक्ष्य)

विध्वंसयति हि पु सा साध्वी परिवादितायू सि ।

परवेवतात्र गौरी भावप्राहिण्यसौ वदतु ॥२८६॥५६॥

श्रीकृष्ण — धन्यामिमन्यो । कल्याणसाधिका ते राधिका । तदस्या
 नाविष्येन भवितव्य भवता ॥२८७॥

अभिमन्यु — देह ! राहोवेस कदुअ सुअर्सेण अम्बा मे परिहसिज्जइ ।

षष्ठीभूत हो गई हूँ । अत यदि तुम सदा के लिए गोकुल में ही रहकर
 सर्वदा मेरी आराधना करती रहोगी तो तभी मुझारा मनोवाञ्छित पूरण
 हो सकता है ॥२८३॥५८॥

अभिमन्यु — (उत्कण्ठा सहित) हे भक्तजन वत्सले । मैं कभी भी
 राधा को मथुरा नहीं ले जाऊँगा । आप सदा यहा उपस्थित रहो और यह
 राधा सदा आपकी आराधना करती रहेगी ॥२८४॥

जटिला — (श्रीराधा को आलिंगन कर) हे गोकुलनन्दिनि । तुमने
 बचा लिया हमें ॥२८५॥

धृन्दा — (अभिमन्यु की तरफ देखकर) जो पुरुष साध्वीपतिप्रता
 षा अपवाद करता है, वह अपवाद ही उस पुरुष का आयु को नष्ट कर
 देता है । परमदेवता भक्तिप्राहिणी गौरी यही कह रही हैं ॥२८६॥५६॥

श्रीकृष्ण — हे बहमापी अभिमन्यो । तुम्हें ग कल्याण साधन करने
 पाली है यह राधिका । इसलिये इसके प्रति कभी अविश्वास न करना ॥

अभिमन्यु — देवि ! सुवत्स राधावेश धारण कर मेरी माता से परि-

तं पेक्षित्व मच्छरी अणहिण्णो, लोओ मिच्छाहिसत्ति-उप्पादेदि । [देवि ! राधा-
वेशं कृत्वा सुवलेनाम्वा मम परिहस्यते । तत्प्रेक्ष्य मत्सरी अनभिज्ञोलोको मिथ्या-
भिसक्तिमुत्पादयति] ॥ २८८ ॥

ललिता—अहिमण्णो ! दिट्ठ्वा सअं जव्व वीसत्थोसि । [अभिमन्यो !
दिष्ट्या स्वयमेव विश्वस्तोऽसि] ॥ २८९ ॥

अभिमन्युः—अम्ब ! एहि मम घरं सन्वस्साइं महरापुणे रोडुं णिजुत्तं
जणं णिवारेम्ह । [अम्ब ! एहि मम गृहसर्वस्वानि मथुरापुणे नेतुं नियुक्तं
जनं निवारयामः] (इत्यम्बया सह हरिं प्रणम्य निष्क्रान्तः) ॥ २९० ॥

सख्योः—(राधामाश्लिष्य-सात्नम्-) हा प्रियसखि ! कथं पामरोंह
तुमं महरापुणे रोडुं णिज्झिदासि ? [हा प्रियसखि ! कथं पामरैस्त्वं मथुरा-
पुरे नेतुं निश्चितासि ?] ॥ २९१ ॥

(प्रविश्य) पोणंमासी—(आनन्दस्मितम्)

अङ्गराणेण गौराङ्गो हिरण्यद्युतिहारिणो ।

मामघ्रे रञ्जयत्येषा निकुञ्जकुलदेवता ॥ २९२ ॥ ६० ॥

हास करता हैं, उसे देखकर इस अनभिज्ञ मत्सर-परायणा ने-लोक में झूठा
कलङ्क फैला रखा है ॥ २८८ ॥

ललिता—अभिमन्यो ! बड़ा सोभाग्य है तुम स्वयं यहां चले आए
और तुम्हें विश्वास हो गया ॥ २८९ ॥

अभिमन्यु—मां ! आओ घर चलें, मैंने जिन लोगों को घर का
सामान मथुरा ले जाने के लिये नियुक्त किया था, उन्हें रोक दें । (यह
कह अभिमन्यु श्रीराधा को प्रणाम कर माता-जदिला के साथ बाहर चला
जाता है) ॥ २९० ॥

ललिता-विस्मया—(श्रीराधा को आश्लिष्य पूर्वक अश्रु प्रवाहित
करते हुए) हाय प्रिय सखी ! इस पामर ने तुम्हें मथुरा ले जाने का
निश्चय कर रखा था ॥ २९१ ॥

(पोणंमासी प्रवेश करती है)

पोणंमासी—(आनन्दपूर्वक मन्द मुसकाते हुए) स्वर्ण की चूति

श्रीकृष्णः— (प्रणम्य) भगवति ! वन्दे ॥२८८॥

पौर्णमासी—आशीशतम् । हन्त यशोदामातः ! दिष्टया भवताद्य सं-
वर्धितास्मि, यदहं राधिकाविच्छेदवेदनानामनभिज्ञीकृता ॥२८९॥

श्रीकृष्णः—उत्तीर्णा परमभयाद्भुव राधा

निर्वाद्याजनि भवती गताधिसूचिः ।

निःशङ्क प्रमदमितास्तथाद्य सद्यः

कर्तव्यं भगवति किं प्रियं तवास्ति ? ॥२९०॥ ६१॥

पौर्णमासी—(सानन्दात्म) गोकुलबन्धो ! बाढमवन्धजनमास्मि
कृता, तथापि किंचिदभ्ययंये ॥२९१॥

प्रययन्गुणवृन्दमापुरोमधिवृन्दावनकुञ्जकम्बरम् ।

सह राधिकाया भवान्सदा शुभमभ्यस्यतु केलिविघ्नमम् ॥२९२॥ ६२॥

को हरने वाले अङ्गराग से यह गीराङ्गी निकुञ्जदेवता के सामने हमें सुख
प्रदान कर रही है ॥२९२॥ ६०॥

श्रीकृष्ण—(धूमकच) भगवति ! तुम्हें प्रणाम है ॥२९३॥

पौर्णमासी—शत-शत आशीर्वाद । हे यशोदा माता ! भाग्यवश आज
मैं तुम्हारे द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुई हूँ, क्योंकि राधिका के विरह की वेदना
तुमने मुक्त दी है ॥२९४॥

श्रीकृष्ण—भगवति ! श्रीराधा परम भय से पार हो गई हैं, उनके
मन की वेदना दूर हो गई है एवं सखीगण भी आज निश्चित आनन्द को
प्राप्त हुई हैं । अब आपको मैं क्या सेवा करूँ, आज्ञा कोजिए ॥२९५॥ ६१॥

पौर्णमासी—(आनन्दात् प्रवाहित करते हुए) गोकुल बन्धो !
मुझे सायंक जीवन कर दिया है, फिर भी कुछ प्रार्थना करती हूँ ॥२९६॥

आप वृन्दावन कुंज कन्दरा में गुण समूह मापुरी का विस्तार करते
हूँ श्रीराधा के साथ सदा मङ्गलमय केलि-विलास करते रहो ॥२९७॥ ६२॥

जिध ।

सन्तःकन्दलितादरः श्रुतिपुटोमुद्धाटयन्सेवते

यस्ते गोकुलकेलिनिर्मलसुधासिन्धुत्यबिन्दूनपि ।

राधाभायविकामधो मधुरिमस्वाराज्ययस्याजन्तु-

साधोयान्मवदीयपादकमले प्रेमोमिकमोलतु ॥२६८॥६३॥

श्रीकृष्णः—(स्मित्वा) भगवति ! तयास्तु । तदेहि, गोदोहावसाने
मामप्रेक्ष्य चिन्तयिष्यन्ती पितरावविलम्ब्य गोकुलं प्रविश्य नन्दयामः ! (इति
निष्क्रान्तः) ॥२६९॥

(इति निष्क्रान्ता)

इति श्री श्रीविदग्धमाधव-नाटके गौरीतीर्थविहारो नाम सप्तमोऽङ्कः ॥७॥

ग्रन्थसमाप्तिः ।

राधाविलासबीताङ्गं चतुर्धण्डिकलाधारम् ।

विदग्धमाधवं साधु शीलयन्तु विचक्षणाः ॥१॥

और जो व्यक्ति अन्तःकरण में आदर सहित, कर्णपुटों को खोल कर
आपके गोकुल-केलि रूप निर्मल सुधा-सिन्धु की एक बूँद का भी सेवन करे,
वह श्रीराधामयी माधवी-मधुर-मधुरिमा रूप स्वराज्य को प्राप्त कराने
वाली हृदयर प्रेमवरञ्ज के द्वारा आपके चरण कमलों को प्राप्त करे यही
मेरी प्रार्थना है ॥२६८॥६३॥

श्रीकृष्ण—(मुसकरा कर) भगवति ! ऐसा ही हो । अब आओ,
गो-दोहन का समय हो गया है । मेरे माता-पिता मुझे न देखकर चिन्ता में
पड़ जायेंगे । अतः गोकुल चलकर उनको आनन्दित करें । (यह कहकर चले
जाते हैं) ॥२६९॥

[इसके बाद सब चले जाते हैं]

इस प्रकार श्रीश्यामदासानुवादित श्री श्रीविदग्धमाधव नाटक का
गौरीतीर्थ विहार नामक सातवाँ अङ्क समाप्त हुआ ॥७॥

ग्रन्थ समाप्ति

इस श्रीविदग्धमाधव नाटक के सम्पूर्ण अङ्कों में चौंसठ क्लामय

मन्दसिन्धुरबारेन्दु (१५८६) संख्ये संवत्सरे गते ।

विदग्धमाधवं नाम काटकं गोकुले कृतम् ॥२॥

शान्तधियः परमभागवताः समन्ताद् व्यपुञ्जमपि सद्गुणतां नयन्ति ।

दोषावलीमपरितापितया मृदूनि ज्योतीषि विष्णुपदभाञ्जि विभूषयन्ति ॥३॥

“समाप्तमिदं श्रीविदग्धमाधवनाटकम् ।

श्रीराधा-विलास वर्णित हुआ है । जो रस को जानने में बहुत महत् पुष्प है, वे इसका अनुशीलन करें ॥१॥

सम्बत् १५८६ में श्रीवृन्दाविन में इस श्रीविदग्धमाधवनाटक की रचना (श्रीपाद स्वर्गोत्थीनी द्वारा) की गई ॥२॥

दोषावली (अर्थात् अनेकों दोषयुक्त)—रात्रि में शीतलतागुण रहने से उसे मृदु ज्योतिर्मय तारागण आकाश में जैसे विभूषित करते हैं, उसी प्रकार शीतस्वभाव-सम्पत्ति सम्पन्न परम भागवतजन भी हर प्रकार से दोष-समूह-युक्त व्यक्ति को भी सद्गुणवान मानते हैं ॥३॥

इस प्रकार श्रीविदग्धमाधव नाटक का श्रीरामदास कृत अनुवाद वैशाख शुक्ला एकादशी सम्बत् २०३० रविवार को समाप्त हुआ ॥

